पुस्तक मिलने का पता:—
'गीता-विज्ञान' कार्यालय,
५० ए, हनुमान रोड़, नई दिल्ली,

पहली बार . २५००
दिसम्बर १९५७

दूसरी बार : ५०००
जुलाई १९५८

तीसरी बार १००००
मार्च १९[illegible]

मुद्रक
[illegible]

इस पुस्तक का इतना आदर होने में एक प्रधान कारण लोकनायक माधव श्रीहरि अणे महोदय की कृपा है, जिन्होंने बड़े परिश्रम से गंभीर विचार एवं विद्वत्तापूर्ण प्राक्कथन लिख कर इस पुस्तक का महत्त्व बढ़ाया। इसलिए उनके प्रति फिर से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

यदि कोई सज्जन इस पुस्तक को इसी रूप में अथवा अन्य भाषाओं में अनुवाद करके प्रकाशित करना चाहें, तो लेखक को पूर्व सूचना देकर कर सकते हैं।

बीकानेर, मिती फागुन बदी १० सं० १९९५ तारीख १३-२-३९ मंगलवार

विनीत—
रामगोपाल मोहता

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

"व्यवहार-दर्शन" की अधिक प्रतियाँ मंगाने पर उचित रियायत दी जाती है। इसमें डाक-खर्च भी बच जाता है, क्योंकि अधिक प्रतियाँ रेल से भेजी जा सकती हैं, जिसमें डाक की अपेक्षा खर्च कम पड़ता है। कुछ मित्र मिल कर पुस्तकें मंगावें तो इस रियायत से लाभ उठा सकते हैं।

इसी प्रकार 'गीता-विज्ञान' की रियायत से भी लाभ उठाया जा सकता है।

पुस्तक-विक्रेताओं एवं एजेण्टों को भी यह रियायत दी जाती है।

enjoyed the blessings and boons of both लक्ष्मी and सरस्वती

It is needless for me to say anything relating to the importance of the study of Bhagwatgita, the immortal celestial song of Mahabharat It has been the one book of solace to every Indian who turned to it for help and guidance It has never failed one who approached it for light whenever the frail human intellectual vision is blurred or completely obscured by the clouds of doubt and distrust A careful and conscientious study of Bhagwatgita is simply indispensable to the person who aspires to understand the principles of philosophy preached and practised by the Vedic Sages and their disciples for the last four thousand years and more.

This gem serene of Indian philosophy attracted the notice of the Western orientalists soon after the West came in close contact with the East. It is translated in almost all the civilised or even semi-civilised languages of the world Probably Bhagwatgita will rank only next to the Holy Bible in its multiform linguistic appearances Missionary zeal has clothed the Bible even with the dress of the barbarian tongues which can have no place whatsoever in the concourse of literary languages of the world. The Gita has now a recognized place in the study of philosophy in a number of Western and American seats of learning It has appealed equally to the intellect and imagination of those who have taken pains to study it. Gita classes opened by some Hindu Sanskrit scholars even in the very heart of London were attracting large number of students from all classes of people Thus the message of the Lord contained in the Gita has been exercising its spiritualising influence among those who are pre-eminently engaged in the pursuit of what [illegible] describe as Asuri-Sampat and who were thus [illegible] plunging themselves and also drawing with them [illegible] headlong into the [illegible] Redemption [illegible] of humanity from the path [illegible] those who have been blessed with [illegible] the gates of the heaven [illegible] and Universal brotherhood [illegible] Bhagwatgita every [illegible]

Roughly the numerous commentaries, glosses and explanatory notes on Bhagwatgita can be classified under three categories. Some of them stand for the path of renunciation संन्यास Some for the path of devotion भक्तिमार्ग. Only a few advocate the gospel of action कर्ममार्ग. The Karmayogashastra better konwn as गीता-रहस्य by the late Lokmanya Bal Gangadhar Tilak is the most learned commentary that was ever written on Bhagwatgita to elucidate the principles of Action which are preached by the Lord in his discourse with Arjun. He had taken in that great work a synthetic view of all the chapters of Bhagwatgita and proved that the Lord's word was delivered to Arjun to rouse in him the sense of duty, spirit of action and not the spirit of renunciation. Arjun was suddenly overpowered with the spirit of renunciation at the sight of the army of the Kauravas and the generals and warriors who were moving prominently there. The great Lord who was then his charioteer began his discourse by censuring Arjun for having given himself up to this spirit of despair and despondency, and he ministered a very severe rebuke to him by sarcastically characterising his speech as प्रज्ञावाद. In fact, the whole argument which is developed with great skill in 18 Chapters, subsequently, has this condemnation of the spirit of renunciation as its starting point. Lord Shri Krishna says in the 18th Chapter of the गीता that the popular notion regarding *Sanyas* or renunciation is entirely erroneous Real renunciation does not at all imply or involve cessation of activities which tend to the moral and spiritual uplift of man

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु ।

Gita stands for निष्कामकर्म as distinguished from काम्यकर्म Properly speaking काम्यकर्म ought to mean only the activities which are done with a sordid or sinister or selfish motive. The Lord Shri Krishna has been most explicit in insisting on the due and proper performance of duty prescribed to every [illegible]. The following verses lay down the doctrine of [illegible] [illegible] [illegible] most unambiguous and unequivocal terms —

Through your grace, Oh Achyuta! the unerring teacher of t[h]
Universe, my doubt is dispelled, my memory is refreshed and I sta[nd]
entirely rid of indecision. I will carry out your behest.

It is impossible to conceive that the discourse which resulted [in]
preparing the Great Hero to take his place of command at the hea[d]
of the army to give his adversaries a decisive fight, can have an[y]
other message except one of action, for any body else.

Various problems such as attachment (आसक्ति), non-attachme[nt]
(अनासक्ति), renouncement of fruit of *Karma* (कर्मफलत्याग), dedicatio[n]
to Deity (ब्रह्मार्पण) are frequently misunderstood and even misinter-
preted by the readers of Bhagwatgita Those who have not the tim[e]
and the patience to pursue the subject in the monumental work o[f]
Lokmanya Tilk ' Gita-Rahasya ' will find the present गीता क[ा]
व्यवहार-दर्शन of great help to them to properly understand the practica[l]
limits of these conditions and the precise connotation of thes[e]
conceptions.

Similarly, the author has taken great pains in explaining in
homely language entirely free from the technicalities of the Vedant[a]
Shastra, the characteristic and essential features of the आत्मौपम्य
condition which registers the high watermark of the spiritual evolu-
tion of any person according to Bhagwan Shri Krishna. The follow-
ing verses in Chapter VI give us a clear conception of this ideal

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितो यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

गीता का व्यवहार-दर्शन

उपोद्घात

सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति सभी देहधारियों का ध्येय है। प्राणिमात्र की नाना प्रकार की चेष्टाओं का अन्तिम लक्ष्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होता है। पशु-पक्षियों में साधारणतया विचार-शक्ति का विकास नहीं होता, अतः वे केवल अपने शरीरों की तात्कालिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए ही उद्यम करते रहते हैं, और उस उद्यम में सफलता होगी कि नहीं, अथवा उसका विपरीत परिणाम तो नहीं हो जायगा अर्थात् उससे सुख के बदले उलटा दुःख तो न हो जायगा, इत्यादि बातों पर विचार करने की उनमें योग्यता नहीं होती।

मनुष्य (स्त्री-पुरुष) में विचार-शक्ति का विकास होता है, अतः वह पशु-पक्षियों की तरह अन्धाधुन्ध उद्यम नहीं करता, किन्तु विवेक और दूरदर्शिता से काम लेता है। वह केवल अपने शरीर की तात्कालिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति से ही सन्तोष नहीं करता, किन्तु शरीर के अतिरिक्त मानसिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए भी प्रयत्न करता रहता है, तथा इस लोक के भविष्य एवं परलोक पर दृष्टि रखता हुआ सुख-दुःख की मात्रा और परिमाण का भी विचार करता है। वह अपने शरीर के अतिरिक्त अपने कुटुम्ब आदि के सुखों के लिए भी उद्यम करता है।

मनुष्यों में भी विचार-शक्ति के विकास की न्यूनाधिकता के अनुसार भेद हुए होते हैं और अपनी योग्यतानुसार दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए सब कोई निरन्तर उद्योग करते रहते हैं। कई लोग तो विशेषतया अपने ही शरीर और मन की इह-लौकिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए उद्योग करते हैं; कई अपने और अपने कुटुम्बियों एवं सम्बन्धियों आदि की इहलौकिक दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिए

प्रयत्नशील रहते हैं; और कई भावुक लोग इहलौकिक सुखों को तुच्छ मान कर पारलौकिक सुखों के लिए—इस देह के सुखों की अवहेलना करके—अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करते हैं, अर्थात् मरने के बाद दूसरे जन्म में भौतिक सुखों की प्राप्ति, अथवा सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वर्गादि सुख भोगने, अथवा मुक्ति प्राप्त करने की कामना से जप, तप, पूजा, पाठ, व्रत, उपवास, तीर्थाटन, दान, पुण्य, हवन, अनुष्ठान आदि अनेक प्रकार के कर्मकाण्डों में लगे रहते हैं और उनके लिए आवश्यक विधान किये हुए कठिन नियम पालन करने में हठपूर्वक सर्दी, गरमी, भूख, प्यास आदि शारीरिक पीड़ाएँ, एवं राग, द्वेष, चिन्ता, भय, क्रोध आदि मानसिक कष्ट सहन करते हैं। परन्तु जिनकी बुद्धि अधिक विकसित हो जाती है, उनको दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के उपरोक्त प्रयत्न निरर्थक प्रतीत होते हैं, क्योंकि वास्तव में न तो उनसे दुःखों की निवृत्ति होती है और न निरङ्कुश*, निरतिशय*, सच्चे एवं अक्षय सुख की प्राप्ति ही। वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि शारीरिक एवं मानसिक सुख-दुःखादि द्वन्द्व (जोड़े) सब सापेक्ष एवं अन्योन्याश्रित (Relative and inter dependent) होते हैं, *अतः जितने अधिक सुख के साधन किये जाते हैं, उतना* ही अधिक दुःख साथ ही उत्पन्न हो जाता है। प्रथम तो उन सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न में पहले ही से बहुत से कष्ट उठाने पड़ते हैं; फिर सुख प्राप्त होने पर उसके नाश होने का भय बना रहता है और साथ ही दूसरों के अधिक सुखों को देख-देख कर जलन होती रहती है; और सुख-भोग के पीछे, उसके परिणाम में दुःख अवश्य होता है। अतः वे सोचते हैं कि जिन स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति के साथ दुःख निरन्तर लगा ही रहता है, वे दुःख-मिश्रित सुख, वास्तविक सुख कैसे हो सकते हैं, और मरने के बाद की जिस मुक्ति की प्राप्ति के लिए जीवन-काल में सारी आयु नाना प्रकार के नियमों और बन्धनों में बितानी पड़े वह सच्ची मुक्ति कैसे हो सकती है? सच्चा सुख अथवा मुक्ति तो वह है कि जिसके लिए मरने की प्रतीक्षा न करनी पड़े, किन्तु जिसका अनुभव इसी शरीर में तुरन्त हो जाय, अर्थात् जीवन-काल ही में सब प्रकार के दुःखों और बन्धनों की निवृत्ति हो जाय। इसलिए वे लोग दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के उपरोक्त प्रयत्न निष्फल समझ कर, दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और निरङ्कुश, निरतिशय, सच्चे एवं अक्षय सुख की प्राप्ति किस तरह हो सकती है, इसका अचूक उपाय ढूँढ़ निकालने के लिए, सुख-दुःख के यथार्थ स्वरूप, उनके मूल कारण और उनके नाना प्रकार के सम्बन्ध एवं प्रभाव आदि के विषय में गहरा अन्वेषण करते हैं। इस

*जिस सुख में पराधीनता अथवा परावलम्बन न हो, वह निरङ्कुश सुख कहलाता है, और जिस सुख से अधिक कोई दूसरा सुख न हो, वह निरतिशय सुख कहा जाता है।

अन्वेषण के प्रसङ्ग में जब सारा जगत् ही सुख-दुःखमय प्रतीत होता है अर्थात् अपनी तरह सारी सृष्टि सुख-दुःख से प्रसित दीखती है, तो यह जानने की उत्कण्ठा सहज ही उत्पन्न होती है कि यह जगत् क्या है ? मैं क्या हूँ ? जगत् से मेरा क्या सम्बन्ध है ? यह जगत् क्यों और किस तरह होता है, और इसका सञ्चालन कौन और किस प्रकार करता है ? इसमें नाना प्रकार के सुख-दुःख क्यों होते हैं ? इनके प्रभाव से रहित कोई हो सकता है कि नहीं, और यदि हो सकता है तो किस तरह ? इत्यादि। जब इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है तब इस विषय में सूक्ष्म—तात्त्विक विवेचन करने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि किसी भी विषय के तात्त्विक विवेचन बिना उसकी असलियत का पता नहीं लगता और असलियत का पता लगे बिना उसका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। अतः बुद्धिमान लोग अपने तथा जगत् के अस्तित्व और उससे सम्बन्धित विषयों पर तात्त्विक विचार करते हैं। इस तरह के सूक्ष्म तात्त्विक विचारों को दर्शन शास्त्र (Philosophy) कहते हैं; और उन तात्त्विक विचारों के आधार पर आचरण करने का विवेचन व्यवहार-दर्शन (Practical Philosophy) है।

प्राचीन काल के आर्य लोगों ने दार्शनिक विषय में सबसे अधिक अनुसन्धान किया था और बुद्धि के तारतम्य के अनुसार उन लोगों ने विविध प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त निश्चित किये थे, जिनके बहुत से दर्शनशास्त्र बन गये थे। इस विषय में उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए वे लोग इस अन्तिम निश्चय पर पहुँचे कि नानाभावापन्न प्रतीत होनेवाला यह जगत् वस्तुतः एक ही सत्य, सनातन आत्मा के अनेक रूपों का बनाव है, अर्थात् एक ही सच्चिदानन्द आत्मा अपनी इच्छा से अनेक भावों में व्यक्त होकर जगत्-रूप होता है (कठोपनिषद् वल्ली ४ मन्त्र ६-१०; छान्दोग्य उप० प्रपाठक ६ खण्ड २); परन्तु उसका यह नाना रूपों का बनाव अर्थात् जगत् का नानात्व, निरन्तर परिवर्तनशील तथा उत्पत्ति-नाशवान् होने के कारण असत् यानी कल्पित है और उन नाना रूपों अर्थात् अनेकताओं के बनाव के अन्दर जो एकत्व-भाव है, वही सच्चिदानन्द सनातन आत्म-तत्त्व है और वह आत्म-तत्त्व सर्वव्यापक एवं सदा इकसार स्थायी रहने के कारण सत् है (ईशोपनिषद् मन्त्र ४-८; कठोपनिषद् वल्ली २-३)। साथ ही वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि इस भिन्नता के कल्पित बनाव को सच्चा मानने की भूल में पड़ कर, दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार युक्त तथा दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से राग-द्वेषपूर्वक, जगत् के व्यवहार करने से नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं (कठोपनिषद् वल्ली ४ मन्त्र १०-११); परन्तु इस अनेकता के बनाव को एक ही सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, सनातन

पारलौकिक कल्याण अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों, अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मकाण्ड से होने का विश्वास था और वे कर्मकाण्ड उस समय की परिस्थिति के अनुकूल भी थे। अतः उन आधिभौतिक कर्मकाण्डों का रिवाज़ इस देश में अधिक था; पर इन कर्मों में देवताओं को प्रसन्न करने का आधिदैविक भाव भी रहता था, और साथ ही साथ उन देवताओं को एक ही सर्वात्मा = परमात्मा की अनेक शक्तियां मानने और उनकी कृपा से समष्टि-हित के साथ-साथ अपने व्यष्टि-हित-साधन होने, तथा इन लोक-हितकर कार्यों से अन्तःकरण शुद्ध होकर व्यष्टि-समष्टि की एकता के अनुभव-रूपी आत्मज्ञान प्राप्त करने का आध्यात्मिक भाव भी रहता था। उपनिषदों में वैदिक कर्मकाण्ड के उक्त आध्यात्मिक भाव का खुलासा करके उनकी आध्यात्मिकता स्पष्ट कर दी गई है (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० १ ब्रा० १–२)।

उपरोक्त कर्मकाण्ड के अतिरिक्त लोगों के साधारण व्यवहार भी प्रायः आध्यात्मिक विचारों के आधार पर सबके साथ एकता के साम्य-भाव से किये जाने के वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में बहुतायत से पाये जाते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि जड़ पदार्थों को चेतन प्राणियों के साथ एकता, पशु-पक्षियों की मनुष्यों के साथ एकता, मनुष्यों की परस्पर तथा देवताओं के साथ एकता, पुरुषों की स्त्रियों के साथ एकता और ऊँच की नीच के साथ एकता के भावयुक्त व्यवहारों के अगणित आध्यात्मिक वर्णन उपनिषदों, पुराणों और इतिहासों में भरे पड़े हैं।

उस समय विश्व की एकता के भाव इस देश के लोगों में यहां तक बढ़े हुए थे कि वराह, नृसिंह, हयग्रीव, मत्स्य, कच्छ, हंस, शेष आदि पशु-पक्षियों के रूप में भी ईश्वरावतार होना माना जाता था।

यद्यपि उस ज़माने में आर्य लोग, व्यवहार में आध्यात्मिकता*, आधिदैविकता* और आधिभौतिकता*—तीनों का यथायोग्य उपयोग करते हुए उन सबको यथोचित महत्त्व देते थे, परन्तु आध्यात्मिकता की अपेक्षा आधिदैविकता और आधिभौतिकता को विशेष महत्त्व नहीं देते थे, अर्थात् आधिदैविक और आधिभौतिक गुणों के लिए आध्यात्मिक भावों की अवहेलना कदापि नहीं करते थे। यद्यपि वे स्थूल शरीर और उसकी पुष्टि के साधन—भोग्य पदार्थों—एवं इहलौकिक तथा पारलौकिक मानसिक सुखों के साधनों को निरर्थक समझ कर उनसे घृणा नहीं

* आधिभौतिकता, आधिदैविकता और आध्यात्मिकता का स्पष्टीकरण आगे के प्रकरण में देखिए।

करते थे—इतना ही नहीं, किन्तु उस समय यह देश भौतिक उन्नति में बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। प्राचीन ग्रन्थों में भौतिक उन्नति के वर्णन वर्तमान में चकाचौंध उत्पन्न करने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों से टक्कर लेते हैं, तथापि आध्यात्मिक-भाव से शून्य भौतिक उन्नति उस समय बहुत ही गर्हित और विनाशकारी आसुरी सम्पत्ति समझी जाती थी; और जब कोई शरीर तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाला अथवा मानसिक व्यवहार अथवा इहलौकिक या पारलौकिक सुखों के साधन की कोई क्रिया, आध्यात्मिकता के विरुद्ध पड़ती थी, तो शरीर या शरीरसम्बन्धी पदार्थों की तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक सुखों की कोई परवाह नहीं की जाती थी। इतना ही नहीं किन्तु आध्यात्मिकता से रहित केवल आधिभौतिक सुख एवं ऐश्वर्य में ही लीन रहने वाले लोग असुर कहलाते थे। आत्मिक उन्नति के लिए किसी के शरीर का चला जाना, अथवा किसी को शारीरिक एवं मानसिक कष्ट होना, या लौकिक दृष्टि से किसी व्यक्ति का पतन हो जाना, अथवा पारलौकिक सुखों में बाधा पहुँचना आदि बातों को कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जाता था। सारांश यह कि उस समय यहाँ के लोग स्थूल शरीरों के व्यवहारों को इतना महत्त्व नहीं देते थे जितना कि इस समय के लोग देते हैं। वे कर्त्ता के भाव और कर्मों से होने वाले वास्तविक एवं सार्वजनिक हिताहित के विचार को अधिक महत्त्व देते थे, और आध्यात्मिक भाव से किये हुए कर्म, यदि साधारण लोगों की दृष्टि में कभी बुरे भी प्रतीत होते थे, तो भी सूक्ष्मदर्शी महात्मा लोग उन कर्मों की नैतिकता जनता को समझा दिया करते थे।

उपरोक्त ब्रह्मविद्या के आधार पर स्थापित आर्य-संस्कृति उस समय, प्रतिक्षण परिवर्तनशील स्थूल शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले देश-भेद, काल-भेद, जाति-भेद, वर्ण-भेद, सम्प्रदाय-भेद आदि से उत्पन्न होने वाली उपाधियों को इतना महत्त्व नहीं देती थी जितना कि वर्तमान में दिया जाता है; किन्तु जिसकी जैसी योग्यता होती थी, उसके साथ वैसा ही सर्वभूतात्मैक्य-भावयुक्त समता का व्यवहार करना आर्य-संस्कृति का सर्वोपरि सिद्धान्त था; और जो कोई इस सिद्धान्त के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि से आचरण करता, वही आर्य (श्रेष्ठ) माना जाता था। इस ब्रह्मविद्या अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त के प्रसाद ही से, आर्य-संस्कृति के बाह्य-रूप (कर्मकाण्ड आदि) की अवहेलना करने वाले अनार्य लोग भी, आध्यात्मिक सिद्धान्तानुसार आचरण करने पर आर्यों में सम्मिलित हो जाते थे। आसुरी कर्म करने वाले दैत्यों से साधारणतया परहेज रखने पर भी दैत्य-कुलोत्पन्न भक्त प्रह्लाद, ब्रह्म-विद्या का अवलम्बन करने से भक्त-शिरोमणि माना जाकर अब तक पूजा जाता है, और दैत्यराज बलि के द्वार पर विष्णु भगवान के पहरा देने का विश्वास अब भी प्रचलित है।

गई और फिर वह भारत-सम्राट् महाराजा शान्तनु की पटरानी हुई और उसकी सन्तान, नियोग से उत्पन्न, धृतराष्ट्र एवं पाण्डु तथा उनके पुत्र, धर्म के अवतार युधिष्ठिर आदि कौरव-पाण्डव, चन्द्रवंशी क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वगुण-सम्पन्न चक्रवर्ती सम्राट् हुए, जिनकी महिमा विश्व में अब तक गाई जाती है। माता का स्थान पिता से प्रथम और अधिक सम्माननीय माना जाता था। भगवान् रामचन्द्र जी का "कौशल्यानन्दन", कृष्ण महाराज का "यशोदानन्दन" व "देवकीनन्दन", इसी तरह पाण्डवों का "कुन्तीपुत्र", "कौन्तेय" या "पार्थ" आदि माताओं के नाम से सम्बोधन करने में विशेष गौरव समझा जाता था।

× × ×

यद्यपि साधारण जनता की स्थूल बुद्धि होने के कारण, उसके लिए समय की परिस्थिति के अनुसार, सूक्ष्म तत्त्ववेत्ताओं द्वारा बाँधी हुई मर्यादाओं के अनुसार चलना ही श्रेष्ठ माना जाता था, परन्तु उक्त सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता लोग स्वयं उपरोक्त सिद्धान्तानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते थे, अर्थात् वे किसी बँधे हुए नियम या मर्यादा पर सदा-सर्वदा कट्टरता रखना आवश्यक नहीं समझते थे, न किसी रूढ़ि के गुलाम ही होते थे, किन्तु आध्यात्मिक (समत्व) बुद्धि के उपयोग से, देश-काल आदि की परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार, धार्मिक एवं सामाजिक नियमों और विधि-निषेध की मर्यादाओं में परिवर्तन करते रहते थे। इसके प्रमाण-स्वरूप धर्मशास्त्र की अनेक स्मृतियां समय-समय पर बनी हुई प्रस्तुत हैं। सामाजिक नियमों और विधि-निषेध की मर्यादाओं में आवश्यकतानुसार सुधार करने वाले तत्त्वज्ञानी लोग विशेष आदरणीय होते थे। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी, परमात्मा के केवल बारह कला के अवतार माने गये, परन्तु प्रचलित रीति-रिवाज़ों, कर्मकाण्ड के बन्धनों और अन्धविश्वासों एवं पुरानी अनुपयुक्त मर्यादाओं को ठुकरा कर "सर्वधर्मान् परित्यज्य" की महान् क्रांतिकारी एवं स्पष्ट घोषणा करके 'बुद्धियोग' का महत्त्वपूर्ण उपदेश देने वाले महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को परमात्मा का सोलह-कला-सम्पन्न पूर्ण अवतार माना गया। क्षत्रिय वंश के विघातक क्रोधमूर्ति भगवान् परशुराम, वैदिक कर्मकाण्ड का खण्डन करने वाले अनीश्वरवादी भगवान् कपिल, बुद्ध एवं ऋषभदेव, परमात्मा के अवतार माने गये; और परमाणुवाद के मानने वाले महर्षि गौतम और कणाद के न्याय और वैशेषिक दर्शन सब दर्शनों के पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं और सबसे पहले इनका अध्ययन आवश्यक समझा जाता है। नास्तिक मत के आदि-प्रवर्तक देवगुरु बृहस्पति बुद्धि के देवता माने गये तथा उनके सिद्धान्तों की दर्शनों में गणना की गई।

आर्य-संस्कृति के सिद्धान्तानुसार भावाभावात्मक जगत्-प्रपञ्च एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के कारण जगत् के सभी पदार्थ आपस में एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य हैं और व्यष्टि-जीवन समष्टि जीवन के लिए है (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० ५), इसलिए प्राचीन काल में आर्यों के लौकिक व्यवहारों की व्यवस्थाएँ इस आधार पर होती थीं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार एक दूसरे की सेवा करता हुआ दूसरों के हित के साथ अपना हित साधन करे; अर्थात् निम्न श्रेणी के आत्मविकास वाले लोग अपने व्यक्तित्व के भाव और स्वार्थों को अपने कुटुम्ब और उनके स्वार्थों के अन्तर्गत समझें; उसके आगे की श्रेणी में, कौटुम्बिक एकता-प्राप्त लोग, अपने कौटुम्बिक भावों और स्वार्थों को समाज और उसके हित में जोड़ें; उसके आगे की श्रेणी में सामाजिक एकता-प्राप्त लोग, अपने सामाजिक भावों और स्वार्थों को देश-हित में जोड़ें; और इसी तरह सबसे आगे बढ़े हुए आत्मविकास वाले, देश से एकता-प्राप्त लोग, विश्व के साथ एकता में जुड़ें और "वसुधैव कुटुम्बकम्" के भाव से सबके हित में लगे रहें। इस तरह क्रमोन्नति करते हुए वे लोग दूसरों के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए यथायोग्य जगत् के व्यवहार करते थे।

उस समय ब्राह्मण-वर्ग के लोग, आत्म-संयमपूर्वक ज्ञान और विज्ञान की उन्नति करने की लोक-सेवा में सदा तत्पर रहते थे। क्षत्रिय-वर्ग अर्थात् राजा लोगों का जीवन व्यक्तिगत ऐश-आराम ही में न बीत कर प्रजा के साथ अपनी एकता के प्रेम-भावयुक्त, उसकी रक्षा करने और उसको सुख-सम्पन्न रखने के प्रयत्न-रूपी लोक-सेवा में व्यतीत होता था। वैश्य-वर्ग के लोग कृषि, वाणिज्य, पशु-पालन आदि से लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने की सेवा में लगे रहते थे। इसी तरह शूद्र-वर्ग के लोग कला-कौशल एवं अन्य प्रकार के शारीरिक श्रम से सबके साथ प्रेमयुक्त लोक-सेवा करते थे। बाल्यावस्था अर्थात् जीवन के प्रथम भाग में सभी वर्गों के लोग ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत में रह कर शारीरिक एवं मानसिक बल सम्पादन करते हुए अपनी-अपनी योग्यतानुसार विद्याध्ययन करते थे; जीवन के द्वितीय भाग-युवावस्था में गृहस्थाश्रम, अर्थात् गार्हस्थ्य में रहकर, चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार [illegible] के लौकिक व्यवहार करते थे, जीवन के तृतीय भाग—प्रौढ़ा-[illegible] उत्तराधिकारियों को गार्हस्थ्य के व्यवहारों में प्रवेश करा कर, [illegible] विस्तृत करके वानप्रस्थाश्रम में समाज-सेवा के कार्यों में विशेष रूप से [illegible] थे; और जीवन के अन्तिम भाग—वृद्धावस्था में गार्हस्थ्य के सभी कर्तव्य, [illegible] और स्वत्व, अपने उत्तराधिकारियों को पूर्णतया सौंप, गार्हस्थ्य और समाज

के साथ सम्बन्ध की सङ्कुचित परिधि के बाहर निकल कर, संन्यासाश्रम में प्रवेश करके एवं सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्मोन्नति करते हुए जगत् के साथ अपनी एकता के प्रेम-आप्लुत, अपने जीवन में प्राप्त किये हुए अनुभवों से तथा नीति और ज्ञान के सदुपदेशों से सबके हित करने में लग जाते थे। इस तरह सब कोई अपने-अपने धर्मादेश के अनुसार अपना-अपना कर्तव्य पालन करते हुए, एक दूसरे से सहयोग रखते तथा एक दूसरे के सहायक रहते हुए अपना जीवन निर्वाह करते थे, जिससे यह देश सब तरह से उन्नत और सुख-समृद्धि से परिपूर्ण था।

वर्तमान काल में इन सब बातों का विध्वंस हो जाने से, तथा सबके प्रायः आध्यात्मिक विचारों से शून्य हो जाने से, लोगों की दशा बहुत ही भयानक रूप से पतित होगई है। इसलिए वर्तमान दशा ही को दृष्टि में रखते हुए, तथा आध्यात्मिक विचार के बिना, केवल भौतिक दृष्टि को ही प्रधानता देकर आलोचना करने से प्राचीन समय के, तात्कालिक परिस्थिति के अनुकूल आध्यात्मिक दृष्टि से किये हुए आर्य लोगों के व्यवहार, वर्तमान के लोगों की समझ में न आवें अथवा बुरे प्रतीत हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यहां पर यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि आर्य-शास्त्रों (उपनिषद्, पुराण, इतिहास आदि) में, स्थूल बुद्धि के लोगों को सूक्ष्म आध्यात्मिक विचार एवं तत्व समझाने के लिए, अनेक स्थलों पर उनके स्थूल रूपक बांध कर विविध विषयोपयोगी आख्यायिकाओं द्वारा, प्रतिपादित विषय की सुगम व्याख्या की गई है; और अनेक स्थलों पर आत्मज्ञान-प्राप्ति के साधन—धर्म एवं नीति के सिद्धान्त साधारण लोगों को समझाने के लिए विविध विषयोपयोगी कथाएं और दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे वे लोग उन विषयों को सुगमता से समझ कर अपना ऐहलौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक श्रेय साधन कर सकें। उन रूपकों, आख्यायिकाओं, कथाओं और दृष्टान्तों में बहुत सी ऐतिहासिक घटनाएं भी हैं, परन्तु उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उनमें वर्णित सब घटनाएं ज्यों की त्यों उसी क्रम से घटी हों, क्योंकि उनका उद्देश्य किसी घटना विशेष अथवा व्यक्ति का इतिहास वर्णन करने का नहीं है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

और सिद्धान्तों को समझाने के लिए जिस तरह के रूपक, आख्यायिकाएँ, कथाएँ और दृष्टान्त आवश्यक प्रतीत हुए, वैसे ही दिये गये हैं। उस समय गद्य की अपेक्षा पद्य का अधिक प्रचार था, इसलिए प्रायः सभी वर्णन पद्य में किये गये हैं, जिनमें कवियों की रुचियों के अनुसार शृङ्गार आदि रसों का समावेश हुआ है, और उपमा, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार भरे हुए हैं; तथा जनता की रुचि अच्छे आचरणों में बढ़ाने और बुरे कर्मों से हटाने के लिए रोचक एवं भयानक भावों से भरी हुई कथाएँ बहुतायत से कही हुई हैं। इनके अतिरिक्त इन ग्रन्थों के बहुत पुराने होने के कारण इतने दीर्घ काल में, स्वार्थी लोगों ने अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए कहीं २ इनमें अनेक प्रकार के क्षेपक भी मिला दिये हैं। इन कारणों से उक्त शास्त्रीय कथाओं का वास्तविक मर्म समझना बहुत ही कठिन हो गया है। परन्तु यदि उनके असली उद्देश्य पर लक्ष्य रख कर, वर्णनों के पूर्वापर के, अर्थात् पहले कही हुई बात का पीछे कही हुई बात के सम्बन्धों पर ध्यान रखते हुए, कवियों की अतिशयोक्तियों और अर्थवाद वाली रोचक-भयानक वचनों और क्षेपकों अर्थात् पीछे से मिलाई हुई बातों को अलग करके, उन पर आध्यात्मिक दृष्टि से तात्त्विक विचार किया जाय तो उनका असली तात्पर्य समझ में आ सकता है, और आर्य-संस्कृति का सच्चा स्वरूप सहज ही प्रकट हो सकता है, अर्थात् आर्य लोगों के आध्यात्मिक विचारों के आधार पर जगत् के व्यवहार करने की व्यवस्था अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है। नीचे दिये हुए थोड़े से उदाहरणों से उपरोक्त कथन की सार्थकता सिद्ध होगी:—

(१) जगत् की सूक्ष्म अवस्था, अर्थात् सूक्ष्म सृष्टि के रहस्य को स्थूल रूप से समझाने के सम्बन्ध में, चतुर्विध अन्तःकरण अर्थात् मन को भय, शोक आदि विकारों सहित चतुर्मुख ब्रह्मा का, और मन की रचना माया (जगत्-प्रपञ्च) को ब्रह्मा की कन्या का रूप देकर, मन की माया में आसक्ति को ब्रह्मा का अपनी पुत्री पर आसक्त होने के घृणात्मक रूपक देने का प्रयोजन, माया से मन की आसक्ति छुड़ाकर उसे आत्मा में लगाने का है।

(२) एक तत्त्व की देखने, सुनने, खाने, पीने, बोलने, चलने, काम करने, रोकने, छोड़ने, विचारने, स्मरण करने, संकल्प करने आदि व्यवहारों की अनेक प्रकार की व्यष्टि शक्तियों के समष्टि (संयुक्त) भाव, जिनसे जगत् का संचालन होता है और जो सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, इन्द्र, वरुण आदि नामों से देवता कहे जाते हैं उनके लिए पृथक्-पृथक् तदनुकूल रूप कल्पित किये, तथा प्रेम, दया, शील, सन्तोष, सत्य, क्षमा, शम, दम आदि सात्त्विक वृत्तियों, मन को उन्नत भाव में रखने वाली अर्थात् आत्मज्ञान की साधिका होने के कारण उनके लिए भी देवताओं के सदृश

एवं मोहक स्वरूप रूपों की कल्पना की, और दूसरी तरफ अहङ्कार, काम, क्रोध, दम्भ, मोह, लोभ, क्षोभ, मद, ईर्ष्या, द्वेष आदि तमोगुण-युक्त तामस-राजस वृत्तियों को असुरों तथा राक्षसों के नाना प्रकार के भयानक रूप देकर, प्रत्येक शरीर में तथा जगत् में इन विरोधी वृत्तियों के निरन्तर होने वाले संघर्ष को, देवासुर-संग्राम रूप से अनेक प्रकार की आख्यायिकाओं में विष्णु भगवान् की सहायता से देवताओं की विजय होने के जो वर्णन किये गये हैं, उन सबका तात्पर्य यह है कि विष्णु-रूपी आत्म-ज्ञान के प्रसाद ही से उक्त सात्विक दैवी शक्तियाँ तामस-राजस आसुरी शक्तियों पर विजय पा सकती हैं।

(३) पृथ्वी पर जब जन-संख्या बहुत बढ़ जाती है तब लोगों में व्यक्तित्व के भाव अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं, और वे व्यक्तिगत अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए भौतिक उन्नति में एक दूसरे से होड़-चढ़ा करते हैं, जिससे राग-द्वेष के आसुरी भावों की प्रबलता हो जाती है और भिन्न-भिन्न समाजों में संघर्ष उत्पन्न होकर जनता में घोर अशान्ति फैल जाती है। इस तरह की राग-द्वेषयुक्त अमर्यादित भौतिक उन्नति से जगत् में विषमता बहुत बढ़ जाती है, जिससे विश्व को धारण करने वाली दैवी शक्तियाँ विक्षुब्ध होती हैं एवं लोग अत्यन्त दुःखी हो जाते हैं। जब लोगों के दुःख चरम सीमा को पहुँच जाते हैं और सबके मन में उस पैदा हुई विषमता से उत्पन्न हुए दुःखों से छुटकारा पाने की तीव्र तलमलाहट उत्पन्न हो जाती है, तब सबके अन्तःकरण की सम्मिलित आतुरता के प्रतिफल-स्वरूप उसकी प्रतिक्रिया होती है, अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा की समष्टि सात्विक शक्ति, परिस्थिति की आवश्यकतानुसार विशेष कला से किसी विशेष व्यक्ति के रूप में प्रकट होकर सबकी एकता के साम्य-भावयुक्त व्यवहारों द्वारा उस बढ़ी हुई जन-संख्या को काट-छाँट करके एवं विषमता का सर्वनाश करके शान्ति स्थापन करती है, तथा लोगों को उस समय की परिस्थिति के अनुकूल धर्म के उपदेश से उपरोक्त बढ़ने की प्रवृत्ति छुड़ा कर साम्य-भावयुक्त व्यवहार करने के धर्म का पुनः प्रचार करती है। इसी विषय को स्थूल रूप से समझाने के लिए पृथ्वी पर पाप बढ़ने से पापी लोगों का बोझ पृथ्वी से सहन नहीं होना, तब उसका देवताओं के पास जाना और देवताओं का, जगत् के पालनकर्ता सात्विक देव विष्णु से पुकार करना, फिर विष्णु का अवतार लेकर पृथ्वी का बोझ हलका करना और धर्म की स्थापना करना आदि कथाएँ कही गई हैं।

(४) भगवान् रामचन्द्र और रावण के युद्ध की कथा का प्रधान उद्देश्य यह दिखाने का है कि सर्वात्म-भावयुक्त महापुरुष में इतना अदम्य आत्म-शक्ति होना

और सिद्धान्तों को समझाने के लिए जिस तरह के रूपक, आख्यायिकाएँ, कथाएँ और दृष्टान्त आवश्यक प्रतीत हुए, वैसे ही दिये गये हैं। उस समय गद्य की अपेक्षा पद्य का अधिक प्रचार था, इसलिए प्रायः सभी वर्णन पद्य में किये गये हैं, जिनमें कवियों की रुचियों के अनुसार शृङ्गार आदि रसों का समावेश हुआ है, और उपमा, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कार भरे हुए हैं; तथा जनता की रुचि अच्छे आचरणों में बढ़ाने और बुरे कर्मों से हटाने के लिए रोचक एवं भयानक भावों से भरी हुई कथाएँ बहुतायत से कही हुई हैं। इनके अतिरिक्त इन ग्रन्थों के बहुत पुराने होने के कारण इतने दीर्घ काल में, स्वार्थी लोगों ने अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए कहीं २ इनमें अनेक प्रकार के क्षेपक भी मिला दिये हैं। इन कारणों से उक्त शास्त्रीय कथाओं का वास्तविक मर्म समझना बहुत ही कठिन हो गया है। परन्तु यदि उनके असली उद्देश्य पर लक्ष्य रख कर, वर्णनों के पूर्वापर के, अर्थात् पहले कही हुई बात का पीछे कही हुई बात के सम्बन्धों पर ध्यान रखते हुए, कवियों की अतिशयोक्तियों और अर्थवाद यानी रोचक-भयानक वचनों और क्षेपकों अर्थात् पीछे से मिलाई हुई बातों को अलग करके, उन पर आध्यात्मिक दृष्टि से तात्त्विक विचार किया जाय तो उनका यथार्थ तात्पर्य समझ में आ सकता है, और आर्य-संस्कृति का सच्चा स्वरूप सहज ही प्रकट हो सकता है, अर्थात् आर्य लोगों के आध्यात्मिक विचारों के आधार पर जगत् के व्यवहार करने की व्यवस्था अच्छी तरह ध्यान में आ सकती है। नीचे दिये हुए थोड़े से उदाहरणों से उपरोक्त कथन की सार्थकता सिद्ध होगी —

(१) जगत् की सूक्ष्म घटना, अर्थात् सूक्ष्म सृष्टि के रहस्य को स्थूल रूप से समझाने के सम्बन्ध में, चतुर्विध अन्तःकरण अर्थात् मन को भय शोक आदि विकारों सहित चतुर्मुख ब्रह्मा का, और मन की रचना माया (प्रधान प्रकृति) को ब्रह्मा की कन्या का रूप देकर, मन का माया से आसक्ति का ब्रह्मा का अपनी पुत्री पर आसक्त होने के गुह्यात्मक रूपक देने का प्रयोजन माया से मन की आसक्ति छुड़ाकर उसे आत्मा में लगाने का है।

(२) [illegible] रोकने, छोड़ने, विचार स्मरण करने [illegible] प्रकार की शक्ति [illegible] (सम्पूर्ण) [illegible] है और जो सूर्य, [illegible] लिए पृथक्-पृथक् [illegible] अर्थात् [illegible]

अधिदेव—इन्द्र के भय से उन्हें मुक्त करके बुद्धि से काम लेने के सिद्धान्त की पुष्टि की।

(३) सखा-भाव के विशुद्ध प्रेम के प्रतिफल-स्वरूप ग्वालों के साथ गौएँ चराई और वन के पशु-पक्षियों के साथ भी प्रेममय क्रीड़ाएँ करके सबकी एकता का भाव दिखाया। साथ ही साथ सृष्टि-रचना के अधिदेव ब्रह्मा द्वारा बछड़ों और ग्वाल-बालों के चुराये जाने पर अपनी योग-माया से दूसरे बछड़ों और ग्वाल-बालों की रचना करके अपना योगैश्वर्य दिखाते हुए माया से मोहित ब्रह्मा (समष्टि मन) का मोह दूर किया अर्थात् प्रकृति पर अपना आधिपत्य प्रकट किया।

(४) गोपिकाओं के असीम प्रेम के प्रतिफल-स्वरूप उनकी इच्छानुसार उनके साथ अनेक प्रकार के खिलवाड़* करने के साथ ही साथ, नाना स्थानों में एक ही समय एक ही साथ अपने तथा गोप-गोपिकाओं के अनेक रूप दिखाकर, अपने तथा गोप-गोपिकाओं आदि सबके शरीरों में एक आत्मा अर्थात् अपनी सर्व-व्यापकता का परिचय दिया

(५) यमुना में नग्न होकर नहाती हुई गोपिकाओं के चीर-हरण की लीला का यह तात्पर्य है कि जीवात्मा जब तक भौतिक शरीरों के व्यक्तित्व के अहंकार के वश होकर परमात्मा से पृथकता के निश्चय का पर्दा रखता है, तब तक उसको मुक्ति की साधन दैवी सम्पत्ति अर्थात् सात्विक वृत्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं। इस लीला में भगवान् श्रीकृष्ण सर्वात्मा-परमात्मा हैं, गोपिकाएँ जीवात्मा हैं, श्रीकृष्ण से लज्जा करना भौतिक शरीरों के व्यक्तित्व का अहंकार है, जल से बाहर न निकलना पृथकता के भाव का पर्दा रखना है, और उनके वस्त्रालङ्कार का हरा जाना सात्विक वृत्तियों की अप्राप्ति है। जब गोपिकाएँ लज्जा छोड़ कर जल से नङ्गी बाहर निकल आई तो वस्त्रालङ्कार प्राप्त करके निर्भय (स्वतन्त्र) हो गई। इसी तरह मनुष्य व्यक्तित्व की आसक्ति-रूपी लज्जा छोड़ कर परमात्मा से अपनी भिन्नता के अज्ञान-रूपी जल से अलग हो जाय अर्थात आत्मा-परमात्मा की एकता का विश्वास कर ले तो उसको दैवी सम्पत्तिरूपी वस्त्रालङ्कार प्राप्त हो सकते हैं, अर्थात् उसके चित्त की वृत्तियाँ सात्विक हो सकती हैं, जिनसे युक्त होकर वह जीव मुक्त हो सकता है। जब तक परमात्मा से भिन्नता का निश्चय रखता है, तब तक मुक्ति के साधन प्राप्त नहीं होते।

* अध्यात्म दृष्टि से तो जगत का सब ही प्रपञ्च सर्वात्मा-परमात्मा का खिलवाड़ ही है, परन्तु आधिभौतिक दृष्टि से भी बारह वर्ष से कम के बालक की क्रीड़ाएँ खिलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकतीं।

(६) रासलीला के प्रेम में आसक्त गोपिकाओं को शरद् पूर्णिमा की रात्रि के समय एकान्त वन में पातिव्रत धर्म का उपदेश देकर भौतिक विषयों में उनकी आसक्ति होने के लिए उन्हें लज्जित किया, और फिर उनकी भावना के अनुसार कृष्ण और गोपियों के अनेक रूप धर कर रासलीला का दृश्य दिखाते हुए रासलीला के बीच ही में, सबको मूढ़ावस्था में छोड़ कर, अन्तर्धान हो गये और वे सब रोती-बिलखती रहीं। इससे उन्होंने अनासक्ति-योग की पूर्ण अवस्था बता कर, भौतिक विषयासक्ति के दुष्परिणाम की सबको शिक्षा दी।

(७) बारह वर्ष की बाल्यावस्था ही में व्रजवासियों के शुद्ध और अविचल प्रेम के प्रतिफल-स्वरूप उनकी भावना के अनुसार अनेक प्रकार की चमत्कारिक लीलाएँ * दिखाकर और साथ ही साथ अपना सर्वात्मभाव भी समय-समय पर प्रदर्शित करते रह कर, "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इस गीतोक्त कथन को चरितार्थ कर दिया। इतने पर भी जब वे लोग भगवान् के सर्वात्मभाव को न पहिचान सके—उनके मायिक शरीर के प्रेम में ही उलझे रहे—, तब भगवान् अपने उस शरीर से उनका साथ छोड़ कर, युवावस्था के आचरण के उपयुक्त स्थान—मथुरापुरी चले गये और फिर उन्होंने उद्धव के साथ अपने असली भाव अर्थात् आत्मज्ञान का सन्देश भेजकर व्रजवासियों को कहलाया कि तुम लोगों में यद्यपि प्रेम का भाव बहुत ही उच्च कोटि का है, परन्तु वह प्रेम मेरी स्थूल लीलाओं तक ही परिमित है, इसलिए तुमको वे लीलाएँ दिखा दी गईं; परन्तु सदा परिवर्तनशील भौतिकता ही में उलझे रहने से अर्थात् मेरी माया के खेल ही को सच्चा समझ कर उसीमें आसक्ति रखने से धोखा और दुःख होना अनिवार्य है; क्योंकि मायिक पदार्थ बिछुड़े बिना नहीं रहते—चाहे वे कितने ही उच्च कोटि के क्यों न हों। मेरा (कृष्ण का) शरीर भी मेरी माया का एक खेल है; तुमने इस शरीर और शरीर की क्रीड़ाओं में ही आसक्ति रक्खी, मेरे असली सर्वात्म-भाव तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया,

* भौतिक दृष्टि से एक छोटे से बालक के इस तरह के अद्भुत आश्चर्यजनक चमत्कार असम्भव प्रतीत होते हैं, परन्तु इस समय भी अनेक नन्हे से बालक व बालिकाएँ कई प्रकार की कलाओं एवं प्राणायाम आदि यौगिक चमत्कारों में इस तरह की अद्भुत योग्यता दिखाती हैं, जो दीर्घकाल के अनुभव और अभ्यास के बाद, वृद्ध कलाविद् और योगाभ्यासी भी नहीं दिखा सकते और योग की सिद्धियों आदि तथा मेस्मेरिज्म आदि की विद्याओं व आश्चर्यजनक चमत्कारों के रहस्य को भौतिकवादी वृद्ध भी समझ ही नहीं पाते। फिर आध्यात्मिक शक्ति के चमत्कारों के रहस्य तक तो भौतिक विचार शक्ति पहुँच ही नहीं सकती।

इसलिए मेरा मायिक शरीर तुमसे परोक्ष हो गया। यदि अब भी तुम शरीरों में आसक्ति छोड़ कर मेरे असली सर्वात्मभाव को प्राप्त होने के प्रयत्न में लग जाओ तो मैं तुमसे अलग नहीं हूँ, किन्तु तुम्हारे पास ही हूँ।

(८) मथुरा में पहुँच कर अत्यन्त कुरूपा दासी कुब्जा के शुद्ध प्रेम के प्रतिफल-स्वरूप उसके साथ भी उसकी भावना के अनुसार बर्ताव करके यह प्रकट कर दिया कि सर्वात्म-भावापन्न महापुरुष के लिए ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे, सब एक समान होते हैं। जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा ही वे उसके साथ बर्ताव करते हैं, उनकी उसमें कोई आसक्ति नहीं रहती।

(९) मल्ल-युद्ध की रङ्गभूमि में उपस्थित दर्शकों की जैसी भावना थी, उनको भगवान् ने उसी तरह का अपना रूप दिखाया। मामा कंस अपने पाप-कर्मों के कारण भगवान् के हाथ से सदा अपनी मृत्यु का चिन्तन किया करता था, अतः उसीकी भावना के अनुसार उसके पापी स्थूल शरीर से जीवात्मा का सम्बन्ध-विच्छेद करा कर साधु-हृदय उग्रसेन को राजसिंहासनारूढ़ करके जगत् को यथोचित व्यवहार का आदर्श दिखाया।

(१०) रुक्मिणी को, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उसके आततायी पिता भीष्मक और बड़े भाई रुक्माग्रज ने शिशुपाल के साथ ब्याहने की योजना की थी, उस अत्याचार से भगवान् ने उसे बचाया और उसकी इच्छानुसार स्वयं उससे विवाह किया। इसी तरह अपनी बहिन सुभद्रा के, अर्जुन द्वारा हरी जाने पर कुपित हुए बलदेव जी का क्रोध शान्त करके अर्जुन को उसके योग्य वर समझ कर, सुभद्रा की इच्छानुसार, अर्जुन के साथ उसका विवाह कर दिया। इन कृत्यों से भगवान ने वर चुनने में कन्या के अनुमति देने के अधिकार की रक्षा करके समत्वभाव की पुष्टि की।

(११) अत्याचार-पीड़ित सोलह हज़ार राज-कन्याओं को बन्दीगृह के कष्ट से छुड़ा कर, उनकी भावना के अनुसार उन सबसे विवाह किया, और प्रत्येक के महल में एक ही समय में उपस्थित रहने का दृश्य नारद को दिखा कर अपनी सर्वत्रावस्थिति एवं अलौकिक योगैश्वर्य का परिचय दिया।

(१२) दुष्ट कालयवन के साथ युद्ध करने से बहुत से निर्दोष सैनिकों की निरर्थक हत्या होती, इसलिए उससे युद्ध न करके उसके सामने से भाग जाना और "रणछोड़" कहलाने में अपमान न समझना तथा उसको पर्वत का गुफा में ले जाकर मुचुकुन्द राजा से मरवाना आदि आचरणों से भगवान ने यह उपदेश दिया कि लोकहित की बाधक प्रचलित मर्यादाओं की पाबन्दी

रखना आवश्यक नहीं और न लोकहित के कामों में लोकापवाद की ही परवाह आवश्यक है।

(१३) पाठशाला के सहपाठी बाल-सखा सुदामा ब्राह्मण ने विद्यार्थी-जीवन में अपने हिस्से के भोजन से सन्तोष न करके चोरी से दूसरे का हिस्सा खा लिया, जिसके फल से उसे घोर दरिद्रता भोगनी पड़ी, और जब ब्राह्मणोचित आचरणों से उस पाप का पर्याप्त प्रायश्चित् हो चुका, तब भगवान् कृष्ण के समीप चावलों की भेंट लेकर उपस्थित होने पर उनने बड़े ही आदरपूर्वक सत्कार करके उसकी दरिद्रता दूर की। इसने स्पष्ट किया कि बुरे कर्मों का फल प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य भोगना पड़ता है, चाहे वह भगवान् का भक्त ही क्यों न हो; और अच्छे आचरणों से पूर्व के बुरे कर्मों से उत्पन्न पाप नष्ट होकर फिर पुण्य का फल—सुख-समृद्धि प्राप्त हो सकती है।

(१४) सत्राजित यादव द्वारा लगाये गये स्यामन्तक मणि की चोरी के मिथ्या कलङ्क को दूर करने के लिए, मणि को बड़े प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ कर उसको ला दी, जिसने यह शिक्षा दी कि लोकहित के प्रयोजन के सिवाय यदि किसी कारण से निरर्थक लोकापवाद खड़ा हो जाय तो उसको मिटाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

(१५) शिशुपाल की एक सौ गाली सहने के बाद भी जब वह गाली देता ही रहा तब उसको मारा। इससे यह शिक्षा दी कि शक्तिशाली पुरुष दुष्ट के कुछ अपराध क्षमा करके उसे सँभलने का अवसर दें, फिर भी वह न सँभले तो उसे अवश्य दण्ड दें।

(१६) जरासन्ध और शिशुपाल के वध के बाद उसी समय उनकी जीवात्मा को अपने अन्दर लय कर लेना इस बात का प्रमाण है कि भगवान् को किसीसे भी द्वेष नहीं है, किन्तु दुष्टों की दुष्टता छुड़ाने के लिए ही उनके पापी शरीरों से जीवात्मा का सम्बन्ध-विच्छेद कराया जाता है।

(१७) भगवान् ने अनेक अत्याचारी राजाओं को मारा और अनेकों को राज्यच्युत किया, परन्तु सबका राज्य उनके उत्तराधिकारियों को दे दिया, और स्वयं किसी भी राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ न होकर निःस्वार्थ-भाव से जगत् के व्यवहार करने का आदर्श भली प्रकार प्रदर्शित किया।

(१८) द्रौपदी के चीर-हरण के समय उसकी करुण-भरी पुकार के अनुकूल समय भगवान् ने चीर-रूप से ही [illegible] [illegible] दिया [illegible] [illegible] [illegible] की एक महान [illegible] सिद्ध की

(११) ऋषि दुर्वासा अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग करके, पाण्डवों को शाप देने के अभिप्राय से उनकी भोजन-सामग्री समाप्त होने के बाद, उनके यहाँ अतिथि होने गये, तब पुण्यात्मा पाण्डवों की रक्षा के लिए भगवान् ने बर्तन में लगे हुए एक चावल से तृप्ति मान कर, केवल ऋषि दुर्वासा को ही नहीं छकाया, किन्तु अखिल विश्व को तृप्त करके अपनी सर्वव्यापकता तथा सर्वभूतात्मैक्य-भाव का प्रत्यक्ष नमूना दिखा दिया, और साथ ही साथ ऋषि को क्रोध के दुरुपयोग का परिणाम भी बता दिया।

(२०) राजा दुर्योधन की बड़े ठाट-बाट की मेहमानी स्वीकार न करके दास विदुर के घर पर, उसकी प्रीतिपूर्वक भेंट की हुई शाक-भाजी खाकर यह प्रकट किया कि महात्मा लोग केवल प्रेम-भाव से प्रसन्न होते हैं, भोग्य-सामग्रियों से नहीं।

(२१) कौरव-पाण्डवों का आपस में समझौता कराने के लिए भगवान् ने स्वयं कौरवों की सभा में जाकर उनको बहुत समझाया, और पाण्डवों को केवल पाँच गाँव देकर शेष सब राज्य कौरवों को रखने का कहा। परन्तु जब उन्होंने भगवान् की यह बात भी न मानी और उनको ही पकड़ कर क़ैद करना चाहा तब अपना विराट् रूप दिखा कर कौरवों के छक्के छुड़ाये और इस तरह साम, दाम और दण्ड नीति का यथायोग्य उपयोग दिखाया।

(२२) महाभारत के युद्ध में अपनी बहुसंख्यक सेना कौरवों को दी और आप अकेले निःशस्त्र होकर पाण्डवों की तरफ रहे; फिर दोनों तरफ की सेनाओं को लपा कर अन्त में बहुसंख्यक अधर्मी कौरवों की हार और अल्प-संख्यक धर्मात्मा पाण्डवों की जीत करवा कर यह सिद्ध किया कि स्थूल भौतिक बल पर सूक्ष्म आत्म-शक्ति की ही विजय होती है।

(२३) धर्म और नीति का विशारद, सत्यव्रती अखण्ड ब्रह्मचारी भक्त भीष्म यद्यपि परिस्थितिवश अन्यायी कौरवों की सेना का सेनापति होकर धर्मात्मा पाण्डवों से लड़ा, फिर भी भगवान् ने उसको अपना परम भक्त मान कर तथा उसकी महिमा बढ़ा कर यह प्रकट किया कि ज्ञानी पुरुष के ऊपरी व्यवहार चाहे विपरीत भी दीखें, परन्तु वे किसी लोक-हितकर प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही होते हैं, वास्तव में उसका अन्तःकरण पवित्र होता है, अतः वह महात्मा ही होता है। भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर भीष्म की प्रतिज्ञा रखी इसमें यह शिक्षा दी कि बड़ों को अपने छोटों की बातों, उनकी प्रतिष्ठा एवं कीर्ति आदि को अपने से अधिक महत्त्व देना चाहिए। अपनी प्रतिज्ञा आदि का अभिमान जितना छोटों को हुआ करता है उतना बड़ों को नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण की स्थिति तो समष्टि-भाव की थी अतः उनकी दृष्टि में आत्म उनमें

थी क्योंकि उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न कुछ था ही नहीं (गी० अ० ७ श्लोक ७ से १२, अ० ९ श्लोक १६ से १९, अ० १० श्लोक ३९ से ४२), और जहाँ सर्वत्र एकत्व-भाव हो वहाँ राग अथवा आसक्ति के लिए अवकाश ही नहीं रहता; अतः सब कुछ करते हुए भी वे वास्तव में अकर्ता ही रहते थे (गी० अ० ४ श्लोक ७ से १०), और सगुण रूप धारण किये हुए भी वे निर्गुण ही थे (गी० अ० ७ श्लोक ६ से ९)। इसी तरह जिन आत्मज्ञानी महापुरुषों को सर्वात्म-भाव का सच्चा अनुभव हो जाता है, वे सबको अपने में और अपने को सबमें देखते हैं (ईशोपनिषद् मन्त्र ६, गी० अ० ६ श्लोक २९), और व्यष्टित्व का भाव मिट कर समष्टि में उनकी स्थिति हो जाती है (गी० अ० ६ श्लोक ३१, अ० १२ श्लोक ३०)। अपने व्यष्टित्व के लिए उन्हें कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता (गी० अ० ३ श्लोक १७-१८), किन्तु उनके सभी व्यवहार लोक-हित के लिए होते हैं (गी० अ० ५ श्लोक २५), अर्थात् जिस रूप में वे रहते हैं, उसी रूप की योग्यता और उसी रूप के कार्यक्षेत्र के अनुसार सब व्यवहार, व्यवस्थापूर्वक, जगत् के स्वामी-भाव से केवल लोक-संग्रह के लिए करते हैं (गी० अ० ३ श्लोक २५)। ईश्वर में और उनमें कोई भेद नहीं रहता अर्थात् वे परमात्मा-स्वरूप होते हैं और स्वेच्छा से जगत् के व्यवहार करते हैं (गी० अ० ४ श्लोक १०, अ० ५ श्लोक १६-२०, अ० ६ श्लोक ७ से ९)। सब कुछ करते हुए भी उनमें किसी भी कार्य का राग और आसक्ति नहीं रहती, किन्तु वे अलिप्त और निर्बन्धन रहते हैं। (गी० अ० ४ श्लोक १६ से २४, अ० १८ श्लोक १०)। सब व्यष्टित्व के व्यवहार करते हुए भी उनका समष्टि (सर्वात्म) भाव ज्यों का त्यों बना रहता है अर्थात् वे सर्वत्र अपना ही रूप देखते हैं, अपने से भिन्न उन्हें कुछ भी नहीं दीखता (ईशोपनिषद् मन्त्र ६, ७; गी० अ० ५ श्लोक ८ से १०)। अतः सब प्रकार व्यवहार करते हुए सदा वे निर्गुण समाहित रहते हैं अर्थात् उनके अन्तः-करण में सुख दुःख का लेश भी नहीं रहता, किन्तु वे अपने स्वरूपानन्द में निमग्न रहते हैं (गी० ५ श्लोक २१, अ० ६ श्लोक २०-२८)।

वर्तमान मूर्ति (जाड़ बिजली की) अवस्था में और ... की समाधि अवस्था [illegible]

सर्वात्म-भावापन्न जीवन्मुक्त महान् आत्माओं की समाधि, मूर्च्छित अथवा शून्य अवस्था नहीं होती, किन्तु वे सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी निर्गुण अवस्था के एकत्व-भाव यानी साम्य-भाव में स्थित रहते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में जगत् सब आत्मानन्द ही होता है, अपने से भिन्न कुछ भी नहीं रहता, इसलिए उनके मन पर किसी प्रकार के क्लेश या बन्धन आदि विकारों का प्रभाव नहीं होता। ये विकार तो जहाँ द्वैत-भाव होता है वहीं अपना प्रभाव डालते हैं।

इस तरह जो अपने को सारे जगत् की आत्मा अनुभव करता है और जो समष्टि हित के लिए स्वेच्छापूर्वक शरीर धारण करता है, उस सर्वात्मा के जन्म और कर्मों का रहस्य पञ्चभौतिक शरीरों की तरह न तो यथार्थ रूप से वर्णन किया जा सकता है और न स्थूल दृष्टि से समझ में ही आ सकता है। यह रहस्य तो सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने ही से ठीक-ठीक जाना जा सकता है।

प्राचीन काल में इस देश में ब्रह्मविद्या विशेषतया राजाओं की विद्या समझी जाती थी (गी० अ० ९ श्लोक २) और राजा लोगों में इसका बहुत प्रचार था (गी० अ० ४ श्लोक १ से ३) क्योंकि सारे समाज को सुव्यवस्थित रखने की जिम्मेवारी राजाओं ही की होती है, और ब्रह्मविद्या की जानकारी बिना समाज को पूर्ण रूपसे सुव्यवस्थित रखा नहीं जा सकता। वास्तव में आदर्श और निर्दोष राज्य-शासन या शासन-पद्धति ब्रह्मविद्या के आधार पर ही निर्धारित हो सकती है और बड़ी से बड़ी एवं जटिल से जटिल राजनैतिक समस्याओं को ठीक-ठीक सुलझाने का एकमात्र अचूक साधन ब्रह्मविद्या ही है। इसलिए राजाओं के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता समझी जाती थी। वे लोग इसीके प्रसाद से सर्वभूतात्मैक्य-भाव द्वारा, सबके साथ एकता के प्रेमयुक्त, प्रजा-रक्षणादि कार्य यथायोग्य करते थे, और इस ब्रह्मविद्या का उपदेश अन्य लोगों को भी देकर सबको अपने-अपने कर्तव्य में स्थित रख कर समाज की सुव्यवस्था रखते थे। राजाओं से ब्रह्मविद्या का उपदेश अन्य लोगों के लेने के वर्णन प्राचीन शास्त्रों में जगह-जगह पाये जाते हैं।

भारतवर्ष के स्वर्णयुग में रचे हुए अनेक दर्शन और व्यवहार-शास्त्र सूक्ष्म विचारों में एक-एक से बढ़ कर हैं, जिनमें वेदान्त दर्शन सबसे परे का है। इस दर्शन के जो ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध हैं, उनमें उपनिषद् सबसे प्राचीन और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं मान्य हैं। उनमें वर्णित ब्रह्मविद्या सर्वोपरि है, और वेदान्त के दूसरे सब ग्रन्थ उपनिषदों के प्रमाणों ही से प्रमाणित होते हैं। केवल वेदान्त के ग्रन्थ ही क्यों, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आदि भी अपनी प्रामाणिकता के

लिए उपनिषदों ही का आश्रय लेते हैं। अतः उपनिषदों को हिन्दू-संस्कृति के मूल आधार ग्रन्थ कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषदों का सार माना जाता है, परन्तु वास्तव में यह केवल उपनिषदों का सार ही नहीं है, किन्तु उनके गहन और सूक्ष्म सिद्धान्तों का जीवन के व्यवहारों में उपयोग करने का विधान भी इसमें है, अर्थात् ज्ञान और व्यवहार के मेल का खुलासा अत्यन्त ही सरल और सुगम रीति से गीता में किया गया है। यद्यपि योगवाशिष्ठ भी व्यावहारिक वेदान्त का एक बृहत् ग्रन्थ है, परन्तु उसमें रूपान्तर से प्रायः गीता ही के उपदेशों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त उसमें अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन विचारों का इतना अधिक विस्तार है कि उसका साधारण जनता की समझ में आना बहुत कठिन है। वेदान्त के अन्य ग्रन्थ भी प्रायः अपने-अपने सिद्धान्तों की सिद्धि एवं उनकी पुष्टि के शास्त्रार्थ तथा निवृत्ति में भी ही उनके उपयोग के विचारों से भरे पड़े हैं। प्रवृत्ति में उनका उपयोग कैसे करना चाहिए, कार्य-रूप में उन्हें कैसे परिणत करना चाहिए, अर्थात् उनको अमल में कैसे लाना चाहिए, यह निरूपण उपनिषदों के आधार पर जैसा श्रीमद्भगवद्गीता में है, वैसा किसीमें नहीं है। तात्पर्य यह कि गीता की यह विशेषता है कि आत्म-ज्ञान की सात्त्विकी बुद्धि से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करके, जगत् के व्यवहार किस तरह करने चाहिएँ कि जिनसे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों, अर्थात् शान्ति, तुष्टि और पुष्टि की निश्चयपूर्वक प्राप्ति हो सके, इस ज्ञान-कर्म-समुच्चय का निरूपण इसमें बहुत ही स्पष्ट रूप से किया गया है—सो भी केवल सातसौ श्लोकों में, और बहुत ही सरलतापूर्वक। यदि गीता में केवल एकात्म-ज्ञान के सिद्धान्त (Theory) मात्र ही का उपदेश होता, तो उसकी कोई विशेषता नहीं होती, और न उसकी सार्वजनिकता एवं सर्वोपयोगिता ही रहती, क्योंकि केवल आत्मज्ञान के तो बहुत से ग्रन्थ हैं, परन्तु जिस ज्ञान के अनुकूल व्यवहार न हो सकें, अथवा जिसका व्यवहार में कुछ भी उपयोग न हो सके, वह साधारण लोगों के किस काम का? वह शुष्क ज्ञान तो लौकिक व्यवहार से विरक्त संन्यासियों ही के उपयोग में आ सकता है। परन्तु गीता में वह शुष्क ज्ञान नहीं है। गीता तो व्यावहारिक वेदान्त का एक अनुपम शास्त्र है, जिसकी उपयोगिता किसी व्यक्ति-विशेष या समुदाय-विशेष तक ही परिमित नहीं है, किन्तु वह सार्वभौम और सार्वजनिक है। उसका उपयोग छोटे से छोटे और बड़े से बड़े लोग—जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म सम्प्रदाय देश और काल के भेद बिना—सदा-सर्वदा कर सकते हैं, क्योंकि उसके उपदेश किसी साधारण मनुष्य के कहे हुए नहीं हैं किन्तु सर्वात्म भावापन्न (अखिल विश्व को अपने में

और अपने को अखिल विश्व में अनुभव करने वाले अर्थात् अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले) महान्-आत्मा के—जिनको हिन्दू लोग तो परमात्मा का पूर्ण अवतार मानते ही हैं, किन्तु और लोग भी एक असाधारण महापुरुष अवश्य ही स्वीकार करते हैं—कहे हुए हैं। गीता की बराबरी का दूसरा कोई शास्त्र संसार को अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है—यह बात केवल आर्य-संस्कृति के मानने वाले भारतीय लोग ही नहीं मानते किन्तु अन्य संस्कृतियों के मानने वाले बहुत से विदेशी विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं।

जब तक भारतवर्ष में दार्शनिक लोग ज्ञान-रूपी प्रकाश को लिये हुए आगे चलते रहे, और साधारण जनता उस प्रकाश में उनके पीछे चलती रही, अर्थात् आध्यात्मिकता के मूल सिद्धान्त के आधार पर थोड़ा या बहुत आचरण करती रही, तब तक यह देश अन्य देशों की प्रतियोगिता में उन्नत और शक्तिशाली बना रहा। संसार के सब देश इसका मुँह ताकते थे। सुख-समृद्धि से यह परिपूर्ण था। परन्तु महाभारत-काल में, अधिकार-प्राप्त लोगों में नैतिकता बहुत घट जाने से व्यक्तित्व का अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भावों की प्रबलता होकर लौकिक व्यवहारों में आध्यात्मिक भाव प्रायः लुप्त हो गये थे (गी० अ० ४ श्लोक १-२) और तत्त्वज्ञानी लोगों ने अधिकतर निवृत्ति मार्ग ही स्वीकार कर लिया था, तब भगवान् श्रीकृष्ण महाराज ने अवतार लेकर अपने आचरणों द्वारा, तथा सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव से व्यवहार करने के उपदेश लोगों को देकर ब्रह्मविद्या का पुनः प्रचार किया (गी० अ० ४ श्लोक ३)। फिर, महाभारत-काल के बाद के प्रामाणिक इतिहास के अभाव में यह तो नहीं कहा जा सकता कि दर्शनशास्त्रों का व्यावहारिक उपयोग कहाँ कब बन्द हुआ, परन्तु भगवान् बुद्ध ने अवतार लेकर प्रवृत्ति-मार्ग के विरुद्ध निवृत्ति-मार्ग का प्रचार करने से यह अनुमान होता है कि उस समय इस देश में विश्व की एकता का वेदान्त सिद्धान्त लोगों के आचरणों से लुप्त होकर व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के कर्मकाण्डों की अत्यन्त वृद्धि हो गई होगी, जिनके अत्याचारों से लोग बहुत ही दुःखी हो गये होंगे और उस अवस्था से लोगों का उद्धार करने के लिए भगवान् बुद्ध ने निवृत्ति-मार्ग का प्रचार ही उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त एवं कल्याणकर समझा होगा। फिर जब बौद्धधर्म में भी विपर्यास हुआ और उसमें भी लोगों पर अनाचार बढ़ने लगे तब भगवान् शङ्कराचार्य ने उसका खण्डन करके वैदिक धर्म का पुनः प्रचार किया तो उस समय की परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने भी निवृत्ति-मार्ग पर ही विशेष जोर देना उचित समझा और वेदान्त शास्त्र के आधार पर निवृत्ति-मार्ग को ही दुनियां का [illegible] आध्यात्मिक निवृत्ति और सच्चे एवं अटल सुख का [illegible] मुक्ति का [illegible]

सिद्ध किया। इससे यह निश्चय होता है कि भगवान् बुद्ध के समय से इस देश में निवृत्ति-मार्ग पर लोगों की अधिक श्रद्धा हो गई और यहाँ के लोग संसार के व्यवहारों को सर्वथा बन्धन का हेतु मानने लगे; दर्शनशास्त्र केवल निवृत्ति के ही प्रतिपादक समझे जाने लगे, प्रवृत्ति में दार्शनिक तत्त्वज्ञान अनावश्यक ही नहीं, किन्तु उसका विरोधी ठहराया गया। फलतः दार्शनिक विचार केवल पुस्तकीय ज्ञान (Theory) कोरे शास्त्रार्थ करने के लिए ही रह गया; संसार के व्यवहार में वेदान्त के सिद्धान्तों का उपयोग बिलकुल ही छूट गया और गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यास लेने वालों ही का दर्शनों पर अधिकार हो गया। दूसरे शब्दों में दार्शनिक तत्त्वज्ञान का उपयोग संसार के व्यवहारों से लुप्त होकर, केवल संन्यास ही में होने लगा। यहाँ तक कि उपनिषद् और गीता जैसे ज्ञान-कर्म समुच्चय अर्थात् व्यावहारिक वेदान्त के ग्रन्थों का भी निवृत्ति-मार्ग की पुष्टि में ही उपयोग होने लगा और उसीके अनुरूप इनके अनेक भाष्य और टीकाएँ बन गईं। साम्प्रदायिक टीकाकारों ने अपने-अपने मत की पुष्टि और अपने अनुयायियों को अपने सिद्धान्त समझाने की स्वार्थ-सिद्धि के लिए उपनिषद् और गीता का आश्रय लेकर इनके अर्थ की यहाँ तक खींचा-तानी की, और शास्त्रार्थ के वागाडम्बरों का तूल इतना बढ़ा दिया कि इनके अर्थ में बहुत ही गड़बड़ हो गई और इनका असली तात्पर्य (व्यावहारिक वेदान्त) बिलकुल अज्ञात हो गया। गीता के विषय में तो कहीं-कहीं यहाँ तक कहा जाने लगा कि 'गीता का अर्थ कृष्ण ही जानें'। जिसका भावार्थ यह निकलता है कि स्वयं कृष्ण के सिवाय दूसरा कोई उसका सच्चा तात्पर्य समझ ही नहीं सकता; अतः न अब इस युगमें फिरसे कृष्ण का अवतार हो और न गीता का वास्तविक अर्थ ही समझा जा सके। कैसे आश्चर्य की बात है कि जब अपने सिवाय दूसरा कोई उसको समझ ही न सके, तो गीता बनाने का परिश्रम उन्होंने व्यर्थ ही किया। तात्पर्य यह कि साधारण जनता भगवान् के इस सार्वजनिक एवं सर्वहितकर उपदेश का यथार्थ लाभ उठाने से वञ्चित हो गई। बहुत से लोगों ने तो इसको निवृत्ति-मार्ग की पुस्तक समझ कर, इसके पढ़ने से संसार से वैराग्य हो जाने के डर से इसको, पढ़ना छोड़ कर, केवल मृत्यु के समय सुनाने योग्य ही निश्चय कर लिया। इस तरह उपनिषदों और गीता में प्रतिपादित व्यावहारिक वेदान्त भारतवर्ष में बिलकुल लुप्त हो गया, और ज्ञान के प्रकाश बिना अज्ञान के अन्धकार में संसार के व्यवहार होने लगे, जिसका परिणाम जैसा होना स्वाभाविक है, वैसा ही हुआ अर्थात् आर्य-संस्कृति के व्यवहार-रूपी शरीर में से आध्यात्मिक मूल सिद्धान्त रूपी जीव निकल गया। तब, जिस तरह जीव रहित शरीर में अनेक प्रकार के विकार और सड़ाव-गलाव उत्पन्न हो जाते हैं, वही दशा इस संस्कृति की हुई। इस देश के अधिकांश लोग अपने व्यवहारों में

तैयार रहते हैं; व्यवहार में अन्धविश्वास की रूढ़ियों तथा मानसिक दुर्बलताओं को बाधक नहीं होने देते, स्वावलम्बन में आत्माभिमान मानते हैं और परावलम्बन एवं दासता के भावों को बहुत हीन एवं त्याज्य समझते हैं, भूतकाल को अनावश्यक महत्त्व न देकर वर्तमान और भविष्य पर विशेष ध्यान रखते हैं, और अपनी त्रुटियों का प्रकट होना हितकर समझते हैं। इन सद्गुणों के कारण ही उन देशों की उन्नति हुई है और वे दूसरों पर आधिपत्य करते हैं।

भारतीयों के लिए कुशल इतनी ही है कि जिस तरह भौतिक शरीर के बिगड़ जाने अथवा नाश होने पर भी अव्यय, अविनाशी जीवात्मा ज्यों का त्यों बना रहता है; उसी तरह आर्य-संस्कृति के व्यवहार-रूपी भौतिक शरीर के अस्तव्यस्त होने पर भी उसका मूल सिद्धान्त, सत्य और सनातन होने के कारण, ज्यों का त्यों विद्यमान है, अन्य संस्कृतियों के अपूर्ण और अस्थिर सिद्धान्तों की तरह वह कभी नष्ट नहीं हो सकता और न उसका कुछ बिगाड़ ही सकता है। इसलिए आर्य-संस्कृति यदि अपने मूल सिद्धान्त के आधार पर अपने बिगड़े हुए व्यवहार-रूपी विकृत कलेवर को बदल कर, उसको वर्तमान समय की परिस्थिति के अनुकूल बना ले, तो वह अपनी पूर्व उन्नतावस्था पुनः प्राप्त करके सर्व शिरोमणि हो सकती है, और इस देश की जनता के सभी क्लेश मिट कर सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। अतः यदि हमें इस अवनत अवस्था से मुक्ति पाकर, दूसरे देशों की प्रतिद्वन्द्विता में जीवित रहना है, तो हमें पुनः ब्रह्मविद्या का प्रचार करना चाहिए, अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता का असली तात्पर्य समझ कर सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करने की व्यवस्थाएँ बना कर जनता को यथायोग्य उन पर चलाने का प्रबन्ध करना चाहिए।

जिस तरह मरा हुआ शरीर पुनः पूर्व रूप में जीवित नहीं किया जा सकता उसी तरह प्राचीन काल की मुर्दा व्यवस्थाएँ, बिलकुल उसी रूप में पुनः प्रचलित नहीं की जा सकतीं, न दूसरे देशों एवं अन्य संस्कृतियों के लोगों का अन्धानुकरण ही हमारे लिए हितकर हो सकता है, क्योंकि अन्य संस्कृतियों के सिद्धान्त बहुत संकुचित हैं अर्थात् उनका क्षेत्र किसी देश-विशेष या जाति विशेष या समाज-विशेष तक ही परिमित है, इसलिए वे अपूर्ण और अस्थिर भी हैं। उनसे सच्चा एवं स्थायी सुख तथा सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु हमारी संस्कृति का मूल सिद्धान्त व्यापक होने के कारण उसका क्षेत्र असीम और सार्वजनिक है, इसलिए वह पूर्ण एवं स्थिर है। अतः इसके आधार पर ही अपनी [illegible]

[illegible]

[illegible]

में छान-बीन करके उनसे हमें लाभ उठाना चाहिए; और जो-जो प्राचीन व्यवस्थाएँ हमारे यहाँ अब तक प्रचलित हैं, उनमें से जो उसी रूप में अथवा संशोधित होकर, वर्तमान समय की परिस्थिति के उपयुक्त तथा हितकर हों, उनका यथायोग्य उपयोग करना चाहिए। हमको द्वेष किसीसे भी नहीं रखना चाहिए, क्योंकि प्राचीन और नवीन सभी बातें हमारी संस्कृति के व्यापक सिद्धान्त के अन्तर्गत ही हैं; इसलिए हमको यथायोग्य सबका सदुपयोग करना चाहिए। ऐसा करने से इस देश की वास्तविक उन्नति ही न होगी, किन्तु सारे संसार को उसका अनुसरण करना पड़ेगा।

क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक वेदान्त ही हमारी संस्कृति का मूल आधार है, और उसीके अनुसार आचरण करने से हमारी उन्नति सम्भव है, इसलिए उसी विषय के निरूपण करने का प्रयत्न इस पुस्तक में आगे किया जायगा।

व्यावहारिक वेदान्त

यह बात उपोद्घात में कह आये हैं कि "व्यावहारिक वेदान्त" के आचरण से ही सच्चा सुख अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो सकती है। अब सबसे पहले हम विषय पर विचार करना चाहिए कि "वेदान्त" क्या है और व्यवहार में उसका उपयोग किस तरह होता है?

"वेदान्त" किसी विशिष्ट धर्म (मज़हब), मत, सम्प्रदाय या पन्थ का नाम नहीं है, और न किसी ग्रन्थ-विशेष ही से "वेदान्त" परिमित है। "वेदान्त" शब्द का अर्थ है—जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा। जानने का अन्त अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा प्रत्येक व्यक्ति के "अपने आप" में होती है। जब तक अपने से भिन्न कोई दूसरी वस्तु रहती है तब तक जानने का अन्त नहीं होता, क्योंकि जब तक जानने वाला (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) का अलग-अलग अस्तित्व रहता है, तब तक एक दूसरे का जानना अथवा ज्ञान बना रहता है, परन्तु जब जानने वाले (ज्ञाता) और जानने की वस्तु (ज्ञेय) की पृथकता मिट कर एकता हो जाती है, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का, सबकी एकतारूप "अपने आप (Self)" में लय हो जाता है, तब जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता, केवल "अपना आप" ही शेष रहता है, जो जानने (ज्ञान) का विषय नहीं है; क्योंकि जब अपने से भिन्न कोई दूसरा हो तभी जानने की क्रिया हो सकती है। अतः जानने का अन्त "अपने आप (Self)" में होता है।

दूसरे पदार्थ तो "अपने आप (Self)" से जाने जाते हैं, परन्तु जिससे सब जाने जाते हैं, उस "अपने आप (Self)" को किससे जाना जाय? यह तो स्वयं अपने अनुभव का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि "मैं हूँ" इस विषय का किसीको अज्ञान नहीं है कि जिसे दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता हो। "अपने आप" में कोई अज्ञान नहीं है, यह कोई भी नहीं कहता कि "मैं नहीं हूँ"। "अपने आप" से भिन्न जितने पदार्थ हैं उनकी दूरी (पृथकता) [illegible] ज्यों-ज्यों समीपता (एकता) होती जाती है त्यों-त्यों उनका ज्ञान बढ़ता जाता है और जब सारी पृथकता [illegible] मिट कर सबकी [illegible]
[illegible]

वेदान्त किसी व्यक्ति-विशेष, जाति-विशेष, समाज-विशेष, देश-विशेष अथवा काल-विशेष में सीमाबद्ध नहीं है, क्योंकि "अपने आप" का सत्य अर्थात् "मैं हूँ" यह अनुभव समस्त भूत-प्राणियों में, सब देश और सब काल में एक समान बना रहता है। अतः सबकी पूर्ण एकता-स्वरूप "अपने आप" का यथार्थ अनुभव ही "वेदान्त" है, चाहे यह अनुभव किसी भी व्यक्ति को हो। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि अपने आपका अनुभव सभी करते हैं, परन्तु उपरोक्त यथार्थ अनुभव विरलों को ही होता है। "मैं हूँ" यह तो सब अनुभव करते हैं, परन्तु "मैं क्या हूँ" इसका यथार्थ अनुभव सबको नहीं होता। अधिकांश लोग स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण शरीर ही को "अपना आप (Self)" माने हुए हैं। यह यथार्थ अनुभव नहीं है। किसी भी व्यक्ति का शरीर वास्तविक "अपना आप (Self)" नहीं है, क्योंकि शरीर तो अनेक और भिन्न-भिन्न हैं, उनमें एक दूसरे से विलक्षणता है, और वे प्रतिक्षण बदलने एवं बनने-मरने वाले हैं, परन्तु "अपना आप (Self)" तो सबमें एक है और समान रूप से सदा विद्यमान तथा सदा एकसा रहता है। इसलिए परिवर्तन—शील शरीर "अपना आप (Self)" नहीं हो सकता, किन्तु जो सब शरीरों का आधार सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा है, जो प्रत्येक शरीर का रूप धारण करता है और प्रत्येक शरीर को चेतना देता है, जो प्रत्येक शरीर का अस्तित्व बनाये रखता है, जो प्रत्येक शरीर का प्रकाशक है और उसका ज्ञान रखता है एवं जो प्रत्येक शरीर को गति देता है, वही सच्चा "अपना आप (Self)" है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थूल शरीर के सब अवयवों—आँख, नाक, कान, मुख, सिर, हाथ, पांव, हड्डी, मांस, रक्त, नस, नाड़ी, चमड़ी आदि को "मेरे" कहता है, और चतुर्विध अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) एवं पाप, पुण्य, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि सूक्ष्म शरीर के अवयवों और विकारों को भी "मेरे" कहता है। इससे स्पष्ट है कि वह "अपने आप" को स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का स्वामी मानता है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर के सब अवयवों द्वारा "मैं" यानी "अपना आप" स्थूल व्यापार करता है और नाना भाँति के स्थूल भोग भोगता है; स्वप्न अवस्था में जब स्थूल शरीर के सब व्यापार बन्द हो जाते हैं एवं उसका ज्ञान भी नहीं रहता, उस समय भी "मैं" यानी "अपना आप" सूक्ष्म शरीर द्वारा स्वप्न के व्यापार करता है; और सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा की अवस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों के व्यापार बन्द हो जाने पर एवं सुख-दुःख आदि का कुछ भी ज्ञान न रहने पर भी "मैं" यानी "अपना आप" कारण रूप से गाढ़ निद्रा के आनन्द का अनुभव करता है और जागने पर

कहता है कि "मैं बड़े सुख से सोया"। इसी तरह तुरीय अवस्था अर्थात् आत्माकार-वृत्ति की निर्गुण अवस्था में सब प्रकार के शारीरिक व्यापारों से पृथक् रहते हुए भी "मैं", यानी "अपना आप" अपने आपके आत्मानन्द में स्थित रहता है। शरीरों के बनने अर्थात् जन्म के पूर्व, और उनके बिगड़ने अर्थात् मरने के बाद भी "मैं", यानी "अपना आप" अपने मन के संस्कारों अर्थात् मानसिक क्रियाओं के सञ्चित प्रभावों के अनुसार, कभी कारण रूप से तमोगुण की मूर्च्छित दशा में, अथवा पञ्च-भौतिक जड़ अवस्था में—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अथवा आकाश-रूप में—रहता है, उस दशा में चेतनता यद्यपि कारण-रूप से रहती तो है, परन्तु व्यक्त (प्रकट) नहीं होती। जब कुछ चेतनता के संस्कार उद्भव (विकसित) होते हैं, तब पृथ्वी में से (जड़ अवस्था से) निकल कर वनस्पति-रूप से रहता है, फिर अधिक चेतनता के संस्कार विकसित होने पर, वनस्पति-रूप से प्राणियों के उदर में जाकर, उनके रज-वीर्यरूप होकर पशु, पक्षी, मनुष्य आदि योनियाँ धारण करता है। इसी तरह अपने मन के संस्कारों के अनुसार कभी विकास की क्रमोन्नति की सीढ़ी चढ़ता और कभी उतरता हुआ नाना रूप धारण करता है। कभी सत्वगुण की प्रबलता-जन्य उन्नत संस्कारों के कारण क्रमोन्नति की क्रिया के बिना ही विकास की उच्च अवस्थाओं में एकदम चढ़ जाता है; और जब सब संस्कारों और सङ्कल्पोंसे रहित होजाता है, तब नाम, रूप एवं क्रियाओं के विकारों से रहित होकर निर्विकार अवस्था में अपनी स्वमहिमा में स्थित रहता है। परन्तु किसी भी दशा में "मेरा" यानी "अपने आपका" कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह सत्-चित्-आनन्द है, इसलिए सदा बना रहता है (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० ४ ब्रा० ३ और ४)।

सबके "अपने आप" के अस्तित्व से ही अन्य सबका अस्तित्व है। सबको सत्ता देने वाला "अपना आप = आत्मा" है। "अपने आप" बिना अन्य किसी का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। जब "अपना आप" होता है तब दूसरों की प्रतीति होती है। दूसरे सब पदार्थ तो परिवर्तनशील हैं—कभी प्रतीत होते हैं, कभी नहीं होते, कभी किसी प्रकार के प्रतीत होते हैं, कभी किसी प्रकार के, तथा उनके होने में संशय भी हो सकता है—इसलिए वे असत् हैं। परन्तु सबका "अपना आप" अपरिवर्तनशील है और सदा इकसार बना रहता है तथा "अपने आप" की प्रतीति में कभी अन्तर नहीं आता। वह सबके लिए निरन्तर इकसार बना रहता है तथा "अपने आप" के होने में कभी किसीको संशय नहीं होता है इसलिए सबका "अपना आप" यानी आत्मा सत् है।

सबका "अपना आप" सनत है अर्थात् स्वयं ज्ञान [illegible]

सब वस्तुओं का प्रकाशक चेतनस्वरूप "अपना आप" है, वे सब "अपने आप" से जानी जाती हैं; परन्तु "अपने आप" को प्रकाश करने के लिए, अर्थात् अनुभव कराने के लिए, अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। अन्य किसी भी वस्तु की प्रतीति न होने पर भी "अपने आप" की प्रतीति सबको सदा बनी रहती है। अतः सबका "अपना आप" यानी आत्मा चित् है।

"अपना आप" सबको सदा अच्छा और प्यारा लगता है। "अपना आप" कभी किसीको दुःखदायक एवं अप्रिय और बुरा प्रतीत नहीं होता। अन्य सब वस्तुएँ "अपने आप" अर्थात् आत्मा के कारण अच्छी एवं प्यारी लगती हैं, अर्थात् जितने पदार्थ अपने मान लिये जाते हैं, और अपने अनुकूल होते हैं वे ही सुखदायक एवं प्यारे लगते हैं। जब कोई वस्तु बेगानी मानी जाती है अथवा अपने प्रतिकूल प्रतीत होती है तो वह प्यारी नहीं लगती। किसी भी पदार्थ में प्यारापन उसको अपनाने से उत्पन्न होता है। अन्य कोई भी पदार्थ सुखदायक एवं प्रिय न रहने पर भी "अपना आप" तो सबको सदा सुखदायक एवं प्यारा लगता है। इसलिए सबका "अपना आप" यानी आत्मा आनन्द है।

"अपने आप" (Self) के बिना कोई भी पदार्थ नहीं है। किसी भी काल, किसी भी देश और किसी भी वस्तु में, "अपने आप" (Self) का अभाव अथवा वृद्धि-ह्रास (बढ़ना-घटना) नहीं होता; इसलिए "अपना आप" नित्य, सर्वव्यापक एवं सम अर्थात् सबमें एक समान और सदा एकसा रहने वाला है; और जो वस्तु नित्य, सर्वव्यापक एवं सम होती है, वह वस्तुतः एक ही होती है, उससे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं होता, क्योंकि एक से अधिक होने से उसमें नित्यता, सर्वव्यापकता एवं समता नहीं रहती।

सबके "अपने आप" यानी आत्मा के सत्, चित्, आनन्द, नित्य, सर्वव्यापक, सम और एक होने के विषय में कई तरह की शङ्काएँ उठती हैं, यथाः—

(१) यदि हमारा "अपना आप" सत् और नित्य है, तो हमारा जन्म-मरण क्यों होता है? क्योंकि सत् पदार्थ का तो कभी नाश नहीं होना चाहिए।

(२) यदि यह कहा जाय कि शरीर के साथ हमारा आत्मा जन्मता-मरता नहीं जन्मने के पहले और मरने के बाद भी वह बना रहता है, तो जन्म के पहले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व का ज्ञान हमें सदा क्यों नहीं रहता? तथा जन्म के पूर्व की बात हम याद क्यों नहीं रखते? एवं मरने का डर क्यों लगता है?

(३) यदि हमारा "अपना आप" चित् अर्थात् ज्ञान-स्वरूप है, तो फिर हम अल्पज्ञ क्यों हैं ? संसार के सभी देश, काल और वस्तुओं का हमें ज्ञान क्यों नहीं होता ?

(४) यदि हमारा "अपना आप" आनन्द है, तो हमें अनेक प्रकार के दुःख और बन्धन क्यों होते हैं ? हम सदा सुखी और मुक्त ही क्यों नहीं रहते ?

(५) यदि हमारा "अपना आप" सर्वव्यापक है, तो किसी विशेष देश और विशेष काल तथा विशेष व्यक्ति में ही हमारा अस्तित्व परिमित क्यों है ? हम अपने को एक साथ सर्वत्र उपस्थित अनुभव क्यों नहीं करते ? -

(६) यदि हमारा सबका "अपना आप" सम है, तो एक दूसरे में इतनी विषमता क्यों है ? कोई सुखी और कोई दुःखी, कोई धनी और कोई निर्धन, कोई ऊँचा और कोई नीचा, कोई निर्बल और कोई सबल, कोई रोगी और कोई नीरोग, कोई विद्वान् और कोई मूर्ख क्यों है ? और एक ही व्यक्ति कभी सुखी और कभी दुःखी—आदि अनेक प्रकार की विषमताएँ दृष्टिगोचर क्यों हो रही हैं ?

(७) यदि हमारा सबका "अपना आप" एक है, तो सबके सुख-दुःख और अन्य मानसिक विकार, एक दूसरे को अनुभव क्यों नहीं होते ? सबका आपस में मेल क्यों नहीं रहता ? अलग-अलग व्यक्तियों के अलग-अलग स्वभाव, अलग-अलग सुख-दुःख आदि क्यों होते हैं ?

उपरोक्त शङ्काओं का समाधान नीचे लिखे अनुसार है।—

(१) शरीरों के जन्मने और मरने से अपने वास्तविक आपका जन्मना-मरना नहीं होता, केवल स्वाँग का परिवर्तन होता है; न अपने वास्तविक आपकी उत्पत्ति और नाश ही होते हैं, इस विषय का खुलासा पहले कर आये हैं। शरीर तो पञ्च भूतों के सम्मिश्रण का बनाव है और यह बनाव प्रतिक्षण बदलता रहता है; शरीर का जन्मना पञ्च भूतों के सम्मिश्रण का एक विशेष रूप होता है और मरना उसका दूसरा रूप। इन रूपों के बदलने से उनके आधार पञ्च भूत और पञ्च भूतोंके आधार आत्मा—जो सबका "अपना आप" है—के अस्तित्व में किसी प्रकार की घटा-बढ़ी अथवा विकार नहीं होते। आत्मा पञ्च भूतों के सम्मिश्रण का कभी कोई और कभी कोई स्वाँग (बनाव) धारण करता रहता है। शरीर के जन्म के पहले और मरने के बाद भी, पञ्च भूत ज्यों के त्यों बने रहते हैं—केवल नाम और रूप का उनमें परिवर्तन होता है और वह परिवर्तन ही उत्पत्ति और नाश प्रतीत होते हैं।

उत्पत्ति और नाश सापेक्ष द्वन्द्व (जोड़े) हैं अर्थात् आपस में अन्योन्याश्रित हैं, अतः वास्तव में उत्पत्ति और नाश कुछ भी नहीं होता। सब शरीरों और पञ्च तत्त्वों का आधार आत्मा यानी "अपना आप", उक्त परिवर्तन की सब दशाओं में ज्यों का त्यों बना रहता है, इसलिए उसकी सत्यता और नित्यता स्वतः सिद्ध है।

(२) इस जन्म के पहले के और मरने के बाद के हमारे अस्तित्व के ज्ञान के संस्कार हम सबमें रहते तो अवश्य हैं पर वे अप्रकट-रूपमें रहते हैं। यह इसीसे सिद्ध है कि इस शरीर की अबोध (शैशव) अवस्था में ही अनेक चेष्टाएँ हम ऐसी करते हैं जो पूर्वके अभ्यास बिना हो नहीं सकतीं और जिनका हमने इस जन्म में कभी अभ्यास नहीं किया—जैसे खाना, पीना, रोना, हँसना आदि, और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के तरह-तरह के स्वभाव और सुख-दुःख आदि जन्म के साथ ही लगे हुए रहते हैं, और यह बातें पूर्वजन्म के संस्कारों के बिना हो नहीं सकतीं। अब रही मरने के बाद हमारे अस्तित्व के अनुभव की बात, सो यद्यपि इस बात का सबको निश्चय है कि दस, बीस, पचास या अधिक से अधिक सौ वर्षों से अधिक यह शरीर नहीं रहेगा, फिर भी लम्बी मुद्दत के लिए ऐसे सामान—परलोक में विश्वास न रखने वाले भी एकत्र करते रहते हैं और अनेक प्रकार के ऐसे प्रबन्ध बाँधते रहते हैं कि जो उनके वर्तमान शरीर के उपयोग में नहीं आ सकते; परन्तु अपने उत्तराधिकारियों को, अपने मरने के बाद भी वे अपने ही समझते हैं अर्थात् मृत्यु के बाद भी उनसे अपना सम्बन्ध कायम रहना मानते हैं, तभी तो उनके लिए इतना परिश्रम करते हैं; नहीं तो यदि मरने के बाद अपने अस्तित्व की सर्वथा समाप्ति हो जाना मानते तो उत्तराधिकारियों से किसका सम्बन्ध रहता, जिनके लिए इतने प्रबन्ध बाँधने का परिश्रम किया जाता है। अतः हम लोग चाहे अपनी अल्पज्ञता के कारण प्रत्यक्ष में अनुभव न करें, परन्तु वास्तव में अपना अस्तित्व सदा बना रहना रूपान्तर से मानते ही हैं।

जन्म के पूर्व की बातें याद न रहने का कारण यह है कि प्रथम देह छोड़ कर दूसरी देह धारण करने के बीचमें दीर्घ काल का अन्तर बेहोशी यानी अचेतनता का पड़ता है, जिसमे पूर्व के संस्कारों की स्मृति दब जाती है। इस शरीर में भी मूढ़ताग्रस्त तामसी जीवों की स्मृति कम होती है और शैशव अवस्था की बातें बड़े होने पर याद नहीं रहतीं, यद्यपि शरीर वही होता है। वर्तमान में भी हमारे शरीर मे अनन्त क्रियाएँ ऐसी हो रही हैं जिनका हमको कुछ भी पता नहीं है यद्यपि उन क्रियाओं के करने वाले हम ही होते हैं। डाक्टरों ने भी अब विज्ञान द्वारा सिद्ध कर दया है कि छः-सात दिन तक लगातार बेहोशी रहे तो इसी शरीर के पहले के

रक्खा, किन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और सुखों को दूसरों के स्वार्थों और सुखों के अन्तर्गत समझ कर कार्य किया—यहाँ तक कि बहुत से आविष्कर्त्ताओं ने अपनी सारी आयु इसीमें बिता दी और बहुतों ने प्राण भी दे दिये और जब सफलता मिली तो उससे सबने लाभ उठाया। इसी तरह यदि हम व्यक्तित्व के भाव से ऊपर उठ कर दूसरों से अपनी एकता बढ़ाते-बढ़ाते सर्वात्म-भाव तक पहुँच जायँ, तो हमको सबका ज्ञान हो सकता है। आत्मा तो ज्ञान-स्वरूप ही है। स्वयं हमने ही व्यक्तित्व के अहङ्कार से अपने ज्ञान के इर्द-गिर्द व्यक्तित्व की चारदीवारी खड़ी कर रक्खी है। यद्यपि आँखों में दूर तक देखने की शक्ति होती है और दीपक में दूर तक प्रकाश डालने की ज्योति होती है, परन्तु उनके सामने यदि आड़ खड़ी कर दी जाय तो आँखें दूर तक देख नहीं सकेंगी, और दीपक दूर तक प्रकाश नहीं डाल सकेगा।

(४) सांसारिक विषयों से होने वाले दुःख अथवा सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। सुख की अपेक्षा से दुःख और दुःख की अपेक्षा से सुख प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये सुख और दुःख दोनों ही झूठे हैं। यदि ये सच्चे होते तो प्रत्येक अपने ही आधार पर, यानी स्वतन्त्र रूप से सदा बने रहते। इसके अतिरिक्त सुख और दुःख की अवस्था कभी स्थिर नहीं रहती, और न किसी पदार्थ में सुख अथवा दुःख सदा एकसार बना रहता है। किसी अवस्था में कोई पदार्थ सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरी अवस्था में फिर वही पदार्थ महान् दुःखदायक हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में सुख-दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं होता, और सुषुप्ति अवस्था प्रतिदिन-मात्र के लिए जाग्रत और स्वप्न दोनों से बहुत बड़ी होती है। आत्मज्ञान की तुरीय अवस्था और योग की समाधि अवस्था में भी सुख-दुःख का भान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सुख-दुःख दोनों ही कल्पित हैं। जिस वस्तु में हमारी जैसी भावना होती है वह वैसी ही सुखदायक अथवा दुःखदायक बन जाती है। हम अपनी ही बुद्धि से और अपने ही मन के सङ्कल्प से सुख और दुःख की कल्पना करके सुखी-दुःखी होते हैं। यदि हम चाहें तो सुख-दुःख की कल्पना से रहित हो सकते हैं। फिर सुख-दुःख ज़रा भी न रहेंगे। हमारा वास्तविक "आत्म-स्वरूप" तो स्वभाव से ही इन सुख-दुःखों से रहित [illegible] आनन्दस्वरूप है।

[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

कोई नहीं करता, फिर दुःख हमने स्वतः कैसे उत्पन्न कर लिये ? इसी तरह बन्धन में भी कोई नहीं रहना चाहता, फिर बन्धन हमने स्वयं कैसे उत्पन्न कर लिये ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है, कि यद्यपि हम अपने लिए दुःख और बन्धन नहीं चाहते, परन्तु यह बात भी बिलकुल सत्य है कि दुःख और बन्धन हमने स्वयं ही उत्पन्न किये हैं और कर रहे हैं और उनसे अलग होना नहीं चाहते। पहले कह आये हैं कि सांसारिक पदार्थों का सुख और दुःख, दोनों सापेक्ष हैं, एक का होना दूसरे पर निर्भर है, एक के होने के लिए दूसरे का उतनी ही मात्रा में होना अनिवार्य है। जितनी मात्रा में एक उत्पन्न होता है उतनी ही मात्रा में दूसरा साथ ही उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में यदि यों कहें तो अनुचित नहीं होगा कि ये एक ही वस्तु के दो रूप हैं—एक क्रिया (action) और दूसरा उसकी प्रतिक्रिया (re-action) है, अतः ये दोनों साथ ही रहते हैं। इसलिए जब हम आनन्द-स्वरूप अपने आपको भूल कर सांसारिक विषयों के सुख की कामना करके उनमें आसक्ति करते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया—दुःख स्वयं उत्पन्न करते हैं। जिस सांसारिक पदार्थ का संयोग होता है, उसका वियोग होना अनिवार्य है; अतः जिसके संयोग से जितना सुख माना जाता है, उसके वियोग में उतना ही दुःख होना अवश्यम्भावी है, और इन सांसारिक सुखों की आसक्ति हम छोड़ना नहीं चाहते, अर्थात् हम सदा इन सुखों को भोगते रहने ही की इच्छा रखते हैं—कभी इनका वियोग सहन नहीं कर सकते, और जब कि सुख और दुःख साथ ही रहते हैं, तो इससे स्पष्ट सिद्ध है कि दुःखों को भी हम छोड़ना नहीं चाहते। यदि किसीको नशे आदि की आदत पड़ जाती है, तो वह उससे बहुत दुःखी होता है, परन्तु जब तक वह उस व्यसन को नहीं छोड़ देता तब तक वह उस दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता—यद्यपि आदत डालना और छोड़ना उसके अधिकार में होता है।

अपने आपके साथ व्यक्तित्व के भाव की उपाधि और उस व्यक्तित्व के साथ जाति-विशेष, नाम-विशेष, कुल-विशेष, धर्म-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष, समाज-विशेष निवास-विशेष, पद-विशेष और प्रतिष्ठा-विशेष आदि अनेक प्रकार की उपाधियों के अहङ्कार के बन्धन और अनन्त प्रकार की कामनाएँ हम स्वयं अपने साथ लगाते हैं और उन विविध प्रकार की उपाधियों एवं कामनाओं के कारण अपनी आवश्यकताएँ भी बहुत बढ़ा लेते हैं क्योंकि प्रत्येक उपाधि के साथ उनकी विशेष आवश्यकताएँ लगी हुई रहती हैं, अतः जितनी अधिक उपाधियाँ होती हैं उतनी ही अधिक व्यक्तित्व का अहङ्कार और उतनी ही अधिक आवश्यकताएँ होती हैं और व्यक्तित्व के अहङ्कार, व्यक्तिगत आवश्यकताओं एवं कामनाओं की आसक्ति ही मनुष्यों को

परवश करती है। फिर हमको इन उपाधियों के बन्धन और कामनाओं की परवशताएँ इतनी प्यारी लगती हैं कि उनसे ऊपर उठ कर उनसे परे अपने आपके यथार्थ-स्वरूप में स्थित होना नहीं चाहते, और उनसे ऊँचे उठे बिना अर्थात् उनकी आसक्ति से रहित हुए बिना बन्धनों से मुक्ति नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि हम स्वयं ही बन्धनों से मुक्त होना नहीं चाहते। जो इन उपाधियों और कामनाओं से जितना ही ऊपर उठता है अर्थात् उनमें जितनी कम आसक्ति रखता है, उतना ही वह बन्धनों से मुक्त होता है। वास्तव में सबका "अपना आप" तो आनन्द और मुक्त-स्वरूप ही है; "अपने आप" के असली स्वरूप, यानी सर्वात्म-भाव को भूल कर व्यष्टित्व की उपाधियों और व्यष्टिगत विषय-सुखों की कामना ही में आसक्त होने से दुःख और बन्धन प्रतीत होते हैं।

(५) हमने अपनी ही इच्छा से व्यष्टित्व के भाव में आसक्ति करके अपने सर्वव्यापक-भाव के बदले छोटे से शरीर ही को "अपना आप" मान कर, शरीर से सम्बन्ध रखने वाले विशेष देश, विशेष काल, विशेष व्यक्तियों और विशेष वस्तुओं के साथ राग की आसक्ति कर ली, तब शेष सब देश, काल, व्यक्ति और वस्तुओं से द्वेष स्वतः ही हो गया; क्योंकि राग की प्रतिक्रिया द्वेष होना स्वाभाविक है। अतः जितनी थोड़ी सी हद तक हमने अपना सम्बन्ध जोड़ा, उतनी थोड़ी सी हद तक ही अपना अस्तित्व परिमित कर लिया; बाकी सबसे हमने अपने अस्तित्व का सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। जेल की चारदीवारी के अन्दर कैद होने वाले का अस्तित्व जेल की चारदीवारी तक ही सीमाबद्ध रह जाता है। यदि वह जेल से अपनी मुक्ति कर ले तो उसके बाहर, उसके अस्तित्व का सम्बन्ध विस्तृत हो सकता है। इसी तरह व्यष्टित्व के भाव-रूपी जेलखाने में यदि हम बाहर निकल कर सर्वात्म-भाव में अपनी स्थिति कर लें तो हम अपनी सर्वव्यापकता का अनुभव कर सकते हैं। पर न तो हम व्यष्टित्व का भाव छोड़ना चाहते हैं और न सर्वव्यापक होना ही।

(६) सब विषमताएँ हमने अपनी इच्छा से उत्पन्न की हैं और कर रहे हैं। संसार के सभी पदार्थों में हम लोग एक दूसरे से बराबरी करने की दौड़-धूप में लगे हुए हैं। हमारे जितने प्रयत्न होते हैं वे एक दूसरे से अधिक सुखी, अधिक सम्पत्तिशाली, अधिक बलवान और अधिक उन्नत होने के लिए होते हैं। एक दूसरे से आगे निकलने के लिए दिन-रात घुड़-दौड़सी होती रहती है। अपने स्वार्थ-साधन के लिए एक दूसरे को दबाने, एक दूसरे को गिराने एवं एक दूसरे को कष्ट देने के लिए एक दूसरे से छीना-झपटी सदा चलती रहती है जब हम दूसरों को

अपने से पृथक् समझ कर उनको दबाने और दुःख देने की चेष्टाएँ करते हैं, तो उनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे भी हमें दबाने और दुःख देने की चेष्टाएँ करते हैं; अतः इन्हीं चेष्टाओं द्वारा अनन्त प्रकार की विषमताएँ हम ही उत्पन्न करते हैं। यदि हम इस तरह की खींचातानी छोड़ दें तो कोई विषमता न रहे, क्योंकि वास्तविक "अपना आप" तो स्वभाव से ही सम है। परन्तु हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए बढ़ाचढ़ी की खींचातानियों को छोड़ना नहीं चाहते, फलतः विषमताएँ मिटाना नहीं चाहते। वर्तमान समय में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जगत् में विषमताएँ इतने भयानक रूप से बढ़ गई हैं कि लोग अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, और दुःखों से छुटकारा पाने के लिए, संसार के प्रायः सभी राष्ट्र छटपटा रहे हैं, और बहुत से विचारशील पुरुष यह अनुभव करते हैं कि जब तक अलग-अलग व्यक्तिगत और भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय स्वार्थों की खींचातानियाँ छोड़ कर, सबकी एकता स्वीकार करके, सबके सम्मिलित स्वार्थों के लिए प्रयत्न नहीं किया जायगा, तब तक सुख-शान्ति नहीं हो सकती (क्योंकि जगत् वास्तव में एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के कारण एक दूसरे के सुख-दुःख की क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव आपस में पड़े बिना कदापि नहीं रहता), परन्तु अपने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय स्वार्थों को दूसरों के स्वार्थों के अन्तर्गत मानना कोई भी राष्ट्र वास्तव में नहीं चाहता, इसलिए विषमताएँ और उनसे होने वाले दुःख भी नहीं मिट सकते। परन्तु इतनी विषमताएँ होते पर भी सबका "अपना वास्तविक आप = आत्मा" तो सम ही रहता है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है—उसमें सब विषमताओं का एकीकरण हो जाने से सबका एकत्व-भाव सम हो जाता है। सुखी-दुःखी, ऊँचा-नीचा, धनी-ग़रीब आदि द्वन्द्वों (जोड़ों) की सभी विषमताएँ सापेक्ष हैं जितनी मात्रा में एक होती है, उतनी ही मात्रा में दूसरी होती है। सबका एकीकरण हो जाने से आपस में एक दूसरे से कट कर कोई विषमता शेष नहीं रहती—सर्वत्र समता हो जाती है। अतः जिन आत्मज्ञानी महापुरुषों ने सबकी एकता का सच्चा अनुभव कर लिया है, उनके लिए कोई विषमता नहीं है, परन्तु जो लोग एकता को स्वीकार न करके, अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार में उलझ रहे हैं उनको विषमता-जन्य दुःख हुए बिना नहीं रहते।

(७) हम, सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के भाव को भुला कर एवं अलग-अलग व्यक्तित्व के भाव को सच्चा मान कर उसके अनुसार आचरण करते रहते हैं इसीसे हमें एक दूसरे के सुख दुःख आदि विकारों की प्रतीति नहीं होती। जितने व्यक्तियों के साथ हम जिस दर्जे की अपनी एकता मानते हैं उतने व्यक्तियों के सुख-दुःखादि का अनुभव हमको उसी दर्जे का होता है। अपने शरीर के साथ हम

अपनी पूर्ण एकता मानते हैं, इससे अपने शरीर के सुख-दुःख का अनुभव हमको पूर्ण रूप से होता है। अपने शरीर के सम्बन्धी—अपने स्त्री-पुत्रादिकों को अपने सब से निकट के सम्बन्धी मान कर उनके साथ दूसरों की अपेक्षा अधिक एकता मानते हैं, अतः उनके सुख-दुःख आदि का प्रभाव हम पर अपने शरीर के सुख-दुःखों से दूसरे नम्बर का होता है। उनके बाद अपने कुटुम्बियों, उनके बाद जाति-बान्धवों, उनके बाद ग्रामनिवासियों और उनके बाद देशवासियों के साथ उत्तरोत्तर अपनी एकता हम कम मानते हैं, उसीके अनुसार उनके सुख-दुःखादि के अनुभव हमको उत्तरोत्तर कम होते जाते हैं, और जिनके साथ हम अपनी एकता का सम्बन्ध बिलकुल नहीं मानते, उनके सुख-दुःख आदि का अनुभव हम बिलकुल नहीं करते। जिसने अपने आपको जिस तरह का मान रक्खा है और जिसने दूसरों के साथ जिस तरह का सम्बन्ध बना रक्खा है उसको उसी तरह के सुख-दुःख आदि प्रतीत होते हैं और उसका उसी तरह का स्वभाव बन जाता है। वास्तव में सबके असली "अपने आप" में न तो कोई भेदभाव है और न कोई सुख-दुःख ही। यदि पृथक्ता के भाव छोड़ कर सबसे एकता का सच्चा अनुभव हो जाय तो सुख-दुःख आदि द्वन्द्व कोई शेष ही न रहें।

सारांश यह कि हमने स्वयं अपने आपके वास्तविक स्वरूप को बिसार कर अनन्द, अज्ञान, दुःख, अल्पापकत्व, विषमता, अनेकता आदि विपरीत भाव कल्पित कर लिये हैं और इन्हींको सच्चा मान कर इनमें आसक्ति कर ली है—यहाँ तक कि इनको छोड़ना ही नहीं चाहते—अतः जब तक हम "अपने आप" का यथार्थ अनुभव न करलें, तब तक ये भाव बने ही रहेंगे।

इस पर एक बड़ा ही पेचीदा प्रश्न उठता है कि हम अपने वास्तविक आपको यानी सबकी एकात्मस्वरूप आत्मा को भूले ही क्यों? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर "अपना आप" ही दे सकता है, क्योंकि अपनी करनी का सच्चा रहस्य अपने सिवाय दूसरा कौन जाने? जब तक अपने आपसे अलग दूसरे पर इस प्रश्न का उत्तरदायित्व रक्खा जाता है तब तक इसका पूर्णतया समाधान नहीं हो सकता। यह रहस्य कहने-सुनने से परे, केवल "अपने आप" के अनुभव का विषय है। जब "अपने आप" का पूर्ण रूपसे यथार्थ अनुभव हो जाता है, तब इस प्रश्न का समाधान आप ही हो जाता है। इसलिए इस प्रश्न का समाधान दूसरों से करवाने के झमेले में न पड़ कर "अपने आप" का यथार्थ अनुभव प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि जिससे यह प्रश्न किया जाता है, वह भी तो उक्त सिद्धान्त के अनुसार "अपना आप" ही है, तो यह पूरा अनुभव हो जाने में कि सब "अपना आप" ही है, फिर यह प्रश्न ही शेष नहीं रहता, क्योंकि उस दशा में तो कुछ अनन्द, भूल, भ्रम

अनुभव किया था परन्तु जागने पर उन सबको मिथ्या जान कर चित्त पर उनका कोई प्रभाव नहीं रक्खा। वास्तव में न हम कभी दुखी हुए और न हम कभी किसीसे बँधे। ऐसी दशा में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हमको यह विकार कहाँ से हुए। इसी तरह यद्यपि जाग्रत जगत् का भी दृश्य और उसके द्रष्टा दोनों हम ही हैं, परन्तु अज्ञान दशा में द्रष्टा अथवा कर्ता अथवा भोक्ता तो हम अपने को मानते हैं—दृश्य अथवा कर्म अथवा भोग्य हम अपने से भिन्न तथा दूसरे के रचे हुए मानते हैं और इसीसे नाना भाँति के सुख-दुःख आदि विकार हम अपने लिए स्वयं ही कल्पित कर लेते हैं। परन्तु आत्मज्ञान अर्थात् "अपने आप" का यथार्थ अनुभव हो जाने पर यह निश्चय हो जाता है कि जगत् का नानात्व सब हमारे ही मन की कल्पना थी—हमसे भिन्न कुछ नहीं था। हम ही द्रष्टा, कर्ता अथवा भोक्ता थे और हम ही दृश्य, कर्म अथवा भोग्य थे। अतः वास्तव में न हम कभी दुखी हुए, न हम किसीसे बँधे, क्योंकि दुःख या बन्धन हमसे भिन्न कुछ था ही नहीं; फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हममें ये विकार कहाँसे आये थे।

प्रसङ्गवश यहाँ स्वप्न के विषय में कुछ खुलासा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है; क्योंकि स्वप्न क्या है, इस विषय में बहुत मतभेद है। स्वप्न मन के सङ्कल्पों की सूक्ष्म सृष्टि है। पूर्व और वर्तमान के शारीरिक और मानसिक व्यापारों अथवा कर्मों के अनुसार जिस तरह की वासनाओं के संस्कार चित्त पर अङ्कित होते हैं, उन्हींके अनुसार मन में नाना भाँति के सङ्कल्प उठते हैं, और वे सङ्कल्प ही सूक्ष्म (स्वप्न) सृष्टि-रूप होते हैं; और वही स्थूल होकर जाग्रत सृष्टि-रूप से व्यक्त होते हैं। तात्पर्य यह कि मन और शरीरों द्वारा जो-जो क्रियाएँ हम सदा—अनेक जन्मों में—करते रहते हैं, उनके अनुसार मन में अनेक प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं; इन वासनाओं के संस्कार चित्त पर अङ्कित होते रहते हैं और उन संस्कारों के अनुसार मन में तरह-तरह के सङ्कल्प उठते रहते हैं। पतले और चञ्चल संस्कारों से उत्पन्न मन के सङ्कल्प निर्बल और अदृढ़ होते हैं, अतः वे चञ्चल एवं अस्पष्ट सूक्ष्म (स्वप्न) सृष्टि-रूप से ही व्यक्त होते हैं; परन्तु जब संस्कार गहरे एवं दृढ़ हो जाते हैं तब उनसे उत्पन्न मन के सङ्कल्प, सूक्ष्म से स्थूल रूप होकर स्थूल (जाग्रत) सृष्टि रूप बन जाते हैं। इस तरह वासनात्मक मन के संकल्पों से सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि, और सृष्टि के कर्मों से फिर वासना, और वासना से फिर सृष्टि होने का चक्कर चलता रहता है। तात्पर्य यह कि मन के सूक्ष्म संकल्प ही स्वप्न हैं। जिस तरह बाइस्कोप के फिल्मों में नाना प्रकार के दृश्य सूक्ष्म रूप से भरे हुए रहते हैं, और छोटी वस्तु को बड़ी दिखाने वाले काँच द्वारा बृहदाकार (Magnify) होकर बड़े-बड़े दृश्य बन जाते हैं, उसी तरह चित्त रूपी फिल्म पर पूर्व वासनाओं के

संस्कार सूक्ष्म रूपसे भरे हुए रहते हैं, और वे मन के संकल्प रूपसे स्वप्न-सृष्टि-रूप होकर बड़े आकार में व्यक्त होते हैं। परन्तु मन जब द्वैत भाव के विकारों से अथवा शरीर की अस्वस्थता से विक्षिप्त होता है, तभी यह उन संस्कारों को व्यक्त करता है। मन और शरीर की पूर्ण स्वस्थ दशा में स्वप्न नहीं आते। यदि वर्तमान में मन शुभ कार्यों और शुभ वासनाओं में लगा हुआ होता है, तो वह उनके अनुकूल ही पूर्वके शुभ कार्यों और शुभ वासनाओं के संस्कार व्यक्त करता है, जिनसे अच्छे स्वप्न दीखते हैं; और जब मन अशुभ कार्यों और बुरी वासनाओं में लगा हुआ होता है, तब यह उनके अनुकूल पूर्वके बुरे संस्कार व्यक्त करता है, जिनसे खोटे—भयावने स्वप्न दीखते हैं (बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ३ मन्त्र ९ से २०)। स्वप्नावस्था में वासनात्मक मन की प्रधानता रहती है—व्यवसायात्मिका बुद्धि का विकास प्रायः दबा हुआ रहता है; इसलिए वहाँके व्यवहारों में विवेक का प्रदर्शन बहुत कम होता है, और पूर्वके एकत्रित अनेक संस्कारों का सम्मिलित एवं अव्यवस्थित प्रदर्शन होने से घोटाला-सा हो जाता है, इसलिए अधिकतर स्वप्न विशृङ्खल यानी ऊटपटाँग होते हैं। जाग्रत अवस्था में भी विक्षिप्त मन में कभी-कभी पूर्वके संस्कारों का प्रादुर्भाव होकर स्वप्न की-सी दशा हो जाती है और अनहोने दृश्य दीखने लगते हैं तथा बिना किसी दृष्ट कारण के मन में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु चित्त की स्वस्थता अर्थात् एकाग्रता में इस तरह के जाग्रत-स्वप्न नहीं होते।

सारांश यह कि जिस तरह स्वप्नावस्था के सब बनाव हमारी ही पूर्व और वर्तमान की मानसिक वासनाओं और क्रियाओं के संस्कारों का सूक्ष्म दृश्य होता है, उसी तरह जाग्रत अवस्था के सब बनाव भी हमारी ही पूर्व और वर्तमान की मानसिक वासनाओं और क्रियाओं के संस्कारों के स्थूल दृश्य-मात्र हैं और जिस तरह हमारे ही रचे हुए स्वप्न-प्रपञ्च का रहस्य स्वप्नावस्था ही में, अपने स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण जाना नहीं जा सकता—जागने पर ही अपने स्वरूप का ज्ञान होने से जाना जा सकता है, उसी तरह हमारे ही रचे हुए जाग्रत-प्रपञ्च का रहस्य भी अपने वास्तविक आपके अज्ञान की अवस्था में जाना नहीं जा सकता, जब अपने आपका यथार्थ अनुभव हो जाता है, तब ही जाना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न आमतौर से उठता है कि जब हम ही अपने मन के संकल्प से सब रचनाएं करते हैं, तो उनका हमको प्रत्यक्ष अनुभव और स्मरण क्यों नहीं होता और उन पर हमारा पूर्ण अधिकार क्यों नहीं होता? हम चाहते रहते हैं और होता कुछ और ही है। इसका उत्तर यह है कि हमारे संकल्पों की रचनाओं का हमको अनुभव और स्मरण न होने और उन पर हमारा अधिकार न होने का कारण

यदि हमारे सङ्कल्प और आचरण इसके विपरीत होते हैं तो हमारी सृष्टि भी इसके विपरीत होती है। वास्तव में हमारे जगत् के रचयिता हम ही हैं। जिस तरह शरीर के अन्दर की क्रियाओं का अनुभव और उन पर अधिकार हम अपने मन की वृत्तियों को अन्तर्मुख अर्थात् एकाग्र करके प्राप्त कर सकते हैं, उसी तरह शरीर के बाहर की समष्टि क्रियाओं को हम समष्टि जगत् से एकता करके अपनी ज्ञान-शक्ति को बढ़ा कर जान सकते हैं, और उन पर अधिकार भी प्राप्त कर सकते हैं। और जिस प्रकार वृत्ति जब तक भिन्नता के भावों में बहिर्मुख अर्थात् बिखरी हुई रहती है, तब तक शरीर के अन्दर की क्रियाओं का ज्ञान होना सम्भव नहीं; उसी तरह हम जब तक दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार की चारदीवारी में घिरे रहते हैं और अपने छोटे-से सङ्कुचित दायरे के सिवाय दूसरे सारे जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद किये हुए हैं, तब तक जगत की घटनाओं के विषय में यथार्थ ज्ञान और उन पर अधिकार प्राप्त कर सकना असम्भव है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या हम मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ करने में स्वतन्त्र हैं? क्या कर्म करना पूर्णतया हमारे अधिकार में है? प्रत्यक्ष अनुभव से तो इस विषय में साधारण लोगों को स्वतन्त्रता बहुत कम प्रतीत होती है, इसलिए यहाँ कर्मों के विषय में संक्षेप से विचार किया जाता है। कर्म चाहे मानसिक हों या शारीरिक, सब जड़ हैं, अतः वे स्वयं (अपने आप) सम्पादित नहीं होते किन्तु चेतन की अध्यक्षता से उनका सम्पादन होता है, अर्थात् चेतन आत्मा ही कर्मों का सञ्चालक है, और जो किसी कार्य का सञ्चालक होता है, वह कार्य उसीके अधिकार में होता है। अतः यदि हम अपने को चेतन आत्मा अनुभव करें तब तो स्वभावतः हम कर्मों के स्वामी हैं और कर्म करने में पूरे स्वतन्त्र हैं, परन्तु यदि हम अपने को जड़ शरीर का पुतला मान कर शरीर के विषयों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों ही में आसक्त हो जायें तो हम कर्मों के आधीन हो जाते हैं। यद्यपि कर्मरूपी जगत् को आत्मा ही अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक रचता है, परन्तु अपने ही रचे हुए कर्मों के मोह में फँस कर जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, तब उनके आधीन होकर, नदी की बाढ़ में बहने वालों की तरह कर्मों के प्रवाह में बहता चला जाता है— और जब तक उस मोहरूपी निर्बलता को हटा कर आत्मानुभवरूपी शक्ति का उपयोग नहीं करता तब तक कर्मरूपी नदी के प्रवाह से निकलने में असमर्थ रहता है। शरीर और इन्द्रियों से ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि और बुद्धि से ऊपर आत्मा है। जिनका मन बुद्धि के आधीन न रह कर इन्द्रियों के वश में हो जाता है, उनको मानसिक और शारीरिक कर्म करने में कोई स्वतन्त्रता नहीं रहती, परन्तु जिनका मन बुद्धि के आधीन रहता है और

बुद्धि सात्त्विक (आत्माभिमुख) होती है, वे कर्म करने में स्वतन्त्र होते हैं। बुद्धि जितनी अधिक सात्त्विक (आत्माभिमुख) होती है, उतनी ही स्वतन्त्रता अधिक होती है और जितनी कम सात्त्विक होती है उतनी ही स्वतन्त्रता कम होती है। रज-तमप्रधान बुद्धि, मन को अपने आधीन नहीं रख सकती, किन्तु स्वयं मन के आधीन हो जाती है, और मन इन्द्रियों के वश में हो जाता है। इन्द्रियों द्वारा कर्म होते हैं अतः बुद्धि कर्मानुसारिणी हो जाती है, अर्थात् जैसे कर्म किये जाते हैं वैसे ही विचार उत्पन्न होने लगते हैं और फिर उन विचारों के अनुसार कर्म होते हैं। इसी तरह कर्मों के अनुसार बुद्धि और बुद्धि के अनुसार कर्मों का चक्कर निरन्तर चलता रहता है; और कर्मों के बन्धन से तब तक छुटकारा नहीं मिलता, जब तक कि बुद्धि को सात्त्विक अर्थात् आत्माभिमुख करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता है। किसी सम्राट् ने अपने मनोरञ्जन के लिए स्वेच्छा से शिकार खेलने अथवा अन्य प्रकार के किसी खेल के लिए अपनी राजधानी से दूर, किसी विनोद के स्थल में जाकर वास किया। वहाँ नाना प्रकार के सुहावने, मन को मुग्ध करने वाले दृश्य और भोग-विलास की भाँति-भाँति की सामग्रियाँ, जो स्वयं उसने वहाँ रख छोड़ी थीं, उनमें उलझ कर वह अपने साम्राज्य को भूल गया और उसी विलास-भूमि में ममत्व करके निरन्तर वहीं रहने लग गया; यहाँ तक कि अपने सम्राट्पन की उसको कुछ भी स्मृति न रही, और अपने को एक साधारण व्यक्ति मान कर अपने ही कर्मचारियों के आधीन हो गया। यद्यपि वह साम्राज्य का मालिक था और सारा देश, सारी सम्पत्ति तथा सब ऐश-आराम के सामान एवं सब कर्मचारी उसीके थे, परन्तु अपने पद के अज्ञान से वह एक तुच्छ व्यक्ति, एवं सबका आश्रित बन गया और सब कोई उसका अपमान करने लगे। यदि वह उस तुच्छ ऐश-आराम की क्रीडा-भूमि की आसक्ति छोड़ कर अपने वास्तविक स्वरूप का स्मरण करके, अपनी राजधानी में लौट आता तो उसकी हीनता और दीनता तुरन्त मिट जाती, फिर अपने साम्राज्य का स्वामी तो वह था ही। यही हाल प्रत्येक देहधारी जीवात्मा का है। उसने अपनी इच्छा से कर्म-रूप इस जगत् का खेल रचा और स्वयं ही अपनी मनोहर रचना में आसक्त होकर अपने असली स्वरूप और अपनी सर्वशक्तिमत्ता को बिसार कर अपने रचे हुए कर्मों के आधीन हो गया और सबके स्वामी होने के बदले उलटा कर्मों का दास बन गया। जब तक वह उलट कर अपने असली स्वरूप का फिरसे अनुभव न कर ले तब तक परवश होकर कर्मों के प्रवाह में बहता ही रहता है। कर्मों के बन्धन में यह प्रवाह अनन्त काल तक चलता ही रहता है, और उनके विविध प्रकार के सुख-दुःख आदि फल भोगते ही रहना पड़ता है, क्योंकि कर्म और फल का जोड़ा है,

इसी तरह स्थावर पदार्थों का भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। वनस्पति (वृक्ष, लता आदि) किसी विशेष समय में एकदम नहीं उगते और न एकदम सूखते ही हैं, किन्तु उनके बढ़ने-घटने की क्रिया भी प्रतिक्षण निरन्तर चालू रहती है। खनिज पदार्थ—हीरा, पन्ना, माणिक, सोना, चाँदी, पत्थर, मिट्टी आदि भी निरन्तर परिवर्तन की क्रिया में से गुज़रते हुए अपने-अपने प्राकृत रूपमें आते हैं, और फिर भी उनका परिवर्तन एवं वृद्धि-ह्रास चालू रहता है।

काल (समय) का भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक, तथा शाम से लेकर सुबह तक, समय निरन्तर बदलता रहता है। इसी तरह ऋतु भी प्रतिक्षण बदलती रहती है। सुबह के सुहावने शीतल समय को हटा कर उसके स्थान में दोपहर की कड़ी धूप एकदम नहीं आ जाती और दिन के प्रकाश को हटा कर रात्रि का अन्धकार भी अकस्मात् पृथ्वी-मण्डल को आच्छादित नहीं कर लेता; न जाड़े की सर्दी सहसा ग्रीष्म में परिणत होती है, किन्तु सभी परिवर्तन प्रतिक्षण निरन्तर होते रहते हैं। समय की जो शीघ्रता और विलम्ब प्रतीत होते हैं, वे भी एकसार और स्थायी नहीं होते। किसी प्राणी को जो काल बहुत थोड़ा प्रतीत होता है, वही दूसरों को लम्बा प्रतीत होता है; स्वप्नावस्था में थोड़ा काल भी बहुत लम्बा प्रतीत होता है—घड़ी भर के स्वप्न में वर्षों का अनुभव हो जाता है; और सुषुप्ति अवस्था में दीर्घ काल भी बहुत थोड़ा प्रतीत होता है—घण्टों की गाढ़ निद्रा एक पल के तुल्य प्रतीत होती है। जाग्रत अवस्था में भी सुख की अवस्था का काल अल्प और दुःख की अवस्था का काल बहुत लम्बा प्रतीत होता है। इसी तरह भूत-काल अल्प और भविष्यत् बहुत लम्बा प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि काल भी एकसार नहीं रहता, वह भी निरन्तर बदलता रहता है।

यही अवस्था देश की है। किसी अवस्था में किसी-किसी दृष्टि में कोई देश बहुत विस्तृत और बहुत दूर प्रतीत होता है, और दूसरी अवस्था तथा दूसरे की दृष्टि में वही देश बहुत छोटा और निकट मालूम देता है। एक समय में कोई देश बहुत सुन्दर और सुहावना प्रतीत होता है, और दूसरे काल में वही महान् भयानक हो जाता है। किसी समय कोई नवीन देश उत्पन्न हो जाता है, और किसी समय किसी वर्तमान देश का प्रलय हो जाता है। वर्तमान में भौतिक विज्ञान, देश, काल और वस्तुओं के सम्बन्ध का अस्थायीपन, स्थूल इन्द्रियों को भी प्रत्यक्ष दिखा रहा है और उनका एकत्व सिद्ध करने की ओर अग्रसर हो रहा है। बेतार का तार (Radio Telegraphy), बेतार का टेलीफोन (Radio Telephony), बिना सम्बन्ध के दूर के दृश्य दिखाना (Radio Television) आदि आविष्कारों ने देश की दूरी और काल की लम्बाई

को समेट कर बहुत कम कर दिया है और सर्वत्र एक चालक शक्ति का व्यापक होना सिद्ध कर दिया है। रेडियम (Radium) धातु के छोटे-छोटे कणों में भी अटूट तेज-राशि भरी हुई दिखा दी; और संसार के बड़े-बड़े दृश्य बाइस्कोप के शीशों में बन्द कर लिये गये हैं। ज्यों-ज्यों भौतिक विज्ञान आगे बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों उसके द्वारा भी एकता का अधिक प्रमाण मिलता जायगा। सारांश यह कि प्रत्यक्ष अनु-भव और भौतिक विज्ञान भी जगत् की एकता को स्थायी, और भिन्नता को अस्थायी एवं परिवर्तनशील सिद्ध करता है; और जो वस्तु स्थायी नहीं होती वह सची नहीं हो सकती, किन्तु मेस्मेरिज्म या जादू के खेल की तरह केवल दिखावटी होती है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। व्यवहार में प्रत्यक्ष देखने में आता है कि कल अथवा आज ही एक घण्टे बाद किसका क्या होगा, इसका किसीको कोई निश्चय नहीं हो सकता। यदि सचाई होती तो यह अनिश्चितता नहीं रहती। प्रतिबिम्ब पकड़ने वाले मनुष्य को सब झूठा कहते हैं। बाइस्कोप के परदे पर प्रतिबिम्ब पकड़ने वाले दिमाग को सच्ची क्रियाएँ कोई नहीं मानता।

इसके अतिरिक्त देश, काल और वस्तु, यानी संसार का कोई भी पदार्थ (देश, काल और वस्तु में संसार के सभी पदार्थों का समावेश हो जाता है) सबको सदा एकसा प्रतीत भी नहीं होता। किसीको कोई वस्तु किसी अवस्था में एक प्रकार की प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में तथा दूसरे व्यक्ति को वही वस्तु दूसरी तरह की प्रतीत होती है। किसीको कोई वस्तु किसी अवस्था में अनुकूल प्रतीत होती है, दूसरी अवस्था में अथवा दूसरे व्यक्ति को वही प्रतिकूल प्रतीत होती है। दिनचरों को सूर्य प्रकाश-रूप दीखता है, निशाचरों को अन्धकार-रूप। सूखे में वृष्टि सुहावनी लगती है, अतिवृष्टि के समय वही भयानक प्रतीत होती है। भारतवर्ष में ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का तेज असह्य होता है, योरप में सूर्य के दर्शन को लोग तरसते हैं। प्यास से मरते हुए के लिए जल जीवनदाता है, वही जलोदर के रोगी तथा डूबने वाले का प्राण हरता है। सुख-शान्ति के समय जो देश प्रिय लगता है, अशान्ति और विपत्ति के समय उसको छोड़ भागना हितकर प्रतीत होता है। धन-धान्य आदि का समय, स्त्री तथा मान प्रतिष्ठा शान्ति के समय एवं योग्य व्यक्तियों के पास हों तो सुख-दायक होते हैं, विपत्ति के समय अथवा अयोग्य व्यक्तियों के पास न हों तो महान् दुःख-दायक होते हैं। [illegible] व्यक्तियों को बिना [illegible] आवश्यक होता है। दुराचा-रियों का [illegible] होता है। [illegible]

उसमे विपरीत गुणों वाले पति, पत्नी और पुत्र, शत्रु प्रतीत होते हैं। सर्दी में जो गर्म कपड़े तथा गर्म आहार-विहार अच्छे लगते हैं, गर्मी में वे ही बुरे प्रतीत होते हैं। भूखे को भोजन बहुत स्वादिष्ट लगता है, अघाये हुए को उससे ग्लानि होती है। कहाँ तक गिनाया जाय, जगत् का कोई भी व्यवहार सदा-सर्वदा एकसा नहीं रहता। यहाँ तक कि धर्म भी सदा एकसा नहीं रहता। किसी परिस्थिति में प्रेम, दया, सत्य, क्षमा, अहिंसा, शील, सन्तोष आदि सात्त्विक वृत्तियों का भी उलटा हानिकारक परिणाम होता है और उनके दुरुपयोग से बड़े अनर्थ होते हैं; और किसी परिस्थिति में काम, क्रोध, लोभ, भय आदि आसुरी भाव भी लाभदायक होते हैं—उनके सदुपयोग से लोगों का बड़ा हित होता है। अतः जो वस्तु निरन्तर परिवर्तन-शील है, एक क्षण के लिए भी एकसी नहीं रहती, उसके किस रूप को सत्य माना जाय? सत्यता के ठहरने के लिए कोई स्थिर-बिन्दु (stand point) भी तो होना चाहिए। परन्तु जगत् की भिन्नता में ज़रा भी स्थिरता (स्थिर-बिन्दु) नहीं है, इसलिए यह सत्य नहीं कही जा सकती।

भिन्नता जितनी ही अधिक होती है, उतनी ही वह कम स्थायी होती है, और उतनी ही जल्दी उसका परिवर्तन और नाश होता है, एवं उतनी ही शीघ्रता से उसके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है; और वह जितनी कम होती है, उतनी ही अधिक स्थायी होती है और उतने ही विलम्ब एवं कठिनता से उसका निश्चय होता है। इसके विपरीत, एकता जितनी ही कम होती है, उतनी ही उसकी सत्यता कम ठहरती है और जितनी अधिक होती है, उतनी ही उसकी सत्यता अधिक स्थायी होती है। सम्पूर्ण भिन्नताओं और एकताओं के दिखाव का आधार—सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा, यानी सबका "अपना आप" पूर्ण रूप से स्थायी, अतः सर्वदा सत्य है। यही अपनी इच्छाशक्ति—प्रकृति से जगत्-रूप होकर निरन्तर बनने बिगड़ने वाले, क्षण-क्षण में परिवर्तनशील, नाना भाँति के नाम-रूपात्मक भिन्नता के खेल किया करता है। वास्तव में उसके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं। इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से समझाने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

१—समुद्र में अनन्त लहरें, फेन, बुदबुद आदि उठते हैं, अनेक स्थलों में उसके ऊपर बर्फ जम जाती है, कहीं पर जल सूक्ष्म भाप-रूप हो जाता है; परन्तु जल से भिन्न ये कुछ भी नहीं होते। एक ही जल के अनेक नाम और अनेक रूप होते हैं। लहरें, फेन बुदबुद बर्फ और भाप आदि नामरूपात्मक भिन्नताएँ केवल जल का रूपान्तर मात्र होती हैं। वास्तव में सब जल ही जल होता है। इस प्रकार

हैं। इसलिए इन उदाहरणों में कारण और कार्य की भिन्नता प्रतीत होती है; परन्तु जगत् का उपादान और निमित्त—दोनों कारण, अर्थात् बनने वाला पदार्थ और बनाने वाला—एक आत्मा ही है। आत्मा स्वयं ही जड़ और चेतन रूप से जगदाकार होता है, इसलिए उसमें कारण और कार्य की भिन्नता नहीं है, अर्थात् कारण और कार्य एक हैं; और जहाँ कारण-कार्यभाव ही नहीं, उस एक, अपरिवर्तनशील, सत्य पदार्थ को समझाने के लिए, अनेक, परिवर्तनशील, मिथ्या पदार्थों के दृष्टान्त पूर्णतया उपयुक्त हो नहीं सकते। परन्तु उसके जोड़ की पूर्ण एकता की कोई दूसरी वस्तु है नहीं, जिसका दृष्टान्त दिया जा सके। वाणी से किसी शब्द का उच्चारण करना ही द्वैत हो जाता है इसलिए यद्यपि आत्मा एक अर्थात् सबका "अपना आप" होने के कारण वाणी द्वारा उसका पूर्णतया बोध नहीं कराया जा सकता, वह तो अपने अनुभव ही का विषय है, तथापि बहिर्मुख वृत्ति को लौकिक पदार्थों के उदाहरणों से ही यथाशक्य सत्य के निकट पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है; क्योंकि कई अंशों में सादृश्य होने से समझने में सुभीता हो सकता है। दृष्टान्त यदि पूर्ण रूप से दार्ष्टान्त† के समान हो जाय तो दृष्टान्त ही न रहे, किन्तु वह स्वयं दार्ष्टान्त हो जाय।

उपरोक्त दृष्टान्तों में पानी, सोना, मिट्टी, मनुष्य आदि कारणों की अपेक्षा उनके कार्य—लहरें, फ़ेन, बुद्बुद, बर्फ़, भाप, गहने, बर्तन, जाति, वर्ण, धर्म आदि पदार्थों के कल्पित नाम-रूपों की भिन्नता को परिवर्तनशील एवं मिथ्या बताया है, जिससे भ्रम हो सकता है कि इन अगणित भिन्नताओं के आधार—पानी, सोना, मिट्टी, मनुष्य आदि थोड़ी भिन्नताएँ सत्य होंगी। परन्तु जब इनके विषय में भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो ये भी परिवर्तनशील और अस्थायी सिद्ध होती हैं। जल* की उत्पत्ति तेज से, तेज* की वायु से, और वायु* की आकाश से है; और इसके उलटे क्रम से इनका लय होता है, और सबका समावेश आत्मा में होता है। सोना एक पार्थिव पदार्थ है। यह पृथ्वी में अनेक भौतिक क्रियाओं से रूप-परिवर्तन करता हुआ सोने के रूप को प्राप्त होता है, और घिसते-घिसते काल पाकर पृथ्वी में ही इसका लय हो जाता है। इसी तरह मिट्टी भी एक पार्थिव पदार्थ है। पृथ्वी की उत्पत्ति और लय जल में होते हैं। मनुष्य अपने जन्म के पहले किसी रूप में रहता है, गर्भ में तथा बाहर आने पर अनेक परिवर्तनों में से गुजरता हुआ बालक, युवा और वृद्ध होकर अन्त में मर जाता है, और मरने के बाद फिर कोई दूसरा रूप धारण करता है। प्रत्येक

† जिसके समझाने के लिए दृष्टान्त दिया जाता है वह दार्ष्टान्त कहलाता है।

* इस विषय का विशेष खुलासा आगे किया जायगा।

शरीर पञ्च-तत्त्वों के विशेष रूप या विशेष नाम का संग्रह है। अतः शरीरों की उत्पत्ति और लय, उनके कारण पञ्च-तत्त्वों में होते रहते हैं, और पञ्च-तत्त्वों की एकता आकाश में होकर, सबका आत्मा में लय हो जाता है। यद्यपि शरीरों की दृष्टि से पञ्च-तत्त्व अधिक स्थायी और अधिक सत्य प्रतीत होते हैं, परन्तु एक, नित्य एवं सत्य आत्मा की अपेक्षा पञ्च-तत्त्वों की भिन्नताएँ भी उत्पत्ति-नाशवान् और अस्थायी हैं। यद्यपि पञ्च-तत्त्वों के कार्यों की अपेक्षा वे स्वयं अधिक काल तक स्थायी प्रतीत होते हैं, परन्तु काल-भेद स्वयं ही मिथ्या है। इसका खुलासा पहले हो चुका है।

बहुत से लोगों को यह शङ्का होती है कि एक सत्य आत्मा में नाना भाँति के मिथ्या भाव आये कहाँ से? और वह इस तरह के मिथ्या और दुःखदायक बनाव करता ही क्यों है? इसी प्रकार का एक प्रश्न पहले उठाया जा चुका है, कि "हम अपने वास्तविक आपको यानी आत्मा को भूले ही क्यों?" वेदान्त-सिद्धान्तानुसार जो जो उत्तर उस प्रश्न का दिया गया है, वही इस प्रश्न का भी यथार्थ उत्तर है। जब इन भिन्नता के भावों और मिथ्या बनावों के रचयिता, आत्मा यानी "अपने आप" के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं, तो इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर अपने सिवाय दूसरा कोई दे ही कैसे सकता है? इस प्रश्न का सच्चा समाधान तो "अपने आप" ही के यथार्थ अनुभव से हो सकता है। परन्तु बहुत से स्थूल बुद्धि के लोग, भिन्नता के इन बनावों अर्थात् जगत्-प्रपञ्च का निर्माणकर्ता, "अपने आप" से भिन्न किसी दूसरे आत्मा या परमात्मा अथवा ईश्वर को मानते हैं, अतः उस दृष्टि से विचार करने पर यह प्रश्न उसी ढङ्ग का बन जाता है, जैसे कि कोई आलसी या प्रमादी अथवा काम-काज को दुःख-रूप या बोझ-रूप समझने वाला—राज-काज के विषय में बिलकुल ही अनजान—गँवार व्यक्ति, किसी सम्राट् या राष्ट्रपति के विषय में यह शङ्का करे कि सम्राट् या राष्ट्रपति, जो राज्य के काम-धन्धे अथवा खेल-कसरत आदि में शारीरिक परिश्रम करता है, उसके पीछे वे कर्तव्य कैसे लगे? और उसको यह दुःखदायक परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है? उसे किसी बात की कमी तो है ही नहीं, सब इच्छित पदार्थ मौजूद रहते हैं, फिर वह सदा पड़ा हुआ नींद ही क्यों न लेता रहे? अथवा आराम ही क्यों न करता रहे? इत्यादि। अब, जब तक वह गँवार मनुष्य इतना जानने की योग्यता प्राप्त न कर ले कि सम्राट् या राष्ट्रपति की स्थिति क्या है? वह कैसा और किस योग्यता का है? आया, वह मेरी जैसी ही योग्यता का मनुष्य है या और कुछ? और जो काम-काज वह करता है, वे मेरी तरह उसको भी बोझ या दुःख-रूप प्रतीत होते हैं या नहीं? तथा उन कामों के विषय में उसकी क्या दृष्टि है? दूसरे शब्दों में जब तक वह अपने आपको सम्राट् अथवा राष्ट्रपति के पद तक न

पहुँचा ले अथवा इतने ऊँचे दर्जे तक न पहुँचा ले कि सम्राट् या राष्ट्रपति के साथ उसका आन्तरिक सम्बन्ध हो जाय, तब तक उसकी शङ्काओं का ठीक-ठीक समाधान नहीं हो सकता। अथवा जिन लोगों का सम्राट् या राष्ट्रपति के साथ आन्तरिक सम्बन्ध हो, उनके पास पहुँचने की योग्यता प्राप्त करके, उस विषय में जो वे कहें उस पर विश्वास करे। इन उपायों के अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से उस विषय का रहस्य समझ में आना असम्भव है। जब कि पृथ्वी के एक छोटे-से भाग के स्वामी के कार्यों का रहस्य समझने के लिए भी इतनी बड़ी योग्यता की आवश्यकता होती है, तो जिसको विश्व का रचयिता और सञ्चालक माना जाय उसके अलौकिक कार्यों का रहस्य समझने के लिए कितनी महान् योग्यता सम्पादन करने की आवश्यकता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

वास्तव में आत्मा अथवा परमात्मा में भिन्नता है ही नहीं, क्योंकि यदि भिन्नता कोई सत् वस्तु हो तो उसका अस्तित्व माना जा सकता है। जब भिन्नता असत् है तो फिर उसके आत्मा अथवा परमात्मा में होने का प्रश्न उठना ही अयुक्त है। अँधेरे में अथवा दृष्टि-दोष से रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाय तो यह प्रश्न उठना अयुक्त होता है, कि यह सर्प कहाँ से और कैसे आया? क्योंकि वास्तव में वहाँ सर्प है ही नहीं—वह केवल भ्रम होता है; और सच्चिदानन्द आत्मा अथवा परमात्मा में वस्तुतः भ्रम भी नहीं है, क्योंकि आत्मा अथवा परमात्मा में कोई विकार या दोष नहीं हो सकते। जगत् की भिन्नताओं का बनाव उसका खिलवाड़ मात्र है। सबका "अपना आप"=आत्मा अथवा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा खुशी से यह जगत्-रूपी खेल करता है, और इस खेल के लिए ही अनन्त प्रकार के भिन्नता के रूप धारण करता है, क्योंकि भिन्नता के बनावों ही से खेल होता है। भिन्नता के बनावों बिना खेल ही नहीं बनता। वह सबका अपना आप=आत्मा अथवा परमात्मा ही जड़, वही चेतन, वही पशु, वही पक्षी, वही स्त्री, वही पुरुष, वही भोक्ता, वही भोग्य, वही छोटा, वही बड़ा, वही ऊँचा, वही नीचा, वही धनी, वही ग़रीब, वही सबल, वही निर्बल, वही सुखी और वही दुखी आदि नाना प्रकार के जोड़े स्वयं बनता है। इसलिए वास्तव में सुख-दुःख आदि के भेद कुछ हैं नहीं। यद्यपि अल्पज्ञता स्वीकार कर लेने से उन दोनों (जोड़ों) का एक ही समय में एक ही व्यक्ति को एक साथ भान नहीं होता, परन्तु सुख-दुःख आदि दोनों विरोधी भाव बराबर हैं। सर्वव्यापक, एक और सम आत्मा में दोनों विरोधी भावों का एकीकरण हो जाता है और सर्वात्म भाव में वे दोनों आपस में एक दूसरे की प्रतिक्रिया से शान्त हो जाते हैं, किसी एक का भी अलग अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए सबकी एकता की आनन्द-रूप से समता में

सुख या दुःख आदि कुछ भी नहीं है। यदि व्यक्तिगत की दृष्टि से देखा जाय तो भी किसी भी व्यक्ति को संसार वास्तव में दुःख रूप प्रतीत नहीं होता। यदि ऐसा होता तो इसमें कोई रहना अर्थात् जीना ही नहीं चाहता, परन्तु मरने को कोई भी राज़ी नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि चाहे किसी समय अथवा किसी स्थिति में, किसी विशेष कारण से कोई अपने को दुःखी भले ही माने, परन्तु वास्तव में संसार को केवल दुःख-रूप कोई नहीं समझता। तात्पर्य यह कि संसार न तो दुःख-रूप है, और न उसमें आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है। यह आत्मा का एक निजभाव है, और इस निजभाव का रहस्य अनिर्वचनीय है, अर्थात् इसका वाणी से यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता—यह तो केवल अपने आपके अनुभव का विषय है। जब तक सर्वात्म-भाव, अर्थात् विश्व की अपने साथ एकता का सच्चा अनुभव नहीं हो जाता, तब तक केवल दूसरों के कहने या पुस्तकों के पढ़ने मात्र से ही यह रहस्य पूरी तरह कदापि समझ में नहीं आ सकता। लौकिक व्यवहार में यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि बहुत सूक्ष्म वस्तु बहुत ही सूक्ष्म नोक के हथियार से पकड़ी जा सकती है, स्थूल हथियार से नहीं पकड़ी जा सकती; और आत्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थात् अत्यन्त ही सूक्ष्म है, इसलिए उसके रहस्य को जानने के लिए बुद्धि को सूक्ष्म करते-करते जब वह आत्मनिष्ठ हो जाती है, तब इस विषय का अनुभव आप ही हो जाता है। अथवा जिन लोगों ने दीर्घ काल के अभ्यास से बुद्धि को सूक्ष्म करके इस विषय का अनुभव प्राप्त किया है, उनके वचनों में श्रद्धा (विश्वास) करने से उक्त शङ्का का समाधान हो सकता है।

तत्त्वज्ञानी लोगों ने गहरे अन्वेषण के बाद यह निश्चय किया है कि इस कल्पित जगत् की तीन अवस्थाएँ हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक।

(१) जगत् के सदा बदलते रहने वाले अनन्त प्रकार के भौतिक पदार्थ, जो स्थूल इन्द्रियों के गोचर हैं अर्थात् आँखों से देखे जाते हैं, कानों से सुने जाते हैं, नाक से सूँघे जाते हैं, जीभ से चखे जाते हैं और त्वचा से स्पर्श किये जाते हैं, वे, और उनके सम्बन्ध के सब व्यवहार जगत् की आधिभौतिक अवस्था है।

(२) सब स्थूल पदार्थों एवं व्यवहारों की आधारभूत सूक्ष्म चेतन शक्तियाँ, जो प्रत्येक स्थूल पदार्थ और व्यवहार के अन्दर सूक्ष्म रूप से रहती हुई व्यष्टि* और समष्टि-भाव से जगत का काम चलाती हैं और जो स्थूल इन्द्रियों के

* प्रत्येक व्यक्ति अथवा वस्तु का अलग अलग भाव व्यष्टि और सबका सम्मिलित भाव समष्टि कहा जाता है।

अगोचर है, किन्तु मन और बुद्धि (विचार) से जानी जा सकती है—जिस तरह स्थूल पञ्च तत्त्वों के अन्दर उनकी सूक्ष्म व्यष्टि और समष्टि शक्तियाँ, स्थूल इन्द्रियों के अन्दर रहने वाली सूक्ष्म भोग एवं क्रिया-शक्तियाँ, मन की अनेक प्रकार की सात्त्विक, राजस और तामस-वृत्तियाँ तथा संकल्प-शक्ति, चित्त की स्मरण-शक्ति, बुद्धि की विचार-शक्ति, अहङ्कार का अहंभाव, प्राणों को चलाने की शक्ति, अनेक शरीर (पिण्ड) और जगत् (ब्रह्माण्ड) में रहने वाली चेतना-शक्ति, और पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन एवं संहार-शक्ति आदि, अनेक प्रकार की सूक्ष्म चेतन-शक्तियाँ और उनके सूक्ष्म व्यवहार—जगत् की आधिदैविक अवस्था है। इन सूक्ष्म शक्तियों को ही देवता कहते हैं (बृहदा० उ० अ० ३ ब्रा० ९)। ये ही अपने सूक्ष्म रूप में सूक्ष्म—आधिदैविक जगत्-रूप होकर रहती हैं, और ये ही सूक्ष्म शक्तियाँ घनीभूत होकर जब स्थूल भाव धारण करती हैं तब भौतिक जगत्-रूप बन जाती हैं। स्थूल शरीर और स्थूल जगत् की उत्पत्ति अर्थात् व्यक्त होने से पहले, और नाश अर्थात् अव्यक्त होने के बाद भी, यह सूक्ष्म आधिदैविक अवस्था बनी रहती है।

(३) उपरोक्त सब स्थूल और सूक्ष्म सृष्टियों का कारण यानी आधार एक चेतन आत्म-तत्त्व है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, और स्थूल तथा सूक्ष्म सबके अन्दर समानरूप भरा हुआ है, जो सबका सत्य है और जो सब जड़ और चेतन पदार्थों की सत्ता, शक्ति और प्रकाश है, साधारणतया जड़ पदार्थों में जिसका विकास स्पष्ट कम प्रतीत होता है परन्तु चेतन पदार्थों में जिसकी चेतनता अच्छी तरह प्रकट होती है और जो स्थूल इन्द्रियों और मन के अगोचर है, केवल सात्त्विक बुद्धि से ही जिसका ज्ञान हो सकता है—यह चेतन आत्म-तत्त्व जगत् की आध्यात्मिक अवस्था है (बृहद० उ० अ० ३ ब्रा० ७)।

जिस तरह जगत् की ये तीन अवस्थाएँ हैं उसी तरह शरीर की भी [illegible] स्थूल और सूक्ष्म भेद से तीन अवस्थाएँ हैं [illegible]

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की उपरोक्त तीन अवस्थाएँ होने के कारण उनके विषय में विचार करने की भी तीन पद्धतियाँ हैं:—

(१) सृष्टि के सभी पदार्थ ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि स्थूल इन्द्रियों को प्रतीत होते हैं—इन स्थूल पदार्थों के परे और कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है। इस विचार-पद्धति को आधिभौतिक मत कहते हैं। अधिकतर भौतिकवादी लोग इसी मत को मानते हैं।

(२) सृष्टि के स्थूल पदार्थ जड़ होने के कारण स्वयं क्रियाशील नहीं हो सकते, अतः उनको हलचल देने वाली उनके भीतर अनेक सूक्ष्म चेतन शक्तियाँ अलग हैं। ये ही जगत् को धारण करती हैं और समस्त जड़ पदार्थों से नाना प्रकार की चेष्टाएँ करवाती हैं। ये चेतन शक्तियाँ प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीवात्माएँ हैं, और ब्रह्माण्ड में भिन्न-भिन्न देवता है। इस विचार-पद्धति को आधिदैविक मत कहते हैं। यह आधिभौतिक मत से कुछ सूक्ष्म है। बहुत से श्रद्धालु लोग इस मत के अनुयायी हैं।

(३) न तो सृष्टि के जड़ पदार्थ स्वतः किसी प्रकार का व्यवहार कर सकते हैं, और न भिन्न-भिन्न देवता अर्थात् सूक्ष्म शक्तियाँ ही अपनी अलग-अलग सत्ता से पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) के व्यवहारों को नियमित रूप से, एक-दूसरे के साथ शृङ्खलाबद्ध होकर चला सकती हैं; किन्तु इनके परे प्रत्येक शरीर में और जगत् में एक ही आत्म-तत्त्व है, जो इन्द्रियों और मन के अगोचर है, और जो सब भूत-प्राणियों में भरा हुआ है और भिन्न-भिन्न शक्तियों को एकता के सूत्र में पिरोये हुए है; उस एक की सत्ता से ही प्रत्येक शरीर का और जगत का सब व्यवहार उसकी सूक्ष्म शक्तियों (देवताओं) द्वारा चल रहा है; कई लोग, प्रत्येक शरीर में रहने वाले आत्म-तत्त्व को अलग-अलग जीवात्माएँ मानते हैं और सारे जगत् का सञ्चालन करने वाले परम-आत्मा को उक्त जीवात्माओं से अलग एक ईश्वर मानते हैं; परन्तु वेदान्त दर्शन सबमें एक ही आत्म-तत्त्व मानता है। व्यष्टि-भाव से वही जीवात्मा कहा जाता है, और समष्टि-भाव से उसीको परमात्मा कहते हैं। वही जड़ और चेतन-भाव से व्यक्त होकर जगत् रूप होता है। इस विचार-पद्धति को आध्यात्मिक मत कहते हैं। यह सबसे सूक्ष्म है और सूक्ष्म बुद्धि के विचारशील लोग इसे मानते हैं।

यद्यपि आधिभौतिक और आधिदैविक मतों के अनुसार से साधारणतया जगत की भिन्नता सच्ची मानी जाती है, परन्तु यदि गहरा विचार कर देखा जाय तो आधिभौतिक और आधिदैविक अवस्थाओं में भी जगत की एकता ही सच्ची सिद्ध होती है। यह नाना-भावापन्न स्थूल जगत पञ्च तत्त्वों के सम्मिश्रण का अनेक प्रकार

का बनाव है, अर्थात् जिन पञ्च तत्वों का एक राजा, महाराजा, विद्वान्, आचार्य, ज्ञानी और महात्मा का शरीर होता है, उन्हींका एक छोटे से छोटे अछूत व चाण्डाल माने जाने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, एवं वनस्पति आदि का शरीर होता है। स्थावर-जङ्गम जितनी सृष्टि है, वह सब उन्हीं पञ्च तत्त्वों के सम्मिश्रण का बनाव है, और सभी एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य अथवा एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य अथवा एक दूसरे के कारण-कार्य हैं, तथा एक दूसरे पर निर्भर (अन्योन्याश्रित) हैं। सब एक दूसरे की सहायता से एक दूसरे के साथ शृङ्खलाबद्ध होकर जगत् के व्यवहार करते हैं। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारागण अर्थात् सभी ग्रह-नक्षत्र एक दूसरे के आकर्षण से बँधे हुए नियमपूर्वक आपस की एकता से सब काम करते हैं, और ज्योतिष-शास्त्रानुसार इन सबके अच्छे-बुरे प्रभाव इस पृथ्वी पर भी पड़ते हैं, तथा पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशों की ऋतु आदि के प्रभाव दूसरे दूरस्थ देशों पर पड़ते हैं। वर्तमान के वैज्ञानिक (scientist) लोग भी स्थूल जगत् की अनन्त प्रकार की अनेकताओं में पूर्ण एकता ढूंढ निकालने में ही लगे हुए हैं; और यद्यपि वे अब तक पूर्ण एकता तक नहीं पहुँचे हैं, परन्तु वह समय अब अधिक दूर नहीं है, जब कि विज्ञान (science) के द्वारा भी भौतिक एकता पूर्ण रूप से सिद्ध हो जायगी।

स्थूल पंच तत्वों में भी आपस में एकता ही है, क्योंकि आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है; और जब ये तत्त्व लय होते हैं, तो इनके उलटे क्रम से लय होते हैं, और एक दूसरे के अन्दर सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप से बने भी रहते हैं। पृथ्वी में से जल निकलता है, और उसे खोदने से उष्णता, तथा रगड़ने से अग्नि निकलती है; वायु और आकाश पृथ्वी में सर्वत्र ओतप्रोत रहते हैं। जल ही घनीभूत होकर पृथ्वी बनता है—अनेक स्थलों में जल से पृथ्वी बनती हुई देखी जाती है। जल के सङ्घर्ष से बिजली (अग्नि की ज्वाला) निकलती है और समुद्र में बड़वानल (अग्नि) उत्पन्न होती है। अग्नि अर्थात् उष्णता से पसीना और वर्षा आदि द्वारा जल उत्पन्न होता है। वायु के बिना अग्नि और जल की स्थिति भी नहीं रह सकती। आकाश सबका आधार है ही—जहाँ दूसरे तत्त्व रहते हैं, वहाँ पर आकाश मौजूद रहता है। उक्त तथ्य से इन सबकी एकता ही सिद्ध होती है।

इसी तरह सूक्ष्म आधिदैविक जगत में भी एकता ही सिद्ध होती है, क्योंकि एक ही आत्मा के सङ्कल्प से उसकी अनन्त सूक्ष्म शक्तियाँ सत्व, रज और तम गुणों के तारतम्य से अनन्त प्रकार के व्यय रूप होती हैं। किसी भी घटना अथवा कार्य का पहले सूक्ष्म सङ्कल्प मन में उठता है, और जब वह सङ्कल्प घनीभूत होकर दृढ़ हो जाता है, तब वह स्थूल कार्य में परिणत होता है। एक तरफ़ समष्टि (सबके संयुक्त)

मन के सङ्कल्प से सूक्ष्म पञ्च तत्त्व घनीभूत होकर, तीन गुणों के तारतम्य से समष्टि जगत् के अनन्त प्रकार के पदार्थ-रूप बनते हैं और दूसरी तरफ़ शरीरधारियों के व्यष्टि (व्यक्तिगत) मन के सङ्कल्प से उसकी त्रिगुणात्मक वृत्तियां द्वारा उक्त सूक्ष्म पञ्च तत्त्व ही व्यष्टि भाव से इन्द्रियरूप होकर समष्टि जगत् के पदार्थों के साथ भाँति-भाँति के व्यवहार करते हैं। मन में जब देखने का सङ्कल्प उठता है तब उसकी वृत्तियाँ तेजात्मक होकर चक्षु-रूप से नाना प्रकार के रूप देखती हैं; सुनने का सङ्कल्प उठता है तब आकाशात्मक होकर श्रवण-रूप से शब्द सुनती हैं; सूंघने का सङ्कल्प उठता है तब पृथ्वी-रूप होकर नासिका द्वारा गन्ध लेती हैं; रसास्वादन का सङ्कल्प उठता है तब जलात्मक होकर रसना-रूप से सब रसों का स्वाद लेती हैं; स्पर्श करने का सङ्कल्प उठता है तब वाय्वात्मक होकर त्वचा-रूप से सब प्रकार के स्पर्श करती हैं। सारांश यह कि सूक्ष्म और स्थूल जगत् सब मन के सङ्कल्पों की ही रचना है। यह भी प्रत्यक्ष देखने में आता है कि एक व्यक्ति के मन के सङ्कल्पों तथा विचारों का प्रभाव दूसरे व्यक्ति पर पड़ता है; और जगत् का उत्पादक, पोषक एवं संहारक सूक्ष्म शक्तियाँ, यथासमय यथोचित रूप से एक दूसरे के साथ शृङ्खलाबद्ध होकर अपने-अपने कार्य निरन्तर करती रहती हैं। इस तरह की वस्तुस्थिति पर अच्छी तरह विचार करने से आधिदैविक जगत् की भी एकता ही सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि जगत् का आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों अवस्थाओं में अनेकता झूठी और एकता सच्ची है, और इस निश्चयपूर्वक सब भूत-प्राणियों में एक ही आत्मा को समान भाव से व्यापक समझ कर, व्यक्तिगत अहङ्कार को समष्टि अहङ्कार में, तथा व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके स्वार्थों में जोड़ कर, सबके साथ एकता का प्रेम रखते हुए, अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म साम्यभाव से करना—यही व्यावहारिक वेदान्त है, और यही उपदेश भगवान् ने गीता में अर्जुन को निमित्त बना कर सबको दिया है।

बहुत से लोगों को यह भ्रम है कि जिस जगत् के अस्तित्व को हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वेदान्त उसको मिथ्या बताकर उसके व्यवहार त्यागने को कहता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह केवल समझने का अन्तर है। वास्तव में न तो वेदान्त जगत् के अस्तित्व को मिथ्या कहता है और न उसके व्यवहार त्यागने ही का प्रतिपादन करता है। इसके विपरीत वेदान्त तो यह कहता है कि जगत् का अस्तित्व बिलकुल सच्चा है, क्योंकि असत् वस्तु का तो भाव ही नहीं होता (गीता अ० २ श्लोक १६), परन्तु जगत् का अस्तित्व तो सबको प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, एवं वह सबको अच्छा और प्यारा भी लगता है, इसलिए अस्ति-भाति प्रियरूप से अर्थात् एकत्व-भाव से यह निस्सन्देह ही सत्य है। वास्तव में वेदान्त इस प्रत्यक्ष प्रतीत होने

मन्तर पर धार्मिक सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने उक्त सच्चे और अक्षय सुख की तलाश में स्थूलता से परे, सूक्ष्मता में प्रवेश करने का यत्न किया। वे लोग भौतिकता से तो आगे बढ़े, परन्तु आधिदैविकता तक पहुँच कर ही रह गये; अर्थात् उन लोगों ने स्थूल जगत् के नानात्व को नाशवान् अतः मिथ्या मान कर भी, इसमें सूक्ष्म रूप से रहने वाले भिन्न-भिन्न जीवात्माओं, तथा भिन्न-भिन्न देवताओं, और उन सबके ऊपर एक ईश्वर को अलग मान कर उसकी कृपा से जीवों को, मरने के बाद परलोक में स्वर्गादि सुख अथवा मोक्ष प्राप्त होना ही सबसे अन्तिम ध्येय एवं पुरुषार्थ की परमावधि का सिद्धान्त निश्चित कर लिया। अपनी बुद्धि जहाँ तक पहुँच सकी, अथवा अपने अनुयायियों के समझने की जितनी योग्यता प्रतीत हुई, एवं जैसी परिस्थिति देखी उसके अनुसार, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने समय-समय पर, इसी सिद्धान्त के आधार पर भिन्न-भिन्न मत प्रचलित कर दिये और उनसे परे अधिक कुछ भी नहीं है, यह निश्चय करके वहीं तक रह गये। यद्यपि ये लोग स्थूलता से आगे बढ़ कर कुछ हद तक सूक्ष्मता में पहुँचे तो सही—और इनके मत अपने-अपने स्थान में थोड़े या बहुत सभी लाभदायक एवं आवश्यक भी हैं—परन्तु अनेकता यानी नानात्व के भाव ज्यों के त्यों कायम रखने के कारण, सबकी एकता के सच्चे सिद्धान्त तक वे नहीं पहुँचे, इसलिए सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति में वे भी असमर्थ ही रहे।

इनके अतिरिक्त तर्क-बुद्धि से विचार करने वाले दार्शनिक लोगों ने इस विषय का अनुसन्धान किया। उनमें नास्तिकों और वैज्ञानिकों (बौद्धों) के मत बड़े मार्के के हैं, क्योंकि उन्होंने अन्धश्रद्धा के बदले विचार-स्वतन्त्रता को बहुत महत्त्व दिया है। इसलिए नास्तिकों के मत को बृहस्पति (बुद्धि के देवता) का मत कहते हैं, और वैज्ञानिकों का मत बौद्ध-मत कहलाता है। परन्तु वे लोग भी स्थूल आधिभौतिक तथा सूक्ष्म आधिदैविक विचारों तक ही रह गये, सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा को नहीं माना और न नानात्व का एकत्व ही कर सके। नानात्व का एकत्व करने में न्याय, वैशेषिक, योग, और सबसे अधिक सांख्य ने काम किया, अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म भावों के अनन्त नानात्व का उत्तरोत्तर एकीकरण करते हुए, उनने सबका समावेश थोड़े से मूल तत्त्वों में ही कर दिया, यहाँ तक कि सांख्य ने प्रकृति और पुरुष—केवल दो ही तत्त्व शेष रक्खे। वेदान्त ने इन सबसे आगे बढ़कर प्रकृति-पुरुष का भी एकीकरण करके, एक आत्म-तत्त्व में सबका समावेश कर दिया, जो सबका अपना आप है। मानवीय तत्त्वज्ञान इस पराकाष्ठा तक पहुँच कर रुक गया। यहीं ज्ञान का अन्त होता है, इसी से इसका नाम वेदान्त है।

सूक्ष्मता जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक उसका विस्तार होता है, उतनी ही अधिक वह व्यापक होती है, और उतनी ही अधिक वह सत्य होती है; और आत्मा, जो सबका वास्तविक अपना आप है, वह सब सूक्ष्मों का सूक्ष्म और सबका सार होने के कारण सर्व-व्यापक एवं सर्व-सत्य है; उसकी सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सब जगत् में ओतप्रोत है। उसकी सत्ता ही से जगत् की सत्ता है, उसकी सत्ता बिना जगत् का अस्तित्व ही नहीं रहता। सारांश यह कि जगत्, आत्म-स्वरूप सबका अपना आप है। यही अन्तिम सिद्धान्त है।

यद्यपि वेदान्त सबसे आगे इतना बढ़ा हुआ है कि जिससे आगे कुछ शेष नहीं रहता, तथापि वह किसी भी दर्शन, धार्मिक मत अथवा पदार्थ-विज्ञान आदि का तिरस्कार नहीं करता, चाहे वे किसी भी समाज या किसी भी देश-विशेष के क्यों न हों, उन सबका उसमें समावेश हो जाता है, क्योंकि उसमें भिन्नता कुछ है ही नहीं। सब दर्शनों, धार्मिक सिद्धान्तों तथा धार्मिक मतों का एवं भौतिक विज्ञान का भी समावेश करता हुआ वह आगे बढ़ता जाता है। वह इनको अपना सहायक मानता है, क्योंकि प्रत्येक ने स्थूलता से सूक्ष्मता में और नानात्व के भावों को समेट कर एकता में पहुँचने का कुछ न कुछ कार्य करके वेदान्त का कार्य बहुत हलका कर दिया, अर्थात् अन्तिम मंज़िल के पहले की सब मंज़िलें उत्तरोत्तर तय करके, उन्होंने वेदान्त के लिए केवल अन्तिम मंज़िल ही शेष रक्खी। अतः जिसने जितना कार्य किया और जिसकी जिस हद तक पहुँच हुई, उसको स्वीकार करता हुआ, वह प्रत्येक से कहता है कि "यहीं मत ठहरो, आगे बढ़ते चलो, इतना ही सब कुछ नहीं है, यही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, इससे और आगे बढ़ने की आवश्यकता है," ऐसा संकेत करता हुआ, वह अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर देता है।

कई लोग शास्त्रीय पद्धति से एकता के ज्ञान को व्यवहार का विरोधी बताते हैं। उनका कहना है कि जगत् और उसके व्यवहार अविद्या के कार्य हैं, अतः वे अन्धकार-रूप हैं; और एकता का ज्ञान प्रकाश-रूप है; तथा अन्धकार और प्रकाश का विरोध होने के कारण ज्ञानयुक्त व्यवहार हो नहीं सकते, इसलिए आत्मज्ञानी के सांसारिक व्यवहार छूट जाते हैं; यह सिद्धान्त निवृत्ति-मार्ग की पुष्टि के लिए बनाया गया है। परन्तु वास्तव में यदि विचार कर देखा जाय तो यह सिद्धान्त टिक नहीं सकता, क्योंकि जगत् और उसका व्यवहार अविद्या का कार्य नहीं है। यदि जगत् और उसके व्यवहार को अविद्या ही का कार्य मानें तो उसके कारण, उसके रचने वाले—मायाविशिष्ट परमात्मा को अज्ञानी अथवा अविद्याग्रस्त मानना पड़ेगा, परन्तु ईश्वर को अज्ञानी बताने का साहस कोई नहीं

कर सकता। ईश्वर अपनी इच्छा से, जानकारीपूर्वक अर्थात् ज्ञानसहित, सृष्टि रचता है (जगत्-रूप होता है), और ज्ञानसहित ही उसके धारण, पोषण और संहार के व्यापार करता है, यह प्रायः सभी आस्तिक मानते हैं। यदि दार्शनिक रीति से विचार किया जाय तो जगत् आत्मा के संकल्प का खेल है, और आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, इसलिए जगत् अविद्या का कार्य नहीं हो सकता। इसके सिवाय, अवतारों तथा आत्मज्ञानी महापुरुषों का कोई भी व्यवहार अज्ञानयुक्त नहीं होता, किन्तु उनके सभी व्यवहार सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि जगत् और उसके व्यवहार अविद्या के कार्य नहीं हैं। हाँ, आत्मज्ञानरहित व्यवहार करना, अथवा न करना (त्यागना), दोनों ही अविद्या यानी अज्ञान हैं; परन्तु सर्व-भूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करना कदापि अविद्या नहीं है। अब रही अज्ञान और ज्ञान, अथवा अन्धकार और प्रकाश के विरोध की बात, सो वास्तव में इनका विरोध नहीं है। क्योंकि ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है, किन्तु अयथार्थ ज्ञान, अर्थात् अपने आपको और जगत् को यथार्थ रूपसे न जान कर अन्यथा जानना ही अज्ञान है। इसी तरह प्रकाश का अभाव अन्धकार नहीं है, किन्तु प्रकाश का आवरण अन्धकार है। अन्धकार और प्रकाश, इसी तरह अज्ञान और ज्ञान दोनों सापेक्ष हैं। एककी सिद्धि के लिए दूसरे का होना आवश्यक है। संसार में सभी पदार्थ एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य अर्थात् अन्योन्याश्रित हैं। इसलिए ये विरोधी प्रतीत होने वाले द्वन्द्व वास्तव में एक दूसरे के साधक हैं, बाधक नहीं। अतः प्रकाश अन्धकार का नाशक नहीं, किन्तु उसका प्रकाशक है। तात्पर्य यह कि ज्ञान, संसार के व्यवहारों का बाधक नहीं, किन्तु उन पर प्रकाश डालता है। जिस तरह अन्धकार के प्रकाशित होने से उसमें कोई अनर्थ नहीं होता, उसी तरह अयथार्थ ज्ञान पर यथार्थ ज्ञान का प्रकाश पड़ने से विपरीत कर्म नहीं बनते, प्रत्युत उससे व्यवहार सुधरते हैं। सच्चे, झूठे, अच्छे, बुरे, उचित, अनुचित आदि का निर्णय सत्य ज्ञान ही से होता है, अतः सत्य-ज्ञानयुक्त व्यवहार करने ही से यथार्थ व्यवहार सिद्ध होता है, और उसीसे सब प्रकार का सच्चा एवं अक्षय सुख प्राप्त होता है (ईशोपनिषद् म० ११)।

सत्त्वगुण की प्रधानता से (यथार्थ) ज्ञान होता है (गी० अ० १४ श्लो० ११), रजोगुण की प्रधानता से विविध प्रकार के व्यवहार होते हैं (गी० अ० १४ श्लो० १२) और तमोगुण की प्रधानता से अयथार्थ ज्ञान अर्थात् अज्ञान होता है (गी० अ० १४ श्लो० १३), अतः तमोगुण अविद्यारूप है, और जिस जगत् तथा जिस शरीर में स्थित होकर हम ज्ञान-अज्ञान का विचार करते हैं, वह इन तीनों [illegible] के तारतम्य का बनाव है अतः शरीर के और जगत् के रहते इन तीनों गुणों [illegible] उसके साथ बना रहना अनिवार्य है (गी० अ० १८ श्लो० ४०)। कभी

(३) सोने के आभूषणों को सोना समझ कर यथास्थान पहिनेंगे तो वे शरीर की शोभा बढ़ायेंगे, परन्तु उनको मिट्टी समझ कर अरक्षित दशा में छोड़ दिया जायगा तो चोर-उचक्के उठा ले जायेंगे। (४) घोड़ा पशु का ही एक भेद है, यदि पशुमात्र की एकत्व-दृष्टि छोड़ कर घोड़ामात्र की भेद-दृष्टि में ही आसक्ति रक्खी जायगी, तो उसके साथ परत्वोचित व्यवहार न होकर, या तो जड़-पाषाण, वनस्पति आदि के उपयुक्त व्यवहार होने से उस पर निर्दयता होगी, अथवा मनुष्यादि उच्च कोटि के प्राणियों के योग्य व्यवहार किया जायगा, तो तबेले में बाँधने के बदले उसे कमरों में रक्खा जायगा, घास के स्थान में रोटी आदि खिलाई जायगी, और सवारी के स्थान में उससे आत्मीय काम लिया जायगा; ऐसा करने से व्यवहार अवश्य ही बिगड़ेगा। (५) पुरुष या स्त्री के साथ पुरुष अथवा स्त्री का भाव छोड़ कर केवल वर्ण, नाम अथवा आश्रम के सम्बन्ध आदि की भेद-दृष्टि से ही व्यवहार किया जायगा, तो उसमें भी उपरोक्त प्रकार से ही व्यवहार बिगड़ेगा। (६) भले अथवा बुरे व्यक्ति के साथ उसके मनुष्यत्व के ज्ञान बिना केवल भलाई अथवा बुराई के ही विचार से व्यवहार किया जायगा, तो अनर्थ होगा; क्योंकि भलाई अथवा बुराई कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। अनुकूलता भलाई है और प्रतिकूलता बुराई। अनुकूलता-प्रतिकूलता जड़ पदार्थों में, पशुओं में और दैवी शक्तियों में भी होती है। अतः भलाई अथवा बुराई किसके आश्रय में है, इसका भी ज्ञान होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो विपरीत बर्ताव होकर व्यवहार बिगड़ेगा। (७) माता को सचेतन स्त्री न जान कर केवल उसमें माता के सम्बन्ध ही की आसक्ति रक्खी जायगी तो मोह के वश उसके साथ सचेतन-स्त्रियोचित व्यवहार न होकर किया जड़ पदार्थ अथवा पशु आदि की तरह व्यवहार हो जायगा, जिससे उसको बहुत कष्ट होगा। (८) इसी तरह पत्नी से भी यदि सचेतन-स्त्रियोचित व्यवहार न होकर किसी जड़ पदार्थ अथवा पशु की तरह व्यवहार हो जायगा तो उसको बहुत कष्ट होगा, जैसे कि अज्ञानी बालक अपनी माताओं को मृत मानकर अज्ञानता का पति पत्नी को और पत्नी पति को [illegible]

[illegible]

के पृथक्-पृथक् अङ्गों को एक ही शरीर के अनेक अवयव जानते हुए उनके द्वारा यथा-योग्य आचरण करने ही से शरीर का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। इसी तरह जगत् की सम्पूर्ण भिन्नताओं में एकता का ज्ञान रखते हुए, उन प्रत्येक के उपयुक्त सांसारिक व्यवहार करना, यही व्यावहारिक वेदान्त है। इसीका आचरण करने वाले पूर्व काल में सब प्रकार से उन्नत हुए हैं और वर्तमान में भी जो लोग थोड़ा या बहुत इसका आचरण करते हैं, वे उस आचरण के अनुसार, थोड़े या बहुत उन्नत होते हैं।

इस विषय में यह आशङ्का बिलकुल ही न रहनी चाहिए कि सबके साथ पूर्ण एकता के व्यवहार बिना सच्चा सुख हो नहीं सकता, और इस तरह पूर्ण एकता का व्यवहार कर सकना, साधारण व्यक्ति के लिए सर्वथा असम्भव है, इसलिए यह प्रयत्न निष्फल है। व्यावहारिक वेदान्त का आचरण दूसरे कर्मकाण्डों अथवा क्रियाओं की तरह नहीं है कि जिसकी पूर्णता होने से ही निर्दिष्ट फल होता हो। इसमें यही तो विशेषता है कि जितना इसका आचरण किया जाय, उतना ही सुख उसी समय प्रत्यक्ष रूप में होता है, अर्थात् जितने अधिक लोगों के साथ जितने दर्जे की एकता के भाव से बर्ताव किया जाता है, उतनी ही अधिक शान्ति, पुष्टि और तुष्टि तत्काल ही प्राप्त होती है। इसके थोड़े आचरण से थोड़ी और अधिक से अधिक, और पूर्ण रूप से इसका आचरण करने से पूर्ण शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि इसका थोड़ा भी आचरण निरर्थक नहीं जाता; और न इसमें कोई ऐसी कठिन विधि है कि जिसके बिगड़ जाने से विपरीत परिणाम हो (गी० अ० २ श्लो० ४०)। इसका आचरण करने वाला यदि एक जन्म में पूर्णता तक नहीं पहुँचे, तो आगे के जन्मों में क्रमशः उन्नति करता हुआ पूर्णता, अर्थात् "वसुधैव कुटुम्बकम्" की स्थिति में पहुँच जाता है (गी० अ० ६ श्लो० ४१ से ४२)। सारांश यह कि इसका आचरण करने वाला उत्तरोत्तर उन्नति करता रहता है, पीछे गिरता नहीं।

(१) गीता के उपदेशकर्ता महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में प्रायः सर्वत्र ही अपना सर्वात्मभाव घोषित किया है, अर्थात् अपनी सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता, एकता, नित्यता एवं समता आदि परमात्म-भाव की स्थिति में यह उपदेश देना सूचित किया है; और उक्त उपदेश को अत्यन्त प्राचीन, गहन, अविनाशी, मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के लिए एक समान उपयोगी एवं एक समान हितकर राज-विद्या बताया है; और साथ ही कर्मों की अपेक्षा बुद्धि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके, बुद्धियोग अर्थात् प्रत्येक विषय में बुद्धि से काम लेने पर बार-बार ज़ोर दिया है; यहाँ तक कि अपने इस उपदेश पर भी अच्छी तरह विचार करके कार्य करने को कहा है (गीता अ० १८ श्लो० ६३)।

इन बातों से स्पष्ट है कि गीता केवल श्रीकृष्ण और अर्जुन का व्यक्तिगत सम्वाद मात्र ही नहीं है, न यह किसी देश-विशेष, काल-विशेष, जाति-विशेष एवं व्यक्ति-विशेष के लिए ही परिमित है, और न यह किसी कार्य-विशेष की सिद्धि, अथवा किसी सम्प्रदाय-विशेष की स्थापना एवं उसके प्रचार के उद्देश्य से ही कही गई है; किन्तु यह दिव्य उपदेश, सर्वात्मभावापन्न महान् आत्मा = परमात्मा ने, देश-भेद, काल-भेद, जाति-भेद, लिङ्ग-भेद, धर्म-भेद, सम्प्रदाय-भेद, वर्ण-भेद, आश्रम-भेद, अवस्था-भेद, कर्म-भेद, पद-भेद आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के हित, अर्थात् उनके वर्तमान एवं भविष्य के कल्याण के लिए दिया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, गीता के श्लोकों का अर्थ गम्भीर-गवेषणापूर्वक, अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहरे विचार से—जहाँ तक बुद्धि पहुँच सके—अधिक से अधिक उदार, अधिक से अधिक व्यापक और अधिक से अधिक विस्तृत करना चाहिए।

अतः भगवान् ने इसमें अपने लिए जो "अहं, माम् , मया, मे, मत् , मम, मयि" आदि उत्तम पुरुष (first person) वाचक सर्वनामों का प्रयोग किया है, उनको केवल श्रीकृष्ण महाराज के विशेष व्यक्तित्व (व्यष्टि-भाव) के लिए ही नहीं समझना चाहिए, किन्तु वे सर्वनाम उनके व्यष्टि-समष्टि-संयुक्तभाव अर्थात् सबके "अपने वास्तविक आप (self)" के लिए प्रयुक्त हुए समझना चाहिए। इसी तरह अर्जुन के लिए भिन्न-भिन्न नामों एवं विशेषणों युक्त जो सम्बोधन हैं, उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के व्यष्टि-भाव के लिए समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में, गीता का उपदेश प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) मात्र के लिए, समष्टि-आत्मा = परमात्मा का दिया हुआ समझना चाहिए।

यदि गहरा विचार कर देखा जाय तो गीता जैसा अत्यन्त उदार सार्व-कालिक एवं सर्वहितकर व्यापक उपदेश सर्वात्मभावापन्न महापुरुष ही दे सकते

हैं; और दूसरी तरफ ऐसे महापुरुष द्वारा, गीता जैसा अनुपम उपदेश ही दिया जाना उचित है। इसलिए स्वयं गीता ही श्रीकृष्ण महाराज के सर्वात्मभाव का स्वतःसिद्ध प्रमाण है। इसी तरह गीता की सार्वजनिकता एवं सर्वव्यापकता का प्रमाण श्रीकृष्ण महाराज का सर्वात्मभाव है। ये दोनों ही परस्पर एक दूसरे के साधक एवं एक दूसरे की महिमा के द्योतक हैं।

श्रीकृष्ण महाराज के परमात्मा अथवा ईश्वर का अवतार होने के विषय में इतना ही स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा कि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार सारी सृष्टि परमात्मा अथवा ईश्वर-रूप ही है—ईश्वर से भिन्न कुछ भी नहीं है; अर्थात् ईश्वर वस्तुतः दूसरों से कोई अलग व्यक्ति नहीं है कि जिसके किसी विशेष व्यक्ति के रूप में अवतार होने या न होने के विषय में वाद-विवाद किया जाय। एक ही आत्मा सबमें समान-भाव से व्यापक है—व्यष्टि भाव से वही जीवात्मा माना जाता है और समष्टि-भाव से वही परमात्मा अथवा ईश्वर माना जाता है; और यदि वह आत्मा किसी विशेष विभूति-सम्पन्न चमत्कारिक रूप में प्रकट होता है तो उसे अवतार कहते हैं। जब व्यष्टि-भाव से शरीरों में आसक्ति करके अपने को एक तुच्छ व्यक्ति, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, परतन्त्र, कर्मों के बन्धनों से बँधा हुआ, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से युक्त एवं परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में घूमने वाला जीवात्मा मान लिया जाता है, तो उसकी अपेक्षा से एक समष्टि-भावापन्न, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, कर्मों के बन्धनों से मुक्त, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित, जीवों को पाप-पुण्य के फल भुगताने तथा जन्म-मरण के चक्कर में घुमाने वाले, जगत् के निर्माता, सबके स्वामी, सबके नियन्ता, सबके रक्षक—ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है; और जब इस तरह उपरोक्त गुणों वाले ईश्वर का अस्तित्व माना जाता है, तब वह अपने रचे हुए जगत् के सञ्चालन तथा उसको सुव्यवस्थित रखने आदि व्यवहारों के लिए, विशेष आवश्यकता होने पर, विशेष परिस्थिति के उपयुक्त, कोई विशेष शरीर धारण करके कोई विशेष कार्य करे तो सर्वथा उचित ही है। अपनी रचना को सुव्यवस्थित रखने के लिए वह अपने ऋषियों, पैगम्बरों एवं सन्तानों आदि पर ही सर्वथा निर्भर क्यों रहे? जब वह सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र है, तो संसार की सुव्यवस्था के लिए परिस्थिति के उपयुक्त किसी विशेष रूप में प्रकट होकर स्वतन्त्रतापूर्वक विशेष कार्यों के करने की भी तो शक्ति उसमें होती ही है; अतः किसी विशेष रूप में प्रकट होने से उसकी सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता सर्वज्ञता एवं स्वतन्त्रता में कमी नहीं आ सकती। जिस तरह कोई स्वाधीन राजा अपने

काया को क्लेश देने वाली हठयोग की क्रियाओं तथा समाधि में ही लगे रहने का विधान सर्वथा अनुपयुक्त होता। गीता में जिस समाधि का कथन है, वह व्यक्तिगत चित्त का निरोध मात्र ही नहीं है, किन्तु सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन को स्थित करना है।

(५) संसार-चक्र को अर्थात् जगत् के व्यवहार को यथावत् चलाने के लोक-संग्रह के लिए, अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म करने के विधान को गीता में "यज्ञ" कहा है। इस व्यापक "यज्ञ" में प्रत्येक व्यक्ति के (व्यष्टि) कर्मों को सबके (समष्टि) कर्मों में सम्मिलित करने, अर्थात् सबके साथ सहयोग करने द्वारा, अपनी-अपनी व्यष्टि व्यावहारिक शक्तियों का—देवता-रूप से कथित—जगत् को धारण करने वाली समष्टि शक्तियों में योग देने की आहुति देकर, संसार-चक्र को चलाने में सहायक होने का विधान किया गया है। भूत-प्राणियों के भिन्न-भिन्न कर्म करने की व्यष्टि शक्तियों के समष्टि (सम्मिलित) भाव ही उनके अधिदेव अर्थात् देवता हैं; और प्रत्येक व्यक्ति की व्यष्टि शक्तियों का सबकी समष्टि शक्तियों में योग देना ही उन देवताओं का यजन अर्थात् "यज्ञ" है। यही "यज्ञ" संसार को धारण करता है, अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म—सबके हित के लिए, दूसरों से सहयोग रखते हुए—करने ही से जगत् का व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का—चाहे वह कितना ही छोटा हो अथवा बड़ा, चाहे वह कितना ही नीचा हो अथवा ऊँचा, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—अपनी-अपनी योग्यतानुसार, अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म, दूसरों से एकता तथा सहयोग रखते हुए करना मात्र ही "यज्ञ" है; क्योंकि "यज्ञ" का प्रयोजन संसार-चक्र को चलाना ही है। अस्तु, गीता में विधान किये हुए "यज्ञ" का तात्पर्य आम-तौर से प्रचलित यज्ञों की तरह अग्नि में घृतादि पदार्थों का होमना अथवा बलि-वैश्वदेव आदि वैदिक कर्मकाण्डों में लगे रहना नहीं है, क्योंकि उपरोक्त संसार-चक्र को चलाने के लिए अपने-अपने कर्तव्य पालन करने के निरूपण में अग्निहोत्र, बलि-वैश्वदेव आदि वैदिक कर्मकाण्डों में लगे रहने की व्यवस्था बन नहीं सकती।

(६) आत्मा यानी "अपने वास्तविक आप" की सबके साथ एकता के साम्य-भाव का विचार अर्थात् आत्मज्ञान, अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण साधारण लोगों के लिए बड़ा दुर्गम है, इसलिए [illegible] लगना बहुत ही कठिन होता है। इस विषय को सुगम

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्ति अथवा शक्ति पर निर्भर होकर, स्वावलम्बन के बदले परावलम्बी बन जाय। मनुष्य के सिवाय अन्य भूत-प्राणियों में तो कर्मों अथवा प्रकृति की आधीनता से मुक्त होने की योग्यता नहीं होती; परन्तु मनुष्य-शरीर में कर्म अथवा प्रकृति की परवशता हटा कर उन पर शासन करने की योग्यता होती है, और जिसमें जितनी ही एकता के भाव की वृद्धि होती है, उतना ही वह प्रकृति पर अधिक अधिकार प्राप्त करता है। इसलिए भगवान्, प्रकृति के स्वामी—चेतन पुरुष को, प्रकृति का दास—जड़ होकर पराधीनता से कर्म करने को नहीं कहते, किन्तु समष्टि अहङ्कार से, सबके हित के लिए, कर्मों अथवा प्रकृति के स्वामी-भाव से लोक-संग्रह के कर्म करने को कहते हैं।

अनासक्ति का भी यह तात्पर्य नहीं है कि किसी भी काम के करने में मन न लगाया जाय, तथा उसका अच्छी तरह सम्पादन करने एवं उसमें उन्नति करने के लिए विचार-शक्ति का उपयोग न करके केवल मशीन की तरह, जड़ भाव से एवं असावधानी से काम किये जायँ, तथा उनके सुधरने बिगड़ने का कुछ भी परवाह न की जाय; क्योंकि कर्म सब मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कारस्वरूप—चतुर्विध अन्तःकरणसहित इन्द्रियों द्वारा होते हैं, इसलिए कर्मों में मन न जोड़ने का अव्यावहारिक उपदेश भगवान् कैसे दे सकते हैं? किसी भी कर्म में व्यक्तिगत राग की आसक्ति न रख कर, सबमें प्रेमयुक्त, सबके हित के लिए, अच्छी तरह मनोयोग से—दत्तचित्त होकर तत्परता से कर्म करना ही सच्ची अनासक्ति है।

निष्काम कर्म और कर्मफल-त्याग का भी यह तात्पर्य नहीं है कि किसी उद्देश्य के बिना पागलों की तरह निष्प्रयोजन चेष्टाएँ की जायँ, अथवा अपनी इच्छा के बिना दूसरों की प्रेरणा से जबरदस्ती कर्म किये जायँ तथा इस विचार से कर्म किये जायँ कि उनका फल कुछ भी न हो अथवा कर्मों का फल यदि उत्पन्न हो तो वह ग्रहण न किया जाय। जिस तरह, (१) खेती को तो अनिच्छा से करे—अन्न उत्पन्न करने के उद्देश्य से न करे तथा इस भाव से करे कि इससे कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा, केवल जमीन पर हल चलाना और बीज फेंकना मात्र ही कर्तव्य है और यदि उससे अन्न उत्पन्न हो जाय तो वह किसीके उपयोग में न आवे और न स्वयं इस [illegible] करे, (२) स्वतन्त्रता व मुक्ति के [illegible] वह स्वतन्त्र या मुक्ति प्राप्त हो तो इस [illegible] इत्यादि [illegible]

जब कि जगत् का सारा नानात्व मिथ्या है, तो शरीरों के व्यक्तित्व के भावों में नानात्व होने के कारण वे भी मिथ्या हैं, अतः जगत् के व्यवहारों एवं पदार्थों को त्याग देने का व्यक्तित्व का अहङ्कार मिथ्या है, और जब तक ग्रहण अथवा त्याग के व्यक्तित्व का अहङ्कार रहता है, तब तक भिन्नता के (मिथ्या) व्यवहार बनते ही रहते हैं—चाहे वे ग्रहण के हों या त्याग के। इसलिए भगवान् उक्त मिथ्या भावों ही को छुड़ा कर एकता का सच्चा भाव ग्रहण करने को कहते हैं। यही सच्चा त्याग, वैराग्य अथवा संन्यास है।

त्याग और ग्रहण दोनों सापेक्ष हैं। त्याग के लिए ग्रहण का भी साथ-साथ होना आवश्यक है। इसलिए गीता व्यष्टि-भाव का त्याग समष्टि-भाव में कराती है, अर्थात् व्यष्टि-समष्टि का भेद मिटाती है, और जब व्यष्टि-समष्टि का भेद मिट जाता है तब त्याग और ग्रहण के लिए कुछ शेष ही नहीं रहता। अतः जो कुछ करना है वह यही है कि व्यष्टि-भाव का झूठा अभिमान मिटाना है; फिर न व्यष्टि है, न समष्टि; जो कुछ है वह सब "अपना आप" ही है—जो न ग्रहण का विषय है, न त्याग का।

(८) उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त सांसारिक व्यवहारों की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए, भगवान् ने उक्त व्यवहार करने वाले महापुरुषों के आचरणों का वर्णन प्रसङ्गानुसार गीता के प्रायः सभी अध्यायों में थोड़ा-बहुत किया है; किन्तु दूसरे अध्याय के अन्त में "स्थित-प्रज्ञ" के विवरण में, तथा बारहवें अध्याय के अन्त में "भक्त" के विवरण में, तथा तेरहवें अध्याय में "ज्ञान" के विवरण में, तथा चौदहवें अध्याय में "गुणातीत" के विवरण में और सोलहवें अध्याय में "दैवी-सम्पत्ति" के विवरण में विशेष रूप से किया है। उसके विपरीत, पृथक् व्यक्तित्व के भाव से विषमता के व्यवहार करने वाले "असुरों" के आचरणों का वर्णन सोलहवें अध्याय में किया है; तथा सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में सात्विक, राजस और तामस आचरणों की व्याख्या की है। उनमें आसुरी अथवा राजस-तामस आचरण त्याज्य, एवं दैवी अथवा सात्विक आचरण ग्राह्य कहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि साधारणतया दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व के भावों के कारण ही आसुरी सम्पत्ति के अथवा राजस-तामस आचरण बनते हैं, और एकता के साम्य-भाव से दैवी सम्पत्ति के अथवा सात्विक आचरण बनते हैं। अतः जितने ही अधिक पृथकता के भाव बढ़े हुए होते हैं, उतने ही अधिक आसुरी अथवा राजस-तामस व्यवहार होते हैं; और जितना ही अधिक एकता का साम्य-भाव बढ़ा हुआ होता है, उतने ही अधिक

श्रीमद्भगवद्गीता का व्यावहारिक अर्थ

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

अर्थ—धृतराष्ट्र ने सञ्जय से पूछा कि हे सञ्जय! धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया (1)?

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

---

* सञ्जय को व्यास भगवान् के प्रसाद से, मनोयोग की दिव्य-दृष्टि प्राप्त हुई थी, जिससे उसको हस्तिनापुर में बैठे-बैठे भी कुरुक्षेत्र में होते हुए महायुद्ध के सब वृत्तान्त ज्यों के त्यों प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत होते थे, जिन्हें वह राजा धृतराष्ट्र को सुनाता था।

वर्तमान समय में जब कि भौतिक "रेडियो" यन्त्र द्वारा दूर देशों के शब्द ...नाई देते हैं और दृश्य रूप देखे जाते हैं, तब आधिदैविक मनोयोग की सूक्ष्म ...क्ति से दूर देशों के वृत्तान्तों का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकने में सन्देह करने को ...काश नहीं रहता।

† कुरुक्षेत्र को "धर्म-क्षेत्र" का विशेषण इसलिए दिया गया है कि उस ...न में समय-समय पर बड़े-बड़े वीर योद्धा लोग, धर्म-युद्धों में वीरतापूर्वक लड़ ...पना क्षात्र-धर्म पालन करते थे।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयःसर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाःसम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे जनार्दन ' [illegible]
हरिवंश (कृष्ण) ने इस [illegible]
[illegible]
कि हे अर्जुन ' [illegible]
[illegible]
[illegible]

परिणाम यह होगा कि जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाने से सर्वनाश हो जायगा और पितर भी नरक में पड़ेंगे। उपर्युक्त श्लोकों में "वर्णसङ्कर" शब्द इसी प्रयोजन से प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि सवर्ण स्त्री-पुरुष के विधिवत् संयोग से उत्पन्न होने वाले सन्तान तो वर्णसंकर होते ही नहीं—चाहे वह संयोग नियोग द्वारा स्थापित किया हुआ हो अथवा विवाह-संस्कार द्वारा। *

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि शोक से अत्यन्त व्याकुल अर्जुन, संग्राम की तैयारी के बीच इस प्रकार कह कर, (और) धनुष बाण त्याग कर रथ के पिछले भाग (पुट्ठे) पर बैठ गया (४७)।

॥ पहला अध्याय समाप्त ॥

× × ×

अर्जुन का विषाद वैसा ही है जैसा कि साधारणतया आत्मज्ञान-विहीन, आधिभौतिक और आधिदैविक विचारों के लोगों को, इस तरह के विकट अवसरों

---

* नोट—महाभारत-काल में हिन्दुओं का ही सार्वभौम साम्राज्य था; उस समय के पुरुष वर्तमान की अपेक्षा अधिक सच्चरित्र थे; विलासिता बहुत कम थी; विधर्मियों का सहवास नहीं था, तथा स्त्रियों के पवित्र रहने के अधिक साधन थे। जब कि उस समय भी पतिविहीना अरक्षित स्त्रियाँ भ्रष्ट हुए बिना नहीं रह सकती थीं, तो वर्तमान काल में—सर्वथा विपरीत परिस्थितियों में—विधवा स्त्रियों का यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करके पवित्र रह सकना, तथा कुल और जाति की शुद्धता बनी रहना नितान्त ही कठिन है। इसलिए स्त्रियों को भ्रष्ट होने से बचाने और कुल (वंश) तथा जाति को शुद्ध रखने के लिए, विधवाओं के वास्ते अपने सजातीय पुरुषों के साथ पुनर्विवाह अथवा नियोग करने की सार्वजनिक व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है।

यह बात ध्यान में रखने की है कि अर्जुन के उपर्युक्त वाक्यों में, उसको केवल अक्षत-योनि बाल-विधवाओं के ही भ्रष्ट होने की चिन्ता नहीं पायी जाती, किन्तु आमतौर से "कुल-स्त्रियों" के बिगड़ने की चिन्ता होना पाया जाता है।

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १॥

अर्थ—सञ्जय बोला कि आँसुओं से परिपूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले करुणा से भरे हुए शोकयुक्त उस (अर्जुन) के प्रति श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा (१)

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे अर्जुन! (इस) विषम परिस्थिति में तुझे, आर्य लोगों के अयोग्य, सुख और यश का विरोधी यह मोह कैसे हो गया (२)? हे पार्थ! (तू) नपुंसक मत हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे शत्रुओं के संहारक! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को दूर करके खड़ा हो (३)।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

किसी अङ्ग के परस्पर में विरोध का प्रश्न उपस्थित होता है, अथवा धर्म-प्रचार के कार्य में अनेक लोगों के मन में उद्वेग, पीड़ा और कहीं-कहीं पर खून-खराबियाँ होने के प्रसङ्ग भी आ जाते हैं; राजनैतिक कार्यकर्ताओं के सामने अपने कर्तव्य पालन करने में स्वयं अपने शरीर तथा अपने कुटुम्बियों एवं अन्य लोगों को भारी कष्ट होने तथा भीषण संग्राम में अगणित हत्याएँ होने के प्रसङ्ग उपस्थित होते रहते हैं; आर्थिक कार्यकर्ताओं के सामने अपने कर्तव्य पालन करने में अनेक व्यक्तियों को हानि पहुँचने तथा अनेकों की आजीविका में आघात लगने की सम्भावना प्रतीत होती है; इसी तरह सामाजिक कार्यकर्ताओं के सम्मुख समाज की दशा सुधारने के सङ्घर्ष में अपने बड़े-बूढ़ों तथा स्वजन-बान्धवों को मानसिक व्यथा होने तथा आपस का सामाजिक सम्बन्ध-विच्छेद होने आदि की नौबत आ जाती है। तात्पर्य यह कि इस तरह अनन्त प्रकार की कठिनाइयाँ विविध रूप से भिन्न-भिन्न कार्यकर्ताओं के सामने आती रहती हैं, जब कि कर्तव्याकर्तव्य का ठीक-ठीक निर्णय न कर सकने के कारण वे मोह में फँस जाते हैं, और विपरीत आचरण करके अपना तथा दूसरों का घोर अनिष्ट कर लेते हैं। इस तरह का मोह विशेष अवसरों पर ही उत्पन्न हुआ करता हो, ऐसी बात नहीं है; किन्तु रात-दिन के घरेलू व्यवहारों में भी अज्ञानी लोग अपने तथा अपने सम्बन्धियों के भौतिक शरीरों के ऐहिक मोह में अनुचित व्यवहार करके नाना प्रकार की हानियाँ उठाते रहते हैं। जिस तरह—अपने शरीर के विषय-भोग आदि ऐहिक सुखों के लिए उनके परिणाम में बहुत दुःख भोगना; अपने सन्तानों को लाड़-प्यार में खान-पान आदि में संयम न रखवा कर विलासी और अस्वस्थ बना देना, अथवा उनके बीमार होने पर कड़वी औषधि आदि का उपचार न करना एवं अनुचित रूप कर उनका जीवन नष्ट कर देना, इत्यादि।

ऐसे लोगों का मोह दूर करने एवं उन्हें सच्चा रास्ता दिखा कर पतन से बचाने के लिए, अर्जुन के इस मोह को दूर करने के प्रसङ्ग को लेकर भगवान ने सारे संसार को गीता का सार्वदेशिक उपदेश देकर अनन्त प्रकार की उलझनों को निश्चित रूप से सुलझाने का एकमात्र सत्य एवं श्रेयस्कर उपाय बताया है, जिसका अवलम्बन करके प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी योग्यतानुसार संसार का व्यवहार यथायोग्य करता हुआ अपना ऐहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस एक साथ सम्पादन कर सकता है

अस्तु, अब युद्ध करने की स्पष्ट आज्ञा देने पर भी अर्जुन ने फिर शङ्का की कि युद्ध में भीष्म, द्रोण जैसे पूज्यों पर मैं किस प्रकार बाण चलाऊँ और

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १६ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि जो शोक करने के योग्य नहीं हैं, उनका तू शोक कर रहा है, और बुद्धिमानों की-सी बातें बनाता है; जो (वास्तविक) पण्डित होते हैं, वे मरे हुओं तथा जीवितों का शोक नहीं करते (११)। क्योंकि मैं, तू और ये राजा लोग पहले कभी नहीं थे ऐसी बात नहीं है, और आगे नहीं होंगे ऐसा भी नहीं है (१२)। जिस तरह इस देह में जीवात्मा को बाल्य, युवा और बुढ़ापे की अवस्थाओं का अनुभव हुआ करता है, उसी तरह दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है; इस विषय में बुद्धिमानों को मोह नहीं होता (१३)। हे कौन्तेय! शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ एवं विषय आदि‡, जो सर्दी-गर्मी एवं सुख-दुःख (आदि द्वन्द्वों) के देने वाले होते हैं, वे आने-जाने वाले और अनित्य हैं, अर्थात् प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण वे एक-से नहीं रहते; अतः हे भारत! उनके संयोग-वियोग को तू सहन कर, अर्थात् शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ अस्थायी होते हैं, इस कारण तू उनके जाने या रहने से व्यथित मत हो (१४)। हे पुरुष-श्रेष्ठ! सुख-दुःख को एक समान§ मानने वाले

‡ बहुत से टीकाकारों ने "मात्रास्पर्शा" का अर्थ "इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध" किया है परन्तु अर्जुन को शोक अपने सम्बन्धियों के हताहत होने के [illegible] और उनके [illegible] जाने के [illegible] उनसे वियोग होने का था [illegible] उस शोक को मिटाने के लिए केवल इन्द्रियों के विषयजन्य सुख-दुःख आदि को "[illegible]" कहने से [illegible] अर्जुन का समाधान नहीं हो सकता था [illegible] इसलिए "मात्रास्पर्शा" का [illegible] शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ और विषय आदि करना उचित है [illegible] इन्द्रियों का [illegible] है

§ सुख-दुःख को समान [illegible] का व्यवहार "व्यावहारिक वेदान्त" प्रकरण में और [illegible] के [illegible] श्लोक के व्याख्यान में देखिए

जिस बुद्धिमान् पुरुष को ये (शरीर और उसके सम्बन्धी पदार्थों के संयोग-वियोग) व्यथित नहीं करते, वही अमृतत्व, अर्थात् सर्वात्म = परमात्म-भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है (१५)। जो असत् है उसका भाव अर्थात् अस्तित्व नहीं होता, और जो सत् है उसका अभाव नहीं होता; तत्त्वज्ञानियों ने इन दोनों का अन्त देख लिया है, अर्थात् यह अन्तिम निर्णय कर लिया है (१६)। जिससे यह सब (अखिल विश्व) व्याप्त और विस्तृत है, अर्थात् जो स्वयं विश्वरूप होकर सर्वत्र फैल रहा है, उस आत्मा को तू अविनाशी अर्थात् नाशरहित जान, इस निर्विकार का कोई भी नाश नहीं कर सकता (१७)। हे भारत ! नित्य (अपरिवर्तनशील) अविनाशी (नाशरहित) और अप्रमेय† शरीरी* (शरीर धारण करने वाले व्यष्टि-भावापन्न आत्मा) के ये (नाम-रूपात्मक अनन्त) शरीर* नाशवान् हैं, अतएव तू युद्ध कर (१८)। जो इस (शरीरधारी आत्मा) को मारने वाला, और जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों ही अनजान हैं, यह (शरीरधारी आत्मा) न तो किसीको मारता है, और न किसीसे मारा जाता है (१९)। यह न तो कभी जन्मता है, न मरता है; और ऐसा भी नहीं है कि यह (पहले) होकर फिर नहीं होगा। यह कभी उत्पन्न नहीं होता, सदा विद्यमान (और) एक समान रहता है, तथा पुराना (सबका आदि-कारण) है; शरीर के मारे जाने पर भी (यह) मारा नहीं जाता (२०)। जो इसको अविनाशी, नित्य, अजन्मा एवं अविकारी जानता है, हे पार्थ ! वह पुरुष कैसे किसको मरवायेगा और किसको मारेगा (२१)।

स्पष्टीकरण:—गीता के उपदेशों में सर्वत्र बुद्धियोग ही को महत्त्व दिया गया है (गी० अ० २ श्लो० ४९ से ५२ अ० १८ श्लो० ५७) क्योंकि संसार के व्यवहार करने में बुद्धि की प्रधानता रहनी चाहिए और वह बुद्धि जब साम्य-भाव में जुड़ी हुई अर्थात् आत्मनिष्ठ हो, तभी संसार के व्यवहार पूर्णतया ठीक-ठीक हो सकते हैं—यह गीता का सिद्धान्त है (गी० अ० २

† आत्मा अप्रमेय इसलिए है कि वह किसी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि अपने से भिन्न वस्तु ही किसी प्रमाण से जानी जाती है [illegible] "अपना आप" है, जो स्वतः प्रमाण है [illegible] अर्थात् अपना अनुभव रूप ही है। [illegible] इसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

* [illegible] है इसलिए [illegible] के लिए बहुवचन [illegible] का प्रयोग हुआ है

श्लो० ४१, अ० १२ श्लो० ४ और अ० १८ श्लो० ३०)। यद्यपि अर्जुन युद्ध से निवृत्त होने की दलीलों में कौरवों को मूर्ख और अज्ञानी कह कर, उनको कुल-क्षय आदि पापों को जानने के अयोग्य बताता है, और स्वयं बुद्धिमान् होने का दावा करता हुआ अपने को पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदि को जानने वाला, स्वजन-बान्धवों के मारे जाने एवं मरे हुए पितरों के नरक में पड़ने की, तथा "बन्धुजनों के मारने का पाप कमा कर उनके बिना मैं अकेला जीकर क्या करूँगा?" इस तरह की चिन्ता करने योग्य मानता है (गी० अ० १ श्लोक ३२ से ४६); और अर्जुन की तरह, लौकिक विषयों के प्रायः सभी पण्डित एवं विचारक कार्यकर्ता लोग दूसरों को मूर्ख बता कर स्वयं बड़े बुद्धिमान् होने की बातें बनाया करते हैं। परन्तु ज्ञान-ज्ञान के अभाव में इन लोगों की बुद्धि राजसी और तामसी होती है (गी० अ० १८ श्लो० ३१-३२), जो इस तरह के विकट अवसरों पर काम नहीं देती। फलतः वे लोग अर्जुन की तरह किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर रोने-चिल्लाने के सिवाय कर्तव्या-कर्तव्य का कुछ भी यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। भगवान्, अर्जुन के इस प्रसङ्ग को लेकर ऐसे लोगों की कुछ हँसी-सी करते हुए कहते हैं कि एक तरफ तो शोक करना और दूसरी तरफ पण्डिताई की बातें छाँटना, क्या यही बुद्धिमत्ता है? जो वास्तव में बुद्धिमान् होते हैं वे मरने-जीने का ज़रा भी शोक नहीं करते, क्योंकि यदि विचार कर देखा जाय तो मरना-जीना तत्त्वतः कुछ है नहीं। "अहम्", "त्वम्" और "इदम्", अर्थात् "मैं", "तू" और "यह" सब से जो चराचर जगत् है, वह अपनी असली एकत्व-भाव में अर्थात् आत्म-स्वरूप में भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों ही काल में विद्यमान रहता है। किसी भी पदार्थ की असलियत का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता; क्योंकि यह नियम है कि जो वस्तुतः सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता और जो वस्तुतः सत् नहीं है उसका भाव कभी नहीं होता; परन्तु इन सबका भाव अर्थात् अस्तित्व सदैव मौजूद है, अतः इन लोगों का वस्तुतः अभाव हो नहीं सकता। जीवात्मा का प्रत्येक स्थूल शरीर, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्च तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है, और वे पञ्च तत्त्व शरीरारम्भ होने के पहले, तथा शरीर छूटने के बाद भी सदा विद्यमान रहते हैं। शरीर छूट जाने पर भी पञ्च तत्त्वों का नाश नहीं होता, किन्तु उनका सम्मिश्रण एक नाम और एक रूप बदल कर, दूसरा नाम और दूसरा रूप धारण कर लेता है (गी० अ० २ श्लो० २२)। यदि स्थूल शरीरों को धारण करने वाले सूक्ष्म शरीर का विचार किया जाय तो वह स्थूल शरीरों को धारण करने के पहले और उनको छोड़ने के बाद भी बना ही रहता है; और यदि सूक्ष्म शरीर के हेतु—कारण शरीर का विचार किया जाय तो वह, स्थूल और

निर्विकार एवं सदा एक-सा रहने वाला समझते हैं, इसलिए उनकी दृष्टि में मरने और मारने कुछ भी अर्थ नहीं रखते।

अस्तु, इस तत्त्व को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि शरीरों के बनाव सब परिवर्तनशील एवं नाशवान् हैं, अतः ये कभी स्थायी नहीं रह सकते, और इन शरीरों को धारण करने वाला जीवात्मा सत्, नित्य एवं अविनाशी है, अतः उसका कभी किसीसे नाश नहीं हो सकता। इसलिए इन नाना भाँति के दिखावों के परिवर्तन-रूप मरने-जीने के विषय में कुछ भी शोक और मोह न करके, सबको अपने अपने नियत कर्म कर्तव्यपूर्वक करते रहना चाहिए।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

अर्थ—पुराने (अनुपयुक्त) वस्त्रों को त्याग कर मनुष्य जैसे दूसरे नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही पुराने अर्थात् अनुपयुक्त शरीरों को छोड़ कर आत्मा दूसरे नये शरीरों को धारण किया करता है (२२)।

व्याख्या—जिस तरह नाटक के खेल में राजा, सिपाही, सेठ, धनी निर्धन आदि के स्वांग करने वाले पात्र अपने अपने स्वांग की पोशाक पहिनते हैं और जब तक अपना पार्ट बजाने के लिए वह उपयुक्त रहता है तब तक उसे रखते हैं, उपयुक्त न रहने पर उसको उतार देते हैं और जिस दूसरे स्वांग का पार्ट करते हैं, उसके उपयुक्त दूसरी पोशाक पहिन लेते हैं [illegible] और [illegible] स्वांग करने वाले व्यक्ति (पात्र) को कुछ भी [illegible] नहीं [illegible] और दूसरी पहिनने में वह कुछ भी शोक नहीं करता [illegible] नाटक में आत्मा रूपी व्यक्ति (पात्र) [illegible] और जब तक वह उपयुक्त रहता है तब तक [illegible] अनुपयुक्त हो जाता है तो उसको [illegible]

[illegible]

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अर्थ—इस (शरीर धारण करने वाले जीवात्मा) को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गला (सड़ा) नहीं सकता, (और) हवा सुखा नहीं सकती (२३)। यह न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गलाया (सड़ाया) जा सकता है और न सुखाया जा सकता है; यह नित्य, सबमें व्यापक, सदा स्थित, नाशरहित और अनादि है। तात्पर्य यह कि जो शरीरों में है, वही शस्त्रों में, तथा वही अग्नि, जल और हवा में है; उससे भिन्न कोई वस्तु है नहीं, फिर कौन किसको काटे, जलावे, गलावे या सुखावे (२४)। यह (शरीर धारण करने वाला जीवात्मा) अव्यक्त है, अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं होता; यह अचिन्त्य है, अर्थात् मन से इसका चिन्तन नहीं किया जा सकता; और यह अविकारी कहा गया है, अर्थात् वृद्धि, क्षय आदि विकारों से रहित है; इसलिए इसको ऐसा जान कर तुझे शोक नहीं करना चाहिए (२५)।

स्पष्टीकरण—जिस प्रकार लोह के खिलौनों की तलवार, कटारी, बर्छी आदि, लोह ही के बने, पुरुष, पशु, पक्षी आदि को काट नहीं सकते; वे यदि आपस में टकरा जावें, तो सभी लोह-रूप हो जाते हैं, और पहले भी वास्तव में वे सब लोह ही थे, अतः वस्तुतः उनका नाश नहीं होता; उसी तरह एक ही आत्म-तत्त्व के अनेक नाम-रूपात्मक जड़ और चेतन पदार्थ आपस में किसीका वस्तुतः नाश नहीं कर सकते। इसलिए उनके विषय में शोक करना अयुक्त है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अर्थ—और यदि तू (आधिभौतिकता ही को सत्य और सब कुछ मानने

आत्मा में दोनों सम अर्थात् शान्त हो जाते हैं। इसलिए जन्मना-मरना वास्तव में कोई वस्तु है नहीं।

सभी भूत-प्राणी स्थूल रूप से इन्द्रिगोचर होने के पहले, अर्थात् अपनी उत्पत्ति से पहले, अव्यक्त यानी सूक्ष्म रूप में रहते हैं—इन्द्रियों को प्रतीत नहीं होते; और उत्पत्ति के बाद, अर्थात् पञ्च भूतों के आपस के सम्मिश्रण से स्थूल रूप धारण करने पर व्यक्त होते हैं, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा देखे, सुने, सूँघे, चखे और छुए जा सकते हैं; और फिर जब इनका नाश होता है अर्थात् जब पञ्च भूतों का सम्मिश्रण बिखर जाता है तब फिर अव्यक्त हो जाते हैं, यानी स्थूल शरीर रूपी पोशाक बदल कर सूक्ष्म हो जाने के कारण इन्द्रियों के अगोचर हो जाते हैं। ऐसी दशा में, जब भूत-प्राणियों का व्यक्त और अव्यक्त होना ही जन्मना और मरना है, तो शोक किस बात का?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

अर्थ—इस (देह धारण करने वाले आत्मा) को, अर्थात् जगत् रूपी खेल के इस खिलाड़ी को, कोई आश्चर्यान्वित होकर देखता है; कोई आश्चर्यान्वित होकर (इसका) वर्णन करता है; कोई इसके विषय में आश्चर्यान्वित होकर सुनता है, और सुन कर भी कोई इसको जान नहीं सकता (२९)।

स्पष्टीकरण—जिस तरह जादू का खेल करने वाला ऐन्द्रजालिक (जादूगर), जब अनेक प्रकार के रूप धारण करता है और अनेक प्रकार के अद्भुत बनाव एक ही काल में लोगों को दिखाता है, तब दर्शक लोग उसके असली स्वरूप को न जान कर आश्चर्यचकित हुए, उस (जादूगर) के जादू के बनावों को देखते हैं, और उसके जादू के वास्तविक रहस्य को न जान कर आश्चर्यचकित हुए अनेक प्रकार की अटकलें लगा-लगा कर उसके विषय में तरह-तरह की बातें करते रहते हैं; और बहुत से लोग उन बातों के तथ्यातथ्य को न समझते हुए, आश्चर्यचकित होकर सुनते रहते हैं; फिर भी उन देखने वालों, कहने वालों और सुनने वालों में से उस जादू के खेल के वास्तविक रहस्य को, अर्थात् अद्भुत जादूगर को यथार्थ रूप से कोई विरला ही जान सकता है। क्योंकि सब लोगों का ध्यान केवल उस खेल के भाँति-भाँति के बनावों पर ही रहता है—उसके खिलाड़ी तक

खोकर पाप का भागी बनेगा (३३)। साथ ही जन-साधारण निरन्तर तेरी निन्दा करते रहेंगे, और माननीय पुरुष के लिए निन्दा, मृत्यु से भी बढ़कर होती है (३४)। महारथी लोग तुझे डर के मारे युद्ध से हटा हुआ समझेंगे, और जिनकी दृष्टि में (आज तक) तू सम्मान्य था, उन्हींकी दृष्टि में बहुत गिर जायगा (३५)। तेरे शत्रु लोग तेरे सामर्थ्य (बल) की निन्दा करते हुए, न कहने योग्य बहुत सी बातें तेरे विषय में कहेंगे—इससे अधिक दुःख और क्या होगा (३६)? यदि तू मारा गया तो स्वर्ग पावेगा, और यदि जीत गया तो पृथ्वी (का राज्य) भोगेगा, इसलिए हे कौन्तेय! तू निश्चय करके युद्ध के लिए उठ खड़ा हो (३७)। सुख-दुःख हानि-लाभ और जीत-हार को समान मान कर युद्ध में जुट जा, ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा (३८)।

स्पष्टीकरण—अर्जुन ने धर्मशास्त्र के आधार पर कहा था कि 'युद्ध में गुरुओं तथा स्वजन-बान्धवों की हिंसा का पाप होगा, कुल का नाश होने से कुल धर्म तथा जाति-धर्म नष्ट होंगे और सब नरक में पड़ेंगे, अतः ऐसे युद्ध की अपेक्षा तो भीख मांग कर निर्वाह करना ही श्रेयस्कर है।' भगवान यहां पर उसी धर्मशास्त्र के अनुसार अर्जुन को युद्ध करने की धार्मिकता बताते हुए कहते हैं, कि कौरवों द्वारा अन्याय से छीनी गई अपनी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए अनिच्छा से तुझे युद्ध करने के निमित्त उद्यत होना पड़ा है, किसी के [illegible] या किसी पर अन्याय करने के लिए तूने युद्ध नहीं ठाना है इस कारण [illegible] यह धर्म युद्ध है। इस तरह का धर्म-युद्ध करना, तथा [illegible] के लिए उसमें लड़ना, धर्मशास्त्रों ने क्षत्रियों का मुख्य धर्म माना है [illegible] होता है, उन्हीं के प्रमाणों से इस अवसर पर लड़ना [illegible] कर्तव्य है। कुल और जाति के धर्म [illegible] होंगे, और पाप भी (यदि होता [illegible] [illegible]

शेष रही पाप लगने की बात, सो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति न रख कर सबके हित के लिए अपने कर्तव्य-कर्म करने में जो सुख, दुःख, हानि, लाभ, जय, पराजय प्राप्त हो जायँ, उनको एक समान जानते हुए, अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहने से तुझे कोई पाप नहीं लगेगा; क्योंकि अपने व्यक्तित्व के लिए सुख, जय और लाभ आदि की प्राप्ति की इच्छा से जो कर्म किये जाते हैं, उन्हींसे पाप का बन्धन होता है। सुख-दुःख आदि पर लक्ष्य न रख कर अपने कर्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किये जाते हैं, उनसे पाप का बन्धन नहीं होता। (प्रत्यक्ष में भी देखने में आता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति बिना, अपनी ड्यूटी बजाने अर्थात् कर्तव्य पालन करने में किसीसे कोई हिंसा आदि हो जाती है, तो वह दण्ड का भागी नहीं होता)।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि श्लोक ३२ से ३७ तक जो पुण्य, पाप, कीर्ति, अकीर्ति, मान, प्रतिष्ठा, स्वर्ग-प्राप्ति और राज्य-सुख भोगने आदि की बातें भगवान् ने कही हैं, वे सिद्धान्त-रूप से नहीं कहीं हैं, किन्तु अर्जुन के कहे हुए धर्मशास्त्र के अनुसार ही युद्ध करने की धार्मिकता और सार्थकता दिखाने के निमित्त कही हैं; क्योंकि आगे चलकर भगवान् राज्य और स्वर्गादि की प्राप्ति की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करने का निषेध करते हैं, और जय-पराजय, कीर्ति-अकीर्ति आदि में सम रहने का अर्जुन को बार-बार उपदेश देते हैं।

×　　　　×　　　　×

भगवान् ने अर्जुन का शोक और मोह मिटाने के प्रसङ्ग में पहले आत्मज्ञान का वर्णन किया; फिर अर्जुन ही के माने हुए धर्मशास्त्रानुसार उसे अपने धर्म पालन करने के लिए युद्ध करने की आवश्यकता बताकर, युद्ध में होने वाली हिंसा के पाप से बचने के लिए उसे सुख और दुःख, हानि और लाभ, जय और पराजय को एक समान समझ कर युद्ध करने अर्थात् निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया। परन्तु केवल आत्मज्ञान के तथा कोरे धर्मशास्त्रों के प्रमाणों से एवं कोरे निष्काम कर्म के [illegible]

व्यवहारों में जोड़ने के विषय में विचार किया जाता है, सो सुन। हे पार्थ ! इस बुद्धि से युक्त होकर तू (कर्म करता हुआ भी) कर्मों के बन्धन से मुक्त रहेगा (३९)। इस (समत्व-योग) में लगने पर आरम्भ का नाश नहीं होता, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से व्यवहार करना आरम्भ करने के बाद फिर वह व्यर्थ नहीं जाता; न इसमें कोई विघ्न होता है, और न इसका प्रत्यवाय अर्थात् उलटा परिणाम ही होता है; (और) इस धर्म का थोड़ा भी आचरण महान् भय से मुक्त करता है (४०)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में श्लोक १२ से ३० तक जो आत्मज्ञान का वर्णन किया गया है उसमें एक ही आत्मा को सब भूत-प्राणियों में एक समान व्यापक बताया गया है, अर्थात् यह कहा गया है कि सारी चराचर सृष्टि, एक ही आत्मा (जो सबका 'अपना आप' है) के अनेक रूप हैं—उससे पृथक् कुछ भी नहीं है। अब भगवान् उस आत्मज्ञान को व्यवहार में जोड़ने के समत्व-योग, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता का ज्ञान रखते हुए, दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति से रहित होकर, साम्य-भावयुक्त जगत् के व्यवहार यथायोग्य करने का विधान करते हैं; और इस सम्बन्ध में सबसे पहले उस समत्व-योग का थोड़ा-सा माहात्म्य कहते हैं।

उपरोक्त आत्मज्ञान के अभ्यास से मनुष्य को शनैः-शनैः अपने आपके और जगत् के असली स्वरूप, यानी सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक, नित्य एवं मुक्त आत्मा की एकता एवं परिपूर्णता का अनुभव होने लगता है, और उस अनुभव-सहित अपने कर्तव्य-कर्म करने में कर्मों की आधीनता का बन्धन नहीं रहता; क्योंकि सारे कर्मों का प्रेरक आत्मा है, इसलिए कर्म आत्मज्ञानी के आधीन रहते हैं। जिसका आत्मज्ञान का अभ्यास जितना ही अधिक बढ़ा हुआ होता है, उतना ही वह कर्मों की आधीनता से अधिक मुक्त होता है, और अभ्यास बढ़ते-बढ़ते अन्त में सर्वात्म-भाव में दृढ़ स्थिति हो जाने पर वह पूर्ण स्वतन्त्र यानी जीवन्मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि इस समत्व-योग का आचरण एक बार आरम्भ करने के बाद फिर वह निरर्थक नहीं जाता, उससे कर्मों पर यथायोग्य थोड़ा या बहुत आधिपत्य अवश्य ही प्राप्त होता है।

इसके आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि, भूल या कमी रह जाने से कोई उलटा फल भी नहीं होता अर्थात् दूसरे धर्मों अथवा साधनों की तरह इसमें ऐसी मर्यादाओं के टूटने की आवश्यकता नहीं है कि जिनके बिना इसकी सिद्धि न हो, और न कोई ऐसी क्रिया या विधि ही है कि जिनके पूरे न होने से दुष्परिणाम न हो, न इसमें किसी व्यक्ति के साधन की आवश्यकता है कि जिनके बिना इसमें कोई

विघ्न पड़ने की सम्भावना हो। इसमें एक बार लगने से उत्तरोत्तर उन्नति ही होती है। किसी भी देश में, किसी भी काल में, कोई भी व्यक्ति इसका आचरण कर सकता है; और इस धर्म का पहले थोड़ा भी आचरण किया जाय तो मनुष्य निर्भय हो जाता है, अर्थात् पहले थोड़े लोगों से, यानी अपने कुटुम्ब, जाति, ग्राम आदि के साथ एकता के प्रेम-भाव में जुड़ कर समता का व्यवहार करने से भी बहुत आत्मबल आ जाता है, और इसका जितना अधिक आचरण किया जाता है, उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता और निर्भीकता बढ़ती जाती है। इसमें लगा हुआ मनुष्य कभी नीचा नहीं गिरता।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन ! इस विषय में, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से साम्य-भावयुक्त संसार के व्यवहार करने में, निश्चयात्मिका व्यावहारिक बुद्धि एक ही होती है यानी इस तरह (आत्मज्ञान-युक्त) कर्म करने वालों का एक यही निश्चय रहता है कि यह जगत् एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं। परन्तु जो इस आत्मज्ञान से व्यवहार नहीं करते, उनकी बुद्धि की बहुत शाखाएँ होकर वह (बुद्धि) अनन्त प्रकार की हो जाती है (४१)। हे पार्थ ! वेदों के अर्थवाद के (रोचक) वाक्यों में उलझे हुए तथा "इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है" ऐसा कहने वाले, कामनाओं में आसक्त, और स्वर्ग ही है अन्तिम लक्ष्य जिनका ऐसे विचार-हीन लोग, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त, बहुत से कर्मकाण्डों के प्रपंच करने वाली एवं जन्म और कर्म रूप फल को देने वाली मन-लुभावनी बातें किया करते हैं। उन बातों से जिनका चित्त हर लिया गया है, उन भोग और ऐश्वर्य में आसक्त अज्ञानी लोगों की निश्चयात्मक बुद्धि समाधि अर्थात् साम्य-भाव में स्थिर नहीं होती। तात्पर्य यह कि जो विचार-

हीन लोग कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों के भेद-प्रतिपादक रोचक और भयानक वचनों में ही उलझे हुए रहते हैं और उन्हींको सब-कुछ मानते हैं, और "जो कुछ है सो ये ही हैं, इनके सिवाय और कुछ नहीं है" ऐसा कहते हैं, उनका अन्तःकरण नाना प्रकार की सांसारिक कामनाओं से भरा हुआ रहता है; उनका सबसे अन्तिम ध्येय मरने के बाद स्वर्ग में जाकर नाना प्रकार के विषय भोगने का ही रहता है; ऐसे अज्ञानी लोग नाना भांति के विषय-भोग, धन-सम्पत्ति, सत्ता, मान-प्रतिष्ठा आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए उक्त वेदादि-शास्त्रोक्त (अग्निहोत्र, बलि-वैश्वदेव, देवकर्म, पितृकर्म, नित्य-नैमित्तिक कर्म, षोडश संस्कार आदि) कर्मकाण्डों की विविध प्रकार की क्रियाओं के करने में प्रीति बढ़ाने के निमित्त उनकी प्रशंसा की अतिशयोक्तियों में मन को लुभाने वाले व्याख्यान दिया करते हैं। भोग और ऐश्वर्य के मोह में गर्क रहने वाले मूढ़ लोग उन सुहावनी बातों से मोहित होकर सकाम कर्मकाण्डों में लगे रहते हैं, जिनसे बार-बार जन्म और उनमें होने वाले कर्म, एवं उन कर्मों के फलस्वरूप फिर जन्म और फिर कर्म, इस तरह जन्म-कर्म के चक्कर में पड़े हुए वे लोग गोते खाते रहते हैं। ऐसे मूर्ख लोगों की निश्चयात्मक बुद्धि, समता एवं एकता के साम्य-भाव में कभी स्थिर नहीं होती (४२-४४)।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

अर्थ—हे अर्जुन! (कर्मकाण्डात्मक) वेद तीन गुणों को ही विषय करते हैं; तू तीन गुणों से ऊपर उठ और द्वन्द्वों से परे, नित्य-सत्त्व में स्थित और योग-क्षेम से रहित होकर (अपने वास्तविक स्वरूप) आत्मा का अनुभव कर। तात्पर्य यह कि भेद-प्रतिपादक कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्र त्रिगुणात्मक प्रकृति के नाना नामों और रूपों के बन्धनों में ही उलझाये रखने वाले वर्णनों से भरे पड़े हैं। तू अपने को उन त्रिगुणात्मक प्रकृति के बन्धनों से ऊपर, प्रकृति का स्वामी अनुभव कर, और सुख-दुःख आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वों से परे, नित्य-सत्त्वरूप सबके एकत्व-भाव में स्थित होकर, तथा अपने से पृथक् किसी भी पदार्थ की प्राप्ति और रक्षा की चिन्ता से रहित होकर स्वतः अपने आप [illegible] अनुभव कर [illegible] जब सब ओर जल ही जल हो जाने पर [illegible] प्रयोजन पूरे हो जाते हैं, उसी प्रकार [illegible] ब्रह्मज्ञानी को सब वेदों से रहता है।

उसको "अपना आप" समझो; और सुख-दुःख, हानि-लाभ, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, प्रिय-अप्रिय, उत्पत्ति-नाश तथा प्राप्ति-अप्राप्ति आदि सब प्रकार के द्वन्द्वों को अपना ही खेल जान कर, स्वयं अपने आपमें परिपूर्ण हो जाओ अर्थात् ऐसा अनुभव करो कि "मैं परिपूर्ण हूँ, मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं"। ऐसा करने से इन वेदादि शास्त्रों में वर्णित इहलौकिक तथा पारलौकिक सारे सुख स्वयं तुम्हें अपने आप ही में दीखने लगेंगे; क्योंकि जिसको सारा जगत् आत्मस्वरूप प्रतीत होता है, उससे अलग कोई भी वस्तु बाकी रह ही नहीं जाती। जिस तरह, जब सर्वत्र जल ही जल हो जाता है, तब कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि सभी जलाशय उसके अन्दर आ जाते हैं; उसी तरह आत्मज्ञानी सारी सृष्टि को अपने अन्दर, अपने ही स्वरूप में अनुभव करता है।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि गीता, कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित क्रियाओं को बिलकुल निरर्थक बताती है; क्योंकि गीता किसी भी मत, किसी भी धर्म या किसी भी मजहब का सर्वथा तिरस्कार नहीं करती, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। बड़े-बड़े ऋषियों, मुनियों, आचार्यों और पैगम्बरों आदि के चलाये हुए धर्म और मजहब बिलकुल निरर्थक नहीं होते, किन्तु उन सबका कुछ न कुछ उपयोग अवश्य होता है। वे अपने-अपने क्षेत्र में उपयोगी होते हैं और स्थूल बुद्धि की साधारण जनता के लिए हितकारी होते हैं। जो नाना प्रकार के नैतिक और धार्मिक आचरणों की व्यवस्थाएँ बड़े-बड़े विचारशील पुरुषों ने शास्त्रों में कही हैं, वे राजसी-तामसी प्रकृति के लोगों को पशु-वृत्ति से, अर्थात् अनियमित रूप से विषयादिकों के भोगने में ही निरन्तर लगे रहने के आसुरी भावों को हटा कर, उनको संयम से रहने, और नियमित रूप से, संस्कार किये हुए भोग भोगने में प्रवृत्त करती हैं। इसके अतिरिक्त जो लोग आधिभौतिकता ही को सत्य मान कर इस भौतिक शरीर के नाश होने पर कुछ भी शेष रहना नहीं मानते, तथा परलोक एवं पुनर्जन्म में विश्वास न रखने के कारण बुरे कर्मों से नहीं डरते, एवं ईश्वर अथवा आत्मा आदि अदृष्ट सर्वव्यापक सूक्ष्म शक्ति को न मान कर जगत् का अहित करने और समाज को कष्ट देने में लगे रहते हैं (गी० अ० १६ श्लो० ७ से ९) उनको आस्तिक बना कर ईश्वर के भय, तथा जन्मान्तरों में स्वर्ग-नरक की प्राप्ति के रोचक-भयानक वचनों से, समाज-विध्वंसकारी कर्मों से निवृत्त करके प्राणी मात्र से प्रेम करने में प्रवृत्त करते हैं, जिससे वे स्वयं सुख पाते हैं और दूसरों को भी सुख देते हैं। सारांश यह कि ये कर्मकाण्डात्मक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक शास्त्र

स्थूल बुद्धि के विचार-हीन लोगों को सन्मार्ग में लगाने का काम तो अवश्य ही करते हैं; परन्तु इतना ही करके ये रह जाते हैं—इससे आगे नहीं बढ़ते, और साथ ही ये जनता को अन्धविश्वासी बना कर बुद्धि से काम लेने के अयोग्य कर देते हैं। अतः जो लोग इन धार्मिक क्रियाओं ही को सब कुछ मान कर इन्हींमें सदा उलझे रहते हैं, उनको आत्मज्ञान का सच्चा सुख, अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त नहीं होती; और अर्जुन जैसे अपने और दूसरों के हिताहित का विचार करने वाले विचक्षण बुद्धि के कार्यकर्ताओं को ये भेदवाद के कर्मकाण्डात्मक शास्त्र कुछ भी सहायता नहीं देते, किन्तु उलटा मोह बढ़ा कर उनकी किंकर्तव्य-विमूढ़ता को दृढ़ करते हैं।

इसलिए भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सब सूक्ष्म विचारवालों को उपदेश देते हैं, कि इन भेदवाद के शास्त्रों की उलझन में मत पड़ो। बुद्धिमान् लोगों का अधिकार इनसे ऊँचे उठ कर, सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त समत्व-बुद्धि से कर्मों के अधिपति रूप से जगत् के व्यवहार करने का होता है।

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥
> योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
> सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

अर्थ—कर्म ही में तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं तेरे कर्म फल के उद्देश्य से न होवें और कर्म न करने में तेरी आसक्ति न होवे। तात्पर्य यह कि ऊपर के दो श्लोकों में कहे अनुसार तू कर्मरूप प्रकृति का स्वामी है, अतः कर्मों के स्वामी-भाव से उन्हें करने का तेरा अधिकार है—वे तुझे अवश्य करने चाहिएँ; और फल कर्म के साथ ही रहता है अर्थात् जैसा कर्म होता है उसीके अनुसार उसका फल स्वतः ही होता है, इसलिए कर्म से पृथक् फल पर किसीका कोई अधिकार नहीं होता, अतः तेरे कर्म किसी प्रकार का व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के निमित्त को लेकर नहीं होने चाहिएँ; और अपने कर्तव्य-कर्म दुःख रूप अथवा बन्धन-रूप होने की आशंका से उन्हें छोड़ कर अकर्मी होने का भाव भी तेरे अन्तःकरण में नहीं होना चाहिए, क्योंकि कर्म तेरे से पृथक् नहीं हैं (४०)। हे धनञ्जय! योग में स्थित होकर तथा सङ्ग छोड़कर एवं सिद्धि और असिद्धि में सम होकर कर्म कर; समत्व ही योग कहा जाता है। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता के अनुभव-युक्त साम्य-भाव से अपनी योग्यता के कर्तव्य कर्म कर, और उसके

कारण इन पर मेरा अधिकार है। न दूसरों से पृथक अपने व्यक्तित्व के अहंकार और दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति छोड़ कर साम्य-भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक इस संसाररूपी खेल में अपने शरीर की योग्यता के कर्म करने का अपना पार्ट अच्छी तरह बजा। इस खेल में जो नाना भाँति के सुख दुःख आदि द्वन्द्व प्रतीत हों, उनकी कुछ परवाह मत कर क्योंकि यह सब मेरा ही कल्पना है। अतः इन द्वन्द्वों से विचलित न होकर इनमें एक समान (सम) बना रह।'

विमुक्ति-मार्ग के टीकाकार श्लोक ४७ का यह अर्थ निकालते हैं कि अर्जुन अज्ञानी था, इस कारण उसका अधिकार कर्म करने ही का था। इसलिए भगवान ने उसे (अज्ञान अवस्था में ही) कर्म करते रहने का उपदेश दिया है। परन्तु प्रसंग के सम्बन्ध पर ध्यान रखने से यह अर्थ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि श्लोक ११ से ३० तक भगवान् ने पहले आत्मज्ञान के वर्णन से उपदेश का आरम्भ करके श्लोक ३१ से ३८ तक कर्म करने की आवश्यकता बता कर, श्लोक ३९-४० में आत्मज्ञान सहित जगत् के व्यवहार करने का माहात्म्य कहा। फिर श्लोक ४१ से ४४ तक दूसरों से पृथक अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए काम्य-कर्मों के करने की निन्दा करके अन्त में श्लोक ४५-४६ में भेद-वाद के शास्त्रों की उलझन से ऊपर उठकर तथा द्वन्द्वों से रहित एवं योग-क्षेम की चिन्ता से परे होकर अपने आपमें परिपूर्णता के अनुभव करने का उपदेश दिया। अब श्लोक ४७-४८ में सर्वभूतात्मैक्य साम्य भाव से कर्म करने को कहते हैं। इन सब वचनों की संगति करके विचार करने से अर्जुन को अज्ञान अवस्था ही में, फल त्याग कर कर्म करने का उपदेश देना नहीं पाया जाता किन्तु सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ कर व्यक्तित्व की आसक्ति के बिना, अपनी प्रकृति के स्वामी भाव से, जगत्-रूपी खेल में स्वाधीनतापूर्वक अपना अपनी योग्यता के कर्म करने का उपदेश देना पाया जाता है।

गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ वस्तुतः यहीं से होता है। अतः कहना चाहिए कि श्लोक ४५ से ४८ तक चार श्लोक गीता ज्ञान के मूल तत्त्व हैं। इन्हीं चार श्लोकों की विस्तृत व्याख्या आगे की गई है। इन श्लोकों में सबकी एकता के अनुभव-युक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने के लिए विधान है; इससे यह स्वतः सिद्ध है कि गीता का मूल प्रतिपाद्य विषय समत्व योग ही है।

जिनको सर्वभूतात्मैक्य अर्थात् सबकी एकता का ज्ञान नहीं होता, वे व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करते हैं और जब कर्मों से किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि नहीं होती, उनको निरर्थक बोझ रूप अथवा दुःख रूप समझ कर छोड़ देते हैं। परन्तु जिनको सर्वभूतात्मैक्य ज्ञान होता है उनको पृथक

व्यक्तित्व का अहंकार न रहने के कारण कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता, किन्तु वे जगत् को अपने समष्टि-भाव का खेल समझ कर, उस खेल ही की सिद्धि के लिए अर्थात् लोक-संग्रह के लिए, स्वेच्छा से कर्म किया करते हैं। उनका लक्ष्य कर्म-फल पर नहीं रहता, क्योंकि उनकी दृष्टि में कर्म और फल "अपने आप (आत्मा)" से भिन्न नहीं होते। जिनको व्यक्तित्व का अहंकार होता है उनके कर्म अपने व्यक्तित्व के लिए होते हैं, अतः उनको कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ता है; परन्तु जिनके सर्वात्म-भाव होता है उनके कर्म सबके लिए होते हैं, अतः उनके फल भी सबके लिए होते हैं। आत्मज्ञानी सारे कर्मों को अपना खेल समझते हैं, इसलिए उन्हें कर्म बोझ-रूप या दुःख-रूप प्रतीत नहीं होते; न वे उनको निरर्थक ही समझते हैं, क्योंकि वे कर्म उस खेल के उपयोगी होते हैं; इसलिए कर्म न करने का भाव उनके अन्तःकरण में उत्पन्न नहीं होता। इस तरह आत्मज्ञानयुक्त जगत् के व्यवहार स्वतन्त्रतापूर्वक करने का उपदेश भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको देते हैं।

जिस तरह एक स्वाधीन राष्ट्र की राज्य-व्यवस्था में उस राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अङ्ग होता है, राष्ट्र से वह भिन्न नहीं होता, किन्तु वह अपने को राष्ट्र-रूप ही समझता है; और उस राष्ट्र को सुव्यवस्थित रखने के लिए जो-जो कर्म उसने अपने जिम्मे लिये हों, उनको वह स्वयं अपना कार्य समझ कर बहुत अच्छी तरह करता है, राष्ट्र के हित में अपना हित समझता है, राष्ट्र से अलग अपना व्यक्तित्व नहीं समझता, राष्ट्र के स्वार्थ के अन्तर्गत अपना स्वार्थ समझता है। उसी तरह समष्टि-आत्मा=परमात्मारूपी स्वाधीन राष्ट्र के संसाररूपी राज्य में प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न व्यक्ति, समष्टि-आत्मा यानी परमात्मा का ही व्यष्टि रूप है, उससे भिन्न नहीं है। अतः अपने समष्टि-भाव के साम्राज्यरूपी इस जगत् को अच्छी तरह चलाने के लिए जो-जो कर्तव्य व्यष्टि-भाव से अपने जिम्मे लिये हों, उन्हें स्वयं अपने कार्य समझ कर अच्छी तरह करना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को जगत्[1] से अलग नहीं समझना चाहिए, और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को जगत्[1] के स्वार्थों से अभिन्न, अर्थात् उनके अन्तर्गत समझना चाहिए। जगत् के हित में ही अपना हित जानना चाहिए। जिस तरह स्वाधीन राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने को स्वाधीन समझता है, और अपने कर्तव्य-कर्म स्वाधीनतापूर्वक स्वामी भाव से करता है, उनको त्याग कर राष्ट्र की हानि करने की इच्छा नहीं करता उसी तरह प्रत्येक व्यक्ति को इस जगत् में अपने आपको

[1] यहाँ जगत् से तात्पर्य अपने-अपने कार्यक्षेत्र की सीमा में आने वाले तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोगों से समझना चाहिए।

वे फल में कुछ भी आसक्ति नहीं रखते, वे बहुत उदार एवं सब कर्मों के स्वामी होते हैं; अतः उनको पुण्य और पाप दोनों का बन्धन नहीं होता; न उनको जन्म-मरण आदि किसी प्रकार का क्लेश ही होता है। वे अपने आपको सब प्रकार से परिपूर्ण अनुभव करते हुए स्वेच्छा से व्यवस्थापूर्वक सांसारिक व्यवहार करते हैं। सारांश यह कि साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करना ही कर्मों में कुशलता है और यही परम श्रेयस्कर है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्थ—जब तेरी बुद्धि (सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थित होकर) मोह (अज्ञान) के दल-दल से पार हो जायगी, तब जो कुछ (भेद-वाद के शास्त्रों के वचन) तूने सुने हैं, और भविष्य में जो कुछ सुनेगा, उन (सब) के प्रभाव से तू रहित हो जायगा, अर्थात् तू उन भेद-वाद के शास्त्रों के रोचक-भयानक वचनों की उपेक्षा कर देगा (५२)। कर्मकाण्डात्मक वेदादि शास्त्रों के भेद-वाद के नाना भाँति के वाक्यों से विचलित होकर भटकती हुई तेरी बुद्धि जब सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव के एक निश्चय पर अचल-अटल हो जायगी, तब तुझे समत्व-योग प्राप्त होगा, अर्थात् उस समय तू सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भावयुक्त व्यवहार करने में पूर्णतया कुशल होगा (५३)।

स्पष्टीकरण—संसार के व्यवहार करने में जिस समय कोई विकट समस्या सामने उपस्थित होती है और दो या उससे अधिक विरोधी धर्मों के संघर्ष का अवसर आ जाता है—जैसा कि अर्जुन के सम्मुख आया था, जब कि एक तरफ युद्ध करने से पूज्यों तथा स्वजन-बान्धवों की हत्या का पाप, और दूसरी तरफ युद्ध न करने से क्षात्र-धर्म का नाश दीखता था—ऐसी दशा में मनुष्य किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर मोह के दलदल में फँस जाता है, जिससे निकलने के लिए वह नीति और धर्मशास्त्रों की शरण में जाता है। परन्तु उन शास्त्रों के भेद-वाद के—अनेक स्थलों पर परस्पर विरोधी—वचनों से उलझनें और बढ़ जाती हैं; क्योंकि उनमें कहीं पर किसी धर्म का विवेचन और कहीं पर उसके विरुद्ध धर्म की विवेचना की परस्पर विरोधी व्यवस्थाएँ मिलती हैं। कहीं दया और अहिंसा की महिमा गायी गई है, तो कहीं दुष्ट को दण्ड देना, युद्ध में शत्रुओं को मारना और यज्ञ में पशुओं का वध करना

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि हे केशव ! समाधि में जिसकी बुद्धि स्थिर (हो जाती) है, उस स्थितप्रज्ञ पुरुष के क्या लक्षण हैं ? और उस स्थिरचित्त-बुद्धि वाले पुरुष की बोल-चाल, रहन-सहन (एवं) हलचल कैसी होती है * (५४) ? भगवान् ने कहा कि हे पार्थ ! जब (मनुष्य) व्यक्तिगत स्वार्थ की सब कामनाओं के सङ्कल्प मन से त्याग देता है, और अपने आप ही में सन्तुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य बुद्धि वाला व्यक्ति सब भूतों को अपने में और अपने को सब भूतों में अनुभव करता है, अपने से भिन्न कोई पदार्थ उसकी दृष्टि में नहीं रहता, इसलिए दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व का भाव और दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की कामनाएँ उसके मन में शेष नहीं रहतीं—वह अपने आप में ही परिपूर्ण रहता है (५५)। दुःखों से जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुख के लिए जो लालायित नहीं होता और जो राग, भय एवं

---

* यहाँ पर "समाधि" शब्द का जो अर्थ किया गया है वह दूसरी टीकाओं से कुछ विलक्षण प्रतीत होगा। दूसरी कई टीकाओं में इस शब्द का अर्थ "योग की समाधि अवस्था" किया गया है, परन्तु योग की समाधि में बोलना-चलना आदि सब व्यवहार बन्द रहते हैं, इसलिए अर्जुन का यह प्रश्न ही नहीं बन सकता था और भगवान् ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है [illegible] "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" तथा "यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य [illegible] योग की समाधि अवस्था पर नहीं घट सकते [illegible] और भले-बुरे आदि की प्राप्ति ही नहीं होती [illegible] "समाधि" शब्द आया है वहाँ कई टीकाकारों ने उसका [illegible] किया है, और आत्मा सम है, इसलिए इसका [illegible]

क्रोध से ऊपर है, ऐसा ज्ञानी पुरुष स्थितप्रज्ञ कहा जाता है (५६)। जिसको किसी भी पदार्थ में स्नेह की आसक्ति नहीं रहती, शुभ अर्थात् अनुकूल की प्राप्ति में जिसको हर्ष नहीं होता, और अशुभ अर्थात् प्रतिकूल की प्राप्ति में जिसको विषाद नहीं होता, उसकी बुद्धि (साम्य-भाव में) ठहरी हुई है (५७)। और जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से अपने अन्दर सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य सब ओर से इन्द्रियों को उनके बाह्य विषयों से समेट कर अपने अन्दर (अन्तर्मुख) कर ले, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिए) (५८)। विषय तो निराहारी पुरुष के भी छूट जाते हैं, परन्तु उनका रस अर्थात् चाह नहीं छूटती; परमात्मा के दर्शन होने पर अर्थात् आत्मा-परमात्मा की एकता का अनुभव होने पर उनकी चाह भी निवृत्त हो जाती है (५९)। हे कौन्तेय! ये इन्द्रियाँ ऐसी प्रबल हैं कि प्रयत्न करते हुए विद्वान् पुरुष के मन को भी बलात्कार से खींच लेती हैं (६०)। इसलिए मेरे परायण होकर, उन सबको वश में करके, युक्त अर्थात् साम्य-भाव में स्थित होना चाहिए; जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है (६१)। विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य का उनमें संग अर्थात् आसक्ति हो जाती है; संग से (उक्त विषयों की प्राप्ति की) कामना उत्पन्न होती है, कामना से (प्राप्ति में बाधा पड़ने पर, अथवा विषयों का वियोग होने से, अथवा विषयों से तृप्ति न होने से, अथवा उनका दुष्परिणाम होने से) क्रोध उत्पन्न होता है; क्रोध से संमोह अर्थात् किंकर्तव्य-विमूढ़ता होती है; संमोह से स्मृति बिगड़ जाती है, अर्थात् पूर्व अनुभव की यथार्थ स्मृति नहीं रहती; स्मृति के बिगड़ने से बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है; और विचार-शक्ति के नष्ट हो जाने से सर्वनाश हो जाता है (६२-६३)। परन्तु जिसका मन आत्मा वशी करने वाले आप में स्थित है, वह पुरुष राग-द्वेष से रहित होकर अपने आधीन की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ भी प्रसन्न रहता है (६४)। चित्त की प्रसन्नता से उसके सब दुःखों का अभाव हो जाता है, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि तत्काल ही स्थिर हो जाती है (६५)। समत्व-योग से रहित पुरुष की बुद्धि (निश्चयात्मक) नहीं होती, और न समत्व-योग रहित पुरुष में भावना अर्थात् आत्मज्ञान में श्रद्धा ही होती है; श्रद्धा-विहीन पुरुष को शान्ति नहीं होती और अशान्त को सुख कहां? अर्थात् जिसके मन में संशय और विक्षेप बने रहते हैं वह सुखी नहीं हो सकता (६६)। क्योंकि जो मन, विषयों में वर्तनेवाली इन्द्रियों के पीछे लगा रहता है, वह मनुष्य की बुद्धि को उसी तरह डांवाडोल कर देता है, जिस प्रकार हवा नाव को पानी में (डांवाडोल कर देती है) (६७)। इसलिए हे महाबाहु! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार विषयों से हटी हुई, अर्थात् अपने वश में की हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है (६८)।

स्पष्टीकरण—सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में जिसकी बुद्धि स्थिर हो [illegible] है, उस स्थितप्रज्ञ का सबसे पहला चिन्ह भगवान यह बताते हैं कि वह अपने [illegible] परिपूर्ण होता है, अपने से भिन्न किसी पदार्थ की प्राप्ति का उसके मन में [illegible] नहीं उठता, क्योंकि वह सबको "अपने आप" में और "अपने आप" को [illegible] अनुभव करता है (गी० अ० ६ श्लोक २९-३०) । इसलिए अपने से भिन्न [illegible] अप्राप्त वस्तु उसकी दृष्टि में नहीं रहती, अतः वह पूर्ण सन्तुष्ट रहता है। यह [illegible] साधारण लोगों में भी प्रत्यक्ष देखने में आती है कि जिसको जितने पदार्थों के [illegible] अपनी एकता का ज्ञान होता है, अर्थात् जो व्यक्ति जितने पदार्थ अपने मानता [illegible] उनकी प्राप्ति की उसे आकांक्षा नहीं रहती। उस विषय में उस हद तक वह अपने [illegible] पूर्ण समझ कर सन्तुष्ट रहता है। जिस व्यक्ति के पास प्रचुर सम्पत्ति, पर्याप्त [illegible] और अनुकूल परिवार होता है, वह उस हद तक अपने को पूर्ण मानता है, और [illegible] प्राप्त पदार्थों के विषय में उसकी इच्छा शान्त हो जाती है। उसी तरह आत्मज्ञानी [illegible] अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव हो जाने के कारण वह जगत के [illegible] पदार्थों को अपने समझता है, अतः उसको किसी पदार्थ की प्राप्ति की वासना [illegible] रहती। उसकी पूर्णता असीम होती है, किसी भी विषय में वह अपूर्ण नहीं रहता।

सुख-दुःख, अच्छे-बुरे, अनुकूल-प्रतिकूल, संयोग-वियोग आदि द्वन्द्व [illegible] ज्ञानी को विचलित नहीं करते, क्योंकि उसकी दृष्टि में उनका पृथक् अस्तित्व [illegible] होता। प्रत्येक द्वन्द्व के दोनों भाग अन्योन्याश्रित होते हैं जितनी मात्रा में एक [illegible] अस्तित्व होता है, उतनी ही मात्रा में उसके और के विरोधी भाव का अस्तित्व [illegible] है। आत्मज्ञानी का सर्वात्म-भाव होने के कारण उसकी दृष्टि में [illegible] शान्त हो जाते हैं, इसलिए किसी एक का भी प्रभाव उसके मन पर नहीं [illegible] और किसीमें भी उसकी अनुकूलता-प्रतिकूलता नहीं रहती [illegible] होता है। द्वैत-भाव मिट जाने के कारण उसके [illegible] विकारों के उत्पन्न होने के लिए भी कोई कारण नहीं [illegible]

विषयों में आत्मज्ञानी की आसक्ति नहीं [illegible]
बहिर्मुख नहीं होती [illegible]
समझ [illegible] स्थितप्रज्ञ [illegible]
हो जाता है [illegible]
[illegible]

बिलकुल निकम्मी हो जायँ—कुछ करें ही नहीं—तो यह आचरण करे ही किससे ? यदि आँखों से देखना, कानों से सुनना, वाणी से बोलना, मुख से खाना, हाथों से काम करना, पैरों से चलना आदि बन्द कर दे, तो शरीर का व्यवहार हो ही कैसे ? इन्द्रियाँ और उनके विषय आत्मा की अपरा प्रकृति है (गी० अ० ७ श्लोक ४), इसलिए विषयों की सर्वथा निवृत्ति का प्रयत्न अस्वाभाविक है। शरीर के रहते इन्द्रियों के विषय छूट नहीं सकते। जो लोग निराहार व्रत आदि—शरीर को कृश करने वाली—कठिन तपस्याओं से इन्द्रियों को शिथिल करके विषयों से निवृत्त होने का प्रयत्न करते हैं, वह उनका मिथ्याचार अर्थात् दम्भ है (गी० अ० ३ श्लोक ६); क्योंकि इस तरह के इन्द्रिय-निरोध से उन लोगों की विषयों में सुख-बुद्धि नहीं मिटती, अतः उनकी चाह मन में बनी रहती है। जब अवसर पाकर इन्द्रियाँ काबू से बाहर हो जाती हैं, तब अनियन्त्रित रूप से विषयों में उलझ जाती हैं जिससे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। जैसे जबर्दस्ती रोका हुआ पानी का बहाव जब बाँध तोड़ कर अनियन्त्रित रूप से बह निकलता है, तब बड़े-बड़े उपद्रव करता है; उसी तरह अस्वाभाविक रूप से रोकी हुई इन्द्रियाँ निरङ्कुश होने पर उपद्रव करती हैं और फिर वश में नहीं हो सकतीं। बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् लोगों के मन को भी जब इन्द्रियों के स्वाभाविक वेग हठात् बहा ले जाते हैं, तो साधारण लोगों की इन्द्रियाँ हठ से अथवा दुराग्रह से कैसे रोकी जा सकती हैं ? क्योंकि साधारण लोगों का चित्त रात-दिन बाह्य विषयों में ही संलग्न रहता है—कभी उनकी किसी विषय में प्रीति होती है और कभी किसीमें; जिससे उनका मन राग-द्वेष में आसक्त रहता है, बुद्धि विक्षिप्त रहती है—कभी एक निश्चय पर नहीं ठहरती; और अन्तःकरण के सदा संशय-ग्रस्त बने रहने के कारण उसमें स्थायी प्रसन्नता और शान्ति नहीं होती। परन्तु समत्वयोगी इन्द्रिय-संयम के लिए इस तरह हठ नहीं करता। उसकी विषय-निवृत्ति निराले ही ढङ्ग की होती है। वह इन्द्रिय-निग्रह के लिए न तो शरीर को कष्ट देता है, और न इन्द्रियों को विषयों से सर्वथा हटा लेने अर्थात् इन्द्रियों के व्यवहार ही बन्द करने की अस्वाभाविक चेष्टा करता है। ऐसा करने की आवश्यकता ही वह नहीं समझता, क्योंकि वह जानता है कि इन्द्रियाँ और उनके विषय, सब आत्मा अर्थात् अपने आपके ही खिलवाड़ हैं—अपने से भिन्न कुछ नहीं है। अपने ही संकल्प से इन्द्रियों और उनके विषयों की सृष्टि होती है। एक तरफ मन का संकल्प व्यष्टि-भाव से इन्द्रिय-रूप होता है और दूसरी तरफ समष्टि भाव से विषय-रूप बनता है। मन का सङ्कल्प एक तरफ तेजात्मक होकर नेत्र-रूप से देखता है और दूसरी तरफ दृश्य-रूप बनता है—देखना और दृश्य दोनों ही नेत्र के गुण हैं। मन का सङ्कल्प एक तरफ आकाशात्मक होकर श्रोत्र-रूप से शब्द सुनता है और दूसरी तरफ शब्द-रूप

बनता है— शब्द और सुनने की क्रिया दोनों ही आकाश के गुण हैं। इसी तरह सभी इन्द्रियों और उनके विषयों की एकता है। मन ही समष्टि-भाव से विषय-रूप बनता है और वही व्यष्टि-भाव से इन्द्रिय-रूप होकर उन्हें भोगता है। भोक्ता-भोग्य दोनों एक हैं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि जब मन इन्द्रियों के साथ रहता है तभी इन्द्रियों को विषय-रस का भान होता है, यदि मन ठिकाने न हो तो इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी उनका भान नहीं होता। आँखों के सामने कितने ही प्रकार के दृश्य आवें, कानों के पास कितने ही शब्द होते रहें, जीभ कितने ही रसों को चखती रहे, नाक में कितनी ही तेज गन्ध आती रहे, स्पर्श-इन्द्रिय कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श करती रहे परन्तु मन की अनुपस्थिति में किसी भी इन्द्रिय को अपने विषय का ज्ञान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि न तो इन्द्रियों में स्वयं विषय भोगने की योग्यता है और न विषयों में अपना निज का कोई रस ही है। मन की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार ही विषय अच्छे-बुरे प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि विचार कर देखा जाय तो केवल इन्द्रियाँ ही विषयों को नहीं भोगतीं किन्तु विषय भी इन्द्रियों को भोगते हैं; और इन्द्रियाँ विषयों को जितना भोगती हैं, उतना ही विषय भी इन्द्रियों को भोगते हैं। यह नियम है कि जो जिसको जितना भोगता है, उतना ही वह स्वयं भोगा जाता है—क्रिया की प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है। सभी पदार्थ एक दूसरे के भोक्ता-भोग्य हैं (बृ० उ० अ० २ ब्रा० ५)। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों और उनके विषयों में वास्तव में कोई भेद नहीं है—वे एक ही आत्मा के अनेक रूप हैं। इसलिए आत्मज्ञानी की दृष्टि में विषयों के त्याग और भोग का प्रश्न कोई तथ्य नहीं रखता। जिस तरह एक पिता के बालक, पिता की उपस्थिति में आपस में खेलते हैं तो उनके खेलने से पिता के चित्त में कोई विक्षेप उत्पन्न नहीं होता, वह उनको खेलने से मना नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि खेलना बालकों का स्वभाव है, और उनके लिए खेलना आवश्यक भी है बालक यदि न खेलें तो उनको हानि होती है, अतः वह उनके खेलने में वात्सल्य भाव से प्रसन्नतापूर्वक सहायक होता है। परन्तु साथ ही वह उनको यह स्वतन्त्रता नहीं दे देता कि खेल में वे इतने आसक्त हो जायँ कि [illegible] लगे रहें अथवा इस तरह का कोई खेल खेलें कि जिससे [illegible] में और [illegible] में अथवा भविष्य में कोई हानि पहुँचे अथवा आपस में [illegible] अथवा [illegible] खेल में अन्य लोगों को बाधा या असुविधा हो। [illegible] इन्द्रियों और उनके विषयों को अपना ही स्वरूप समझता [illegible] उनका पारस्परिक व्यवहार स्वाभाविक [illegible] नहीं डालता। इन्द्रियों का विषयों [illegible]

अनुसार वर्तना सबके लिए श्रेयस्कर होता है (गी० अ० ३ श्लो० २३ से ३५)। अस्वाभाविक इन्द्रिय-निरोध से आत्मा के सगुण रूप इस संसार के खेल में विशृङ्खलता आती है, क्योंकि इसके सभी अंग अपना-अपना पार्ट यथायोग्य बजावें, यानी अपने-अपने धर्मों का ठीक-ठीक आचरण करें, तभी यह सुव्यवस्थित रूप से चलता है। परन्तु उनका आचरण ऐसा न होना चाहिए कि जिसमें परस्पर में विरोध अर्थात् विषमता उत्पन्न हो, अथवा दूसरों को अपने धर्म पालन करने में बाधा पहुँचे, अथवा भविष्य में उसका दुष्परिणाम हो, अथवा खेल में अव्यवस्था आ जाय। इसलिए स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों को उनके विषय भोगने में स्वतन्त्र अर्थात् निरंकुश नहीं कर देता, किन्तु उन्हें अपने आधीन रख कर उनसे इस तरह आचरण करवाता है कि जिससे किसी प्रकार का अनर्थ न हो। इन्द्रियों को मन के आधीन, मन को बुद्धि का अनुगामी और बुद्धि को आत्मनिष्ठ रखते हुए, वह राग-द्वेष रहित होकर प्रसन्न चित्त से लोक-संग्रह के लिए विषयों में वर्तता है। यदि इन्द्रियाँ मन के आधीन न रह कर उलटा मन इन्द्रियों का अनुगामी हो जाय, तो वे दोनों बुद्धि को आत्म-विमुख कर दें। और जिस तरह रथ के घोड़े स्वामीभक्त सारथी की लगाम में चलते हैं तभी रथ की यात्रा ठीक-ठीक होती रहती है; उसी तरह स्थितप्रज्ञ के शरीर-रूपी रथ के इन्द्रिय-रूपी घोड़े आत्मनिष्ठ बुद्धि-रूपी सारथी की मन-रूपी लगाम में चलते हैं, जिससे उसके व्यवहार यथार्थ होते हैं। स्थितप्रज्ञ की शरीर-यात्रा अज्ञानी लोगों की तरह व्यष्टि-भाव से नहीं होती, किन्तु सबके हित के लिए अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त होती है। इसलिए इन्द्रियों के व्यवहारों में उसे कोई व्यक्तित्व का अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ अर्थात् विषय-भोग की आसक्ति नहीं रहती, किन्तु संसार-चक्र को बराबर चलाने अर्थात् लोक-संग्रह के लिए ही वह सब प्रकार से वर्तता है (गी० अ० ३ श्लो० ९ से २०)। यद्यपि वह देखता, सूँघता, सुनता, स्पर्श करता, खाता, चलता, सोना, जागना, बोलना, लेना, देना आदि सभी प्रकार के व्यवहार करता है, परन्तु अन्य लोगों की तरह वह केवल अपनी भोग-इच्छा से उन्हें नहीं करता, किन्तु लोक-संग्रह के लिए ही उसके सब व्यवहार होते हैं। अतः इन्द्रियों का उनके विषयों में वर्तने का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु गुण ही गुणों में वर्तते हैं यह भाव उसके चित्त में रहता है। इसलिए वह सदा सुख और शान्ति का भागी होता है (गी० अ० ५ श्लो० ७ से ११)।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥६९॥

समत्वयोगी के सर्वभूतात्मैक्य सात्त्विक ज्ञान (गी० अ० १८ श्लो० २०) को ग्रहण नहीं कर सकते। यह बात उनकी स्थूल बुद्धि में बैठ ही नहीं सकती कि एक, सत्य और अव्यक्त आत्मा में अनेक, मिथ्या और व्यक्त भाव किस तरह हो सकते हैं; और जो पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से अलग-अलग दीख रहे हैं, वे वस्तुतः एक कैसे हो सकते हैं, और जगत् की इतनी भिन्नता में एकता का व्यवहार कैसे बन सकता है? इन्द्रियों के विषयों में ही आसक्त रहने वाले उन अज्ञानी लोगों को, विषय-सुख की प्राप्ति अपने आप से बाहर ही होने का विश्वास रहता है, अतः वे सदा परावलम्बी और दीन बने रहते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, उनके विषय तथा विषयों के साधन आदि अनेक प्रकार की पराधीनताओं में वे जकड़े रहते हैं, और संसार के प्रायः सभी व्यवहारों में अपनी परवशता का सदा अनुभव करते हैं; इसलिए समत्वयोगी के अपनी प्रकृति के स्वामी-भाव से स्वाधीनतापूर्वक किये हुए सात्त्विक आचरणों के रहस्य को वे समझ नहीं सकते, क्योंकि वे उसको भी अपने जैसा ही एक तुच्छ व्यक्ति मानते हैं। अतः उसके परमात्म-भाव को वे सहन नहीं कर सकते और उसके साथ द्वेष करते हैं। स्थितप्रज्ञ जिन व्यवहारों को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से लोगों के लिए कल्याणकर समझता है, उनको वे तामसी बुद्धि के लोग अधर्म मानते हैं (गी० अ० १८ श्लो० ३२)। स्थितप्रज्ञ अपनी सात्त्विकी बुद्धि (गी० अ० १८ श्लो० ३०) से निर्णय करके कभी सत्य, दया, क्षमा, अहिंसा आदि सात्त्विक भावों के विपरीत आचरण करना लोक-हितकर समझता है, और कभी काम, क्रोध आदि राजसी-तामसी भावों को बर्तना उचित समझता है, क्योंकि वह तीनों भावों का स्वामी होता है, अतः आवश्यकतानुसार यथायोग्य उनके सदुपयोग द्वारा लोक-हित करता है; परन्तु तत्त्वज्ञान-शून्य मूढ़ लोग उसके उक्त आचरणों का विरोध करते हैं। उनमें यह समझने की योग्यता नहीं होती कि व्यक्तित्व के भाव से किये जाने पर सात्त्विक गुणों का भी दुरुपयोग होकर वे हानिकर हो जाते हैं, और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से करने पर राजस-तामस भावों का भी सदुपयोग होकर वे हितकर हो जाते हैं। वे केवल उसके आचरणों के बाह्य रूप से ही उनके अच्छे-बुरे पन का निर्णय कर लेते हैं। जिस बात को तत्त्वज्ञानी ग्राह्य समझता है, उसे अज्ञानी लोग हेय मानते हैं; और जिसको तत्त्वज्ञानी हेय मानता है, उसे वे ग्राह्य समझते हैं। संसार में अधिक संख्या अज्ञानियों की होती है, ज्ञानी कोई विरला ही होता है (गी० अ० ७ श्लो० ३ और १९) यद्यपि लिखे-पढ़े लोगों की जगत् में काफ़ी संख्या है, शास्त्रों के ज्ञाता भी बहुत से हैं, जप, तप, दान, पूजा, पाठ, यज्ञ, अनुष्ठान आदि शास्त्रोक्त

व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित होता है। शरीर के रहते और उसको छोड़ते समय भी उसकी यही आत्मनिष्ठ ब्राह्मी स्थिति निरन्तर बनी रहती है। जगत् के किसी भी पदार्थ और व्यवहार के विषय में वह मोहित नहीं होता। इसी ब्राह्मी स्थिति में वह सब प्रकार के व्यवहार करता है, और इस पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन

यज्ञ-चक्र के द्वारा तुम्हारी वृद्धि होवे अर्थात् तुम इससे फलो फूलो; यह यज्ञ-चक्र तुम्हारे इच्छित पदार्थों को देने वाला (कामधेनु) होवे। तात्पर्य यह कि संसार स्वभाव से ही यज्ञमय है और यज्ञ पर ही निर्भर है, अर्थात् सब कोई अपने-अपने कर्तव्य पालन करके एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करें तभी यह सुख-समृद्धि-सम्पन्न रह सकता है (१०)। तुम इस (यज्ञ) से देवताओं को पुष्ट करो और वे देवता तुम्हें पुष्ट करें; इस तरह आपस में एक दूसरे को पुष्ट करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त होवोगे। तात्पर्य यह कि संसार में सभी पदार्थ एक दूसरे के उपकारी-उपकार्य हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने के योग से, जगत् को धारण एवं संचालन करने वाली समष्टि दैवी शक्तियाँ पुष्ट (पूरित) होती हैं, और उन समष्टि शक्तियों के पुष्ट होने से ही प्रत्येक व्यक्ति की सब प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। इस तरह आपस में एक दूसरे के उपकार अथवा सेवा करते रहने से सबका कल्याण होता है (११)। यज्ञ से पुष्ट होकर देवता लोग तुमको तुम्हारे इच्छित भोग देंगे, परन्तु उन (देवताओं) का दिया हुआ पीछा उन्हें दिये बिना, जो व्यक्ति (सब भोग्य पदार्थ) केवल आप ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करने से जगत् को धारण करने वाली समष्टि दैवी शक्तियाँ पोषित होती हैं, तब उनसे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, अर्थात् संसार के सर्व भोग्य पदार्थ सबकी सम्मिलित शक्ति के योग से उत्पन्न होते हैं; परन्तु जो व्यक्ति उन सार्वजनिक पदार्थों से केवल अपनी ही व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति करके दूसरों को उनसे वञ्चित रखता है, वह सबकी चोरी करता है (१२)। यज्ञ से बचे हुए अन्न को भोगने वाले सज्जन पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो केवल अपने लिए ही पकाते हैं वे पापी पाप को भोगते हैं। तात्पर्य यह कि अपने अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करने से जो पदार्थ प्राप्त हों, उनसे दूसरों की आवश्यकताएँ यथायोग्य पूरी करते हुए जो सज्जन अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें भोगते हैं, वे पाप के भागी नहीं होते, परन्तु जो दूसरों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही काम करते हैं, वे पाप कमाते हैं (१३)। अन्न से अर्थात् भोग्य पदार्थों से भूत प्राणी होते हैं पर्जन्य से अर्थात् समष्टि उत्पादक शक्ति से अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थ होते हैं [illegible] से समष्टि

* ग्रन्थ दूसरे [illegible] होने वाले [illegible] और [illegible] का [illegible] परन्तु वे बहुत ही संकुचित

उत्पादक शक्ति होती है; और यज्ञ, कर्म से अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म यथावत् करने से होता है (१४)। कर्म को प्रकृति-रूप ब्रह्म से, और प्रकृति को अक्षर अर्थात् समष्टि-आत्मा=परमात्मा से उत्पन्न हुई जान; इसलिए सर्वव्यापक प्रकृति-रूप ब्रह्म सदा ही यज्ञ में अर्थात् संसार-चक्र को चलाने में स्थित है। (१५) इस तरह, (जगत् के धारणार्थ) प्रवृत्त किये हुए यज्ञ-चक्र के अनुसार जो इस जगत् में नहीं बर्तता, उसकी आयु पाप-रूप है और उस इन्द्रिय-लम्पट का जीना व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि जो व्यष्टि इस संसार के खेल में, अपने व्यष्टित्व एवं व्यक्तिगत स्वार्थों को सबके साथ एकता करके अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होकर संसार-चक्र को चलाने में योग नहीं देता, किन्तु केवल अपने व्यक्तिगत विषय-भोगों के लिए ही उद्योग करता रहता है, उसका जीना निरर्थक है (१६)। परन्तु जो मनुष्य केवल आत्मा ही में रत, और आत्मा ही में तृप्त एवं आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् जिसको सर्वत्र एक आत्मा यानी एकत्व-भाव का अनुभव हो जाता है, उसके लिए (कोई) कार्य (अवश्य-कर्तव्य) नहीं रहता। न तो संसार में कुछ करने से ही उसका कोई प्रयोजन होता है और न नहीं करने से ही; तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियों से उसका व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ भी नहीं रहता। तात्पर्य यह कि जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, उसको परवशता से कुछ भी करना नहीं पड़ता, किन्तु वह इस जगद्रूपी अपने खेल के लिए स्वतन्त्रता से लोक-हित के व्यवहार करता है। उसके व्यवहारों में कर्मठता नहीं रहती, क्योंकि उसको अपने व्यक्तित्व के लिए कुछ भी करना अथवा न करना शेष नहीं रह जाता, और अपने से भिन्न कर्ता, कर्म, क्रिया आदि के भाव भी उसमें नहीं रहते (१७-१८)।

है। क्योंकि सारे भूत-प्राणी केवल वृष्टि-जन्य अन्न से ही नहीं होते, किन्तु अनेक प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि अथवा वायु से ही होते एवं उन पर निर्भर रहते हैं। जगत् में सभी पदार्थ परस्पर में भोक्ता-भोग्य अर्थात् एक दूसरे की खुराक हैं। वर्षा का होना [illegible]

के अनन्त प्रकार के कर्म होते हैं, यानी कर्ता और कर्म सब त्रिगुणमय हैं (गी० अ० १८ श्लो० १९ से २८), इसलिए गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं—अपने आप (आत्मा) को वह इन सबका आधार, सबका प्रेरक और सबका स्वामी जानता है—अतः वह कर्मों के आधीन नहीं होता, किन्तु अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए स्वाधीनतापूर्वक कर्म किया करता है (२८)। अज्ञानी लोग प्रकृति के गुणों के इस रहस्य को नहीं जानते, इसलिए वे गुणों और कर्मों में उलझे हुए (उनके आधीन) रहते हैं; उन अज्ञानी मन्दबुद्धि लोगों को तत्त्वज्ञानी सर्वज्ञ पुरुष (कर्म करने से) विचलित न करे (२९)। श्लोक २६ से २९ तक का तात्पर्य यह है कि जिनको आत्मज्ञान नहीं होता, वे स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों ही में अहंभाव रखते हैं यानी शरीरों ही को "अपना आप" मानते हैं, इसलिए उनको अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्ति रहती है और उस आसक्तिपूर्वक ही वे सांसारिक व्यवहार करते हैं। उनको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि यह जगत् सबके एकत्व-भाव यानी समष्टि-आत्मा=परमात्मा के स्वभाव (प्रकृति) के तीन गुणों का खेल है, अर्थात् एक ही सच्चिदानन्द आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के गुणों के परस्पर मुकाबले से जगत् के सब कर्म होते हैं। इस रहस्य को न जान कर एवं एकता को नहीं मान कर, वे अपने व्यक्तित्व को ही कर्मों का कर्ता मानते हैं, और इस कर्तापन के अहंकार के कारण कर्मों को दुःख और बन्धनरूप मान कर वे उन्हें छोड़ कर संन्यास लेने में प्रवृत्त होते हैं। परन्तु आत्मज्ञानी पुरुष की सर्वात्मभाव में स्थिति होने के कारण उसकी दृष्टि में अपने आप (आत्मा) से भिन्न कुछ भी नहीं रहता, न अपने (आत्मा) से भिन्न उसका कोई स्वार्थ ही शेष रहता है। इसलिए वह केवल लोकसंग्रह के निमित्त लोगों को पथप्रदर्शन कराने के लिए स्वतन्त्रता पूर्वक कर्म किया करता है। यद्यपि आत्मज्ञानी को अपने लिए न तो कोई कर्म करना ही आवश्यक होता है और न कर्म छोड़ने ही का कोई प्रयोजन रहता है। वह कृतकृत्य होता है इसलिए शरीर के रहने व न रहने से भी उसका कोई प्रयोजन अथवा हानि-लाभ नहीं होता। परन्तु जिन लोगों को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है उनके लिए तो अपने-अपने स्वाभाविक [illegible] के अनुसार सब प्रकार के कर्म करना ही आवश्यक होता है, क्योंकि आत्मज्ञान का साधन शरीर है और शरीर का निर्वाह सबके अपने-अपने स्वाभाविक [illegible] के कर्म करने द्वारा [illegible] और [illegible] रहने पर [illegible] होता है। [illegible] आत्मज्ञानी [illegible] कर्म [illegible] — [illegible] आत्मज्ञानी [illegible] कर्म नहीं करने से करें न करें [illegible] (आत्मज्ञानियों) का देखादेखी अपने-अपने स्वाभाविक कर्म छोड़ दें [illegible] जिससे बड़ा अनर्थ हो जाय,

यथार्थ निर्णय होना नितान्त ही आवश्यक है। अर्जुन के इस आशय के प्रश्न के उत्तर में भगवान् विस्तारपूर्वक कर्म करने की आवश्यकता का निरूपण करते हुए कहते हैं कि मैंने जो पहले आत्मज्ञान का और फिर साम्य-बुद्धि से कर्म करने का वर्णन किया है, उसका अभिप्राय अलग-अलग निष्ठाओं अर्थात् शरीर-यात्रा के जुदे-जुदे मार्गों के विधान करने का नहीं है, किन्तु एक ही ब्राह्मी स्थिति अर्थात् ब्रह्मविद्या को अच्छी तरह समझाने के लिए पहले तत्त्वज्ञानियों का निर्णय किया हुआ आत्मज्ञान कह कर फिर उसी आत्मज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने अर्थात् ज्ञानयुक्त कर्म करने (ज्ञान-कर्म-समुच्चय) का विधान कहा है। तात्पर्य यह कि ज्ञान और कर्म की अलग-अलग कर्तव्यता नहीं कही है, किन्तु एक ही व्यावहारिक ब्राह्मी स्थिति अथवा यथार्थ ब्रह्मनिष्ठा कही है। ज्ञान और कर्म का विरोध नहीं है, किन्तु ये एक दूसरे के सहायक हैं; क्योंकि बुद्धि का धर्म (सूक्ष्म) विचार करना है और इन्द्रियों का धर्म (स्थूल) कर्म करना। अस्तु, बुद्धि ज्ञान (विचार) में लगी रहे और इन्द्रियाँ बुद्धि के निर्णयानुसार अपने-अपने कर्म करती रहें—इस तरह ज्ञानयुक्त कर्म होते हैं। बुद्धियुक्त प्राणियों के कर्म ज्ञान सहित ही होते हैं—चाहे वह ज्ञान यथार्थ हो या अयथार्थ। जिनकी बुद्धि आत्म-निष्ठ होती है उनके सभी व्यवहार सबके साथ एकता के साम्य-भाव से होते हैं—उनमें उनके पृथक् व्यक्तित्व का भाव और व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता, अतः न तो उनकी किसीसे प्रीति होती है और न विरोध। वे जो कुछ करते हैं वह सबके हित के लिए होता है; इसलिए उनके कर्म घोर (हिंसात्मक) होते हुए भी वास्तव में सौम्य (अहिंसात्मक) ही होते हैं। कर्मों में स्वयं अच्छापन या बुरापन कुछ भी नहीं है—अच्छापन या बुरापन कर्ता के भाव पर निर्भर रहता है। सबके साथ अपनी एकता के भाव से किये हुए कर्म, स्थूल दृष्टि से बुरे प्रतीत होते हुए भी वास्तव में बुरे नहीं होते, किन्तु अच्छे ही होते हैं; और पृथक्ता के भाव से किये हुए कर्म, ऊपर से अच्छे प्रतीत होते हुए भी वास्तव में अच्छे नहीं होते, किन्तु बुरे ही होते हैं। आत्म-ज्ञान की समत्व-बुद्धि का कर्मों से कोई विरोध नहीं है, चाहे वे कर्म घोर (हिंसात्मक) हों या सौम्य (अहिंसात्मक); और न आत्मनिष्ठ बुद्धि पर कर्मों का कोई प्रभाव ही पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिन लोगों की सबके साथ एकता के साम्य-भाव में पूर्ण स्थिति हो जाती है उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न कुछ रहता ही नहीं, अतः उनके लिए कर्म करने अथवा छोड़ने के लिए कुछ भी नहीं रहता। यह जगत्-प्रपञ्च उनके निर्लिप्त-भाव का त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वाभाविक खेल होता है, अतः वे सब कुछ करते हुए भी कुछ भी नहीं करते। परन्तु जिन लोगों को यह आत्मज्ञान नहीं है, वे यदि हाथ-पैर बाँध कर निकम्मे बैठे रहें अथवा सन्यास लेकर लौकिक व्यवहार छोड़

काम में आने वाले) एवं अन्योन्याश्रित (एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले—सेवक-सेव्य) हैं, अर्थात् आपस में एक दूसरे की सेवा करें तभी सबका निर्वाह हो सकता है; इस-लिए यदि कोई व्यक्ति अपने व्यष्टि अहङ्कार से अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म न करे, तो दूसरों से अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी कराने का उसे कोई अधिकार नहीं रहता, क्योंकि यदि इस तरह सब कोई अपने-अपने कर्म करना छोड़ दें तो फिर किसीका भी जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता।

जड़ सृष्टि और पशु-पक्षी आदि तो सर्वथा प्रकृति के आधीन रहते हैं, अतः वे स्वभाव ही से अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। उनमें न तो प्रकृति के विरुद्ध कर्म करने की और न अपने कर्तव्यों की अवहेलना करके उन्हें छोड़ने की योग्यता ही होती है। वे अपने शरीरों को भी प्राकृत अवस्था में रखते हैं, और अपने शरीरों की सब प्रकार की आवश्यकताओं के लिए प्रकृति पर ही निर्भर रहते हैं। परन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) के शरीर में आत्मविकास की विशेषता होने के कारण वह प्रकृति के सर्वथा आधीन नहीं रहता, किन्तु उस पर शासन करने के प्रयत्न में लगा रहता है। वह प्रकृति को अपने आधीन करके उससे काम लेता है। वह अपने शरीर को प्राकृत अवस्था में ही रख कर संतोष नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के उपचारों से [illegible]

है, और सर्वात्म-भाव से उसका समावेश भी 'अपने आप' में कर सकता है। परन्तु समष्टि-भाव में पूर्ण रूप से स्थित होने से, अर्थात् सबके साथ पूर्ण एकता होने से ही ऐसा हो सकता है। जब तक व्यष्टि के भाव की आसक्ति रहती है, तब तक प्रकृति की आधीनता से छुटकारा नहीं हो सकता— चाहे कोई गृहस्थाश्रम में रह कर सांसारिक व्यवहार करे अथवा संन्यास लेकर काम करना छोड़ दे। तात्पर्य यह कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म किये जायँ अथवा छोड़े जायँ, दोनों ही अवस्थाओं में वे बन्धन के हेतु होते हैं, परन्तु संसार-चक्र को चलाने रूपी यज्ञ में योग देने के लिए, सबके साथ सहयोग रखते हुए, एवं सबके साथ शृंखलाबद्ध होकर अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने से कोई बन्धन नहीं होता; और न उनमें कोई पाप ही लगता है—चाहे वे कर्म घोर (हिंसात्मक) हों या सौम्य (अहिंसात्मक), क्योंकि जगत् की रचना यज्ञमय है, अर्थात् सबके अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने से ही जगत् बनता और स्थिर रहता है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि प्रत्येक भौतिक द्रव्य का और जगत् की प्रत्येक हलचल का सूक्ष्म समष्टि (एकत्व) भाव, उसका अधिदैव अर्थात् देवता कहा जाता है। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के आँखों से देखने, कानों से सुनने, नाक से सूँघने, त्वचा से स्पर्श करने, जिह्वा से स्वाद लेने, मुख से खाने, वाणी से बोलने, बुद्धि से विचार करने एवं हाथों से काम करने आदि प्रत्येक व्यष्टि व्यवहार शक्ति का सूक्ष्म समष्टि (एकत्व) भाव उसका अधिदैव अर्थात् देवता होता है। जैसे आँखों से देखने की शक्ति का समष्टि-भावात्मक देवता आदित्य, कानों से सुनने का देवता दिक्पाल, नाक से सूँघने का देवता अश्विनीकुमार, त्वचा से स्पर्श करने का देवता वायु, जिह्वा से स्वाद लेने का देवता वरुण, मुख से खाने का देवता अग्नि, वाणी से बोलने का देवता सरस्वती, बुद्धि से विचार करने का देवता बृहस्पति एवं हाथों से काम करने का देवता इन्द्र माना जाता है, इत्यादि। इस तरह अनन्त प्रकार के व्यष्टि व्यवहारों के समष्टि-भावात्मक अधिष्ठित देवता हैं। इन समष्टि शक्तियों अर्थात् देवताओं के अपने-अपने व्यापार करने से सारे जगत् अर्थात् ब्रह्माण्ड के [illegible] होता है; और प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् पिण्ड का [illegible] अंग ही से ब्रह्माण्ड की समष्टि [illegible] अंग ही ब्रह्माण्ड है [illegible] पिण्ड और ब्रह्माण्ड का [illegible] पिण्ड में व्यष्टि रूप से है [illegible] तात्पर्य यह कि व्यष्टि [illegible]

होता है, और समष्टि जगत् से व्यष्टि जगत् का धारण, पोषण एवं सञ्चालन होता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। अतः सबके यथायोग्य कर्म करने से ही यह संसार-चक्र ठीक-ठीक चलता रहता है।

जिस तरह समष्टि जगत् (ब्रह्माण्ड) का अस्तित्व सब (प्रत्येक पिण्ड) के अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ पर निर्भर है, उसी तरह मानवीय जगत् अर्थात् मनुष्य समाज का अस्तित्व भी प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने स्वाभाविक गुणों* की योग्यतानुसार, अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ पर ही निर्भर रहता है। सत्व-रज-मिश्रित गुणों की प्रधानता वाले मनुष्य (स्त्री-पुरुष), ज्ञान और विज्ञान आदि की शिक्षा-सम्बन्धी कार्य का सम्पादन करें, रज-सत्व-मिश्रित गुणों की प्रधानता वाले, शासन और रक्षा का कार्य करें, रज-तम-मिश्रित गुणों की प्रधानता वाले, पदार्थों को उपजाने और उनके व्यवसाय एवं विनिमय का कार्य करें, और तम-रज-मिश्रित गुणों की प्रधानता वाले, शारीरिक श्रम से कला-कौशल और सेवा आदि का कार्य करें; तथा उपरोक्त सभी वर्णों के लोग जीवन के प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य-व्रत से रह कर शारीरिक एवं मानसिक बल सम्पादन करते हुए अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार विद्याध्ययन करें, जीवन के द्वितीय भाग में गृहस्थाश्रम में रह कर अपनी-अपनी योग्यतानुसार जगत् के उपरोक्त व्यवहार करें, जीवन के तृतीय भाग में अपनी-अपनी योग्यतानुसार विशेषतया समाज-सेवा के कार्य करें, और जीवन के चतुर्थ भाग में अपनी विद्या-बुद्धि एवं तीनों अवस्थाओं में सञ्चित किये हुए अनुभव का लाभ, लोगों को सदुपदेश एवं सत्परामर्श देने द्वारा पहुँचावें, तभी समाज सुव्यवस्थित रह सकता है। मनुष्य समाज इसी यज्ञ के आधार पर निर्मित एवं अवस्थित है, और यह यज्ञ सबके हित के लिए अवश्य-कर्तव्य है। यदि मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार, अपने-अपने कर्तव्य-कर्म न करें तो समाज नष्ट हो जाय। शिक्षक वर्ग के लोग ज्ञान और विज्ञान का प्रचार और उन्नति न करें तो अशिक्षित जनता में किसी भी काम के करने की योग्यता न रहे; रक्षक वर्ग के लोग शासन और रक्षा का काम न करें तो समाज में उच्छृङ्खलता छा जाय और अपने-अपने कर्म करने के लिए किसीको भी सुविधा न रहे; व्यवसायी लोग पदार्थ उत्पन्न करके उनके क्रय-विक्रय आदि का व्यवसाय न करें तो लोगों को शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ ही न मिलें, और श्रमी लोग यदि शिल्प और सेवा का कार्य

* गुणों के अनुसार कार्य-विभाग का चतुर्वर्ण-व्यवस्था का विशेष खुलासा १८ वें अध्याय के श्लोक ४१ से ४४ तक के तात्पर्य में किया गया है।

केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि के काम में लेता है, वह दूसरों का हक छीनता है; इसलिए वह चोरी करने का अपराधी है। यदि कोई इस संसार-चक्र को चलाने में अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने का योग न देकर, अपने व्यक्तिगत आराम अथवा शान्ति के लिए आलसी और निरुद्यमी होकर बैठ जाय, तो उसका मनुष्य होना, न होने के बराबर है; क्योंकि अपने शरीर-निर्वाह के कर्म तो उसको भी करने ही पड़ते हैं—केवल दूसरों के लिए काम करने से वह जी चुराता है—अतः यह स्वार्थपरता है। अपने पृथक् व्यक्तित्व का भाव तो पशु-पक्षियों में भी होता है और अपने-अपने शरीरों की आवश्यकताएँ प्राकृतिक पदार्थों से वे भी पूरी करते हैं—इतना ही नहीं, किन्तु वे दूसरों के उपयोग में भी आते हैं; परन्तु मनुष्य शरीर में सर्वात्म-भाव का ज्ञान प्राप्त करके प्रकृति पर शासन करने की योग्यता होते हुए भी, व्यक्तित्व के भाव से प्रकृति के आधीन रहना, व्यर्थ ही मनुष्य जीवन बिताना है।

इसलिए जगत् के व्यवहार व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति छोड़ कर, सबके साथ एकता के साम्य-भाव से करने का उपदेश भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको देते हैं; और पूर्व काल में इस तरह आचरण करने वाले, राजा जनक को आदि लेकर आत्मज्ञानियों के उदाहरण पहले देकर, फिर स्वयं अपना उदाहरण देते हैं कि यद्यपि मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है और न मुझे किसी भी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि की आवश्यकता ही है, परन्तु क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं और जिस बात को प्रमाण मानते हैं, अन्य साधारण लोग भी उन्हींका अनुसरण करते हैं, अतः यदि आत्मज्ञानी महापुरुष लौकिक व्यवहार करना छोड़ दें तो साधारण जनता कर्मों को बन्धन और दुःख-रूप निश्चय करके उनकी देखा-देखी काम करना छोड़ बैठे, तब केवल समाज ही नहीं किन्तु सारी सृष्टि का क्रम ही नष्ट हो जाय; इसीलिए मैं भी कर्म करता ही रहता हूँ *। इसके अतिरिक्त अज्ञानी लोगों के व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति कर्म करने ही से कम होती है क्योंकि वे लोग अपने शरीरों के अतिरिक्त

---

* भगवान् ने जो यह कहा है कि तत्त्वज्ञानी लोग यदि लौकिक व्यवहार न करें तो दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करके अपने कर्तव्य कर्म छोड़ दें जिससे लोकों का नाश हो जाय—ठीक यही हालत इस समय इस देश की हो रही है। जिन लोगों को थोड़ा या बहुत तत्त्वज्ञान होता है वे अधिकतर अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति के लिए लौकिक व्यवहार से विरक्त होकर सन्यास ले लेते हैं अथवा नङ्गे बन बैठते हैं और उनकी देखा-देखी बहुत से दूसरे लोग भी विरक्त अथवा मस्त होने के लिए काम-काज छोड़ कर बाबाजी या निकम्मे बन बैठते हैं; तथा जो लोग

रहित कैसे हो सकते हैं (३३)? प्रत्येक इन्द्रिय का अनुकूल विषय में राग और प्रतिकूल विषय में द्वेष स्वभाव से ही नियत है, (परन्तु मनुष्य को) उनके वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे ही इस (मनुष्य) के शत्रु हैं। तात्पर्य यह कि इन्द्रियों की अनुकूल विषय में प्रीति और प्रतिकूल विषय में द्वेष होना स्वाभाविक है, वे मिट नहीं सकते; परन्तु मनुष्य उनमें आसक्त होकर उनके आधीन न होवे, किन्तु इन्द्रियों को अपने वश में रखता हुआ विषयों में बरते; राग-द्वेष के आधीन होने से ही दुर्दशा होती है (३४)। दूसरों के धर्म का आचरण यदि उत्तम (प्रतीत होता) हो, और अपना धर्म उसकी अपेक्षा हीन (प्रतीत) हो तो भी अपने लिए तो वही अच्छा है। अपने धर्म में (व्यक्तित्व का भाव मिटाने रूप) मर जाना श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयानक होता है। तात्पर्य यह कि दूसरों के स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार जो कर्म उनके लिए नियत हों, वे यदि सौम्य, उत्तम एवं निर्दोष प्रतीत हों, और अपने स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार नियत कर्म उनकी अपेक्षा क्रूर, बुरे, दोषयुक्त एवं हीन दीखते हों, तो भी अपने लिए अपने ही स्वाभाविक कर्म श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए अपने व्यक्तित्व का भाव मिटा कर अर्थात् व्यष्टि-भाव को समष्टि में जोड़ कर सब के साथ एकता के ज्ञान-युक्त अपने स्वाभाविक कर्म करना ही श्रेयस्कर होता है। अपने स्वाभाविक कर्म करने में यदि मृत्यु भी हो जाय तो वह भी कल्याणकर होती है; परन्तु अपने कर्म छोड़ कर दूसरों के कर्मों में पड़ने से दुर्गति होती है (३५)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में श्लोक ३ से आरम्भ करके भगवान् ने पहले देहधारी (चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी) के लिए कर्म करना आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य बता कर, फिर तत्वज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार सर्वभूतात्मैक्य (सबकी एकता के) ज्ञानयुक्त, लोक-संग्रह अर्थात् जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के लिए किस तरह किया करते हैं कि जिससे वे सब-कुछ करते हुए भी कर्मों के बन्धनों से सदा मुक्त रहते हैं—इस विषय का संक्षेप से वर्णन करते हुए, अर्जुन को निमित्त करके सबको उसी तरह लोक-संग्रह के लिए अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का उपदेश श्लोक ३० तक दिया। अब उपरोक्त विधि से अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के निश्चय युक्त अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार जगत् के व्यवहार यथायोग्य करने का माहात्म्य तथा उनके न करने से हानि बताते हैं। भगवान कहते हैं कि जिन लोगों की आत्मज्ञान में स्थिति नहीं हुई है, वे भी मेरे (सर्वात्म-[illegible]) इस सार्वभौम सार्वकालिक एवं सदा एक समान उपयोगी सनातन [illegible] में विश्वास करके [illegible] एवं [illegible] से

रहित होकर इसके अनुसार बरतें, यानी जगत् की एकता के विश्वास सहित सबके साथ साम्य-भाव से, अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थों को अपने कार्य-क्षेत्र की सीमा में आने वाले सब लोगों के साथ जोड़ कर तथा सबके साथ सहयोग रखते हुए अपने-अपने कर्तव्य-कर्म यथायोग्य करें, तो उनको भी कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता। जो कर्म दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए व्यक्तित्व के अहङ्कार से किये जाते हैं, उन्हींके अच्छे-बुरे परिणाम कर्ता को भोगने पड़ते हैं, क्योंकि व्यक्तित्व की आसक्ति ही से बन्धन होता है। परन्तु संसार-चक्र को चलाने में योग देने के लिए, सर्वात्म-भावापन्न महापुरुषों की शिक्षानुसार जो अपने कर्तव्य-कर्म, दूसरों के साथ एकता एवं सहयोग-पूर्वक किये जाते हैं, उनका उत्तरदायित्व कर्म करने वाले पर नहीं रहता। प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जिसके ज़िम्मे जो कर्तव्य होता है, उसको यथायोग्य श्रद्धापूर्वक बजाने में जो बुरा-भला हो जाय उसका ज़िम्मेवार वह नहीं होता। इसी तरह जगत् का व्यवहार चलाने में योग देने के लिए अपना कर्तव्य-कर्म श्रद्धापूर्वक करने वाले को कर्मों के अच्छे-बुरे फल का बन्धन नहीं होता।

परन्तु जो मूर्ख लोग, (भगवान् के) इस सर्व-लोक-हितकर उपदेश की अवहेलना करके और इसमें दोषारोपण करके, अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही निरन्तर कर्म करते रहते हैं, अथवा दूसरों से अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव के कारण, कर्मों को दुःख-रूप, बोझ-रूप अथवा बन्धन-रूप समझ कर छोड़ देते हैं, यानी संसार के व्यवहारों को त्याग कर निठल्ले बन जाते हैं, वे अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं।

सब शरीरों की अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव होता है—चाहे शरीर ज्ञानी का हो या अज्ञानी का; और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शारीरिक चेष्टाएँ सभी करते हैं; परन्तु ज्ञानी अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ स्वतन्त्रता से चेष्टाएँ करता है, अतः वह सदा मुक्त रहता है, और अज्ञानी उनके वश में होकर बँधता है—यही अन्तर है।

पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) आत्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है, अतः शरीर के प्रत्येक अङ्ग एवं जगत् के प्रत्येक पदार्थ का अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के तारतम्य के अनुसार स्वाभाविक धर्म होता है, जो उसके साथ ही रहता है। जिस तरह मन का स्वाभाविक धर्म सङ्कल्प विकल्प करना, बुद्धि का स्वाभाविक धर्म विचार करना, चित्त का चिन्तन करना, अहङ्कार का अभिमान करना, आंखों का देखना, कानों का सुनना, नाक का सूंघना, जिह्वा का स्वाद लेना, त्वचा का

निर्विकार, सदा एकसार अर्थात् सम एवं अकर्ता बने रहना है; उसकी कभी उत्पत्ति, नाश एवं परिवर्तन नहीं होता। अतः बुद्धि आत्माभिमुख अर्थात् सबके स्वामी सर्व-व्यापक आत्मा के ज्ञानयुक्त (सबकी एकता के निश्चययुक्त) होकर कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करती रहे, मन बुद्धि का अनुगामी रहता हुआ उसके निर्णयानुसार इन्द्रियों का संचालन करे, और इन्द्रियाँ मन के आधीन रहती हुई अपने-अपने विषयों में बरतें— इस तरह प्रत्येक अङ्ग दूसरे अङ्गों के साथ सहयोग रखते हुए, एक दूसरे से शृङ्खला-बद्ध होकर अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने स्वाभाविक धर्म का आचरण करे, तभी शरीर-यात्रा उत्तमता से हो सकती है। यदि शरीर का कोई भी अङ्ग अपने स्वाभाविक धर्म को निन्दनीय एवं दोषयुक्त समझ कर उसकी अवहेलना करके उच्छृङ्खल हो जाय और दूसरों के धर्म का आचरण करने लग जाय, अर्थात् रज एवं तम-प्रधान अङ्ग सत्व-प्रधान अङ्गों की अवहेलना करें, तथा कठोर एवं मलिन अङ्ग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के व्यवहार, कोमल और पवित्र अङ्गों की अपेक्षा दूषित और हीन मान कर उन्हें छोड़ दें और दूसरे अङ्गों के व्यवहार करने की चेष्टा करें, तो बड़ा अनर्थ हो जाय; क्योंकि न तो उनमें दूसरों के धर्म पालन करने की योग्यता होती है और न दूसरों में उनके धर्म पालन की। ऐसी दशा में विशृङ्खलता होकर सारा शरीर ही नष्ट हो जाय।

तात्पर्य यह कि सभी अङ्गों के समूह-रूप शरीर का निर्वाह और उसकी स्वस्थता सभी अङ्गों की पृथक्-पृथक् क्रियाओं (स्वाभाविक चेष्टाओं) पर निर्भर है, और प्रत्येक अङ्ग की स्वाभाविक चेष्टा, सभी अङ्गों के समूह-रूप शरीर की स्वस्थता और उसकी सामूहिक क्रियाशीलता पर निर्भर है। अतः प्रत्येक अङ्ग और प्रत्येक शरीर का अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के तारतम्य की योग्यतानुसार व्यवस्थित रूप से अपने-अपने व्यापार में लगे रहना ही श्रेयस्कर होता है।

आत्मा अपनी इच्छा-रूप प्रकृति से नाना भाव धारण करता हुआ और सभी अङ्गों के समूह-रूप शरीर को चेतना (क्रिया) युक्त करता हुआ अर्थात् उसके द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करवाता हुआ भी वस्तुतः अद्वैत, निर्विकार एवं सम रहता है, इसलिए यह सदा अकर्ता अर्थात् कर्म-अकर्म आदि द्वन्द्व-भाव से रहित होता है। परन्तु उसमें अकर्मी होने (अर्थात् क्रिया रहित होने) का गुण (विशेष धर्म) आरोप करके उक्त अकर्मशीलता के धर्म को शरीर के कर्मशीलता के धर्म से श्रेष्ठ मान कर, शरीर से अकर्मी होने के लिए उसके स्वाभाविक धर्म (सांसारिक व्यवहार) छोड़ देने का प्रयत्न किया जाय तो उसमें उलटी दुर्दशा होती है। शरीर और आत्मा अथवा कर्म और अकर्म की भिन्नता के राजस-ज्ञानयुक्त, व्यक्तित्व के अहङ्कार से अपने

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में अहंभाव यानी देहाभिमान कर लेता है, और उन शरीरों के लिए अनन्त प्रकार की अस्वाभाविक एवं अनावश्यक उपाधियाँ अपने (आत्मा) से भिन्न कहीं अन्यत्र से प्राप्त करने की कामनाएँ करता रहता है, इसीसे विरुद्धाचरण होते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो शरीरों की वास्तविक आवश्यकताएँ तो भूख-प्यास आदि प्राकृतिक वेगों को शान्त करने मात्र की होती हैं, जिनकी पूर्ति के साधन सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। प्राकृतिक आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति के साधन (समष्टि) प्रकृति साथ ही उत्पन्न कर देती है, जो अपने-अपने स्वाभाविक धर्म यानी कर्तव्य-कर्म करने से अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु अधिकांश लोग केवल शरीरों की प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र ही से सन्तोष नहीं करते, किन्तु इन्द्रियों से नाना प्रकार के अनावश्यक विषय भोगने की कामनाएँ करते हैं; मन से धन, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि उपाधियों की कामनाएँ करते हैं; और बुद्धि से सामाजिक, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आचरणों द्वारा इस लोक में कीर्ति एवं मरने के बाद परलोक में भोग्य पदार्थों एवं स्वर्गादि सुखों, अथवा मुक्ति—अपने आप=आत्मा से भिन्न कहीं अन्यत्र से—प्राप्त करने की कामनाएँ करते रहते हैं। संसार में उक्त कल्पित विषय-भोग तथा उपाधियाँ एवं सुख आदि असीम एवं अनन्त हैं, अतः उनकी प्राप्ति की चाहनाओं का कोई अन्त नहीं आता—उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी लगातार उत्पन्न होती रहती हैं। उनसे कभी तृप्ति नहीं होती और न किसी मनुष्य की सभी चाहनाओं की पूर्ति ही होती है। अतः उक्त चाहनाओं रूपी काम की प्रतिक्रिया से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। फिर लोभ और क्रोध मनुष्य का विवेक दबा देते हैं, फलतः वह अनेक प्रकार के कुकर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि राजस काम (पृथक्ता के ज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की चाहना) ही सब अनर्थों का मूल है। इसीसे मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म (धर्म) को छोड़ कर दूसरों के धर्म का आचरण करने का पाप करता है। अर्जुन को भी पृथक्ता के राजस ज्ञान से उत्पन्न काम से ही अपना क्षात्र-धर्म छोड़ कर भिक्षा आदि दूसरों के धर्म में प्रवृत्त होने की इच्छा हुई थी। यद्यपि वह बड़ा बुद्धिमान् मनुष्य था, इसलिए इन्द्रियों के विषयों और मानसिक (कल्पित) उपाधियों को तुच्छ समझ कर, उनकी चाहनाओं में तो आसक्त नहीं था, परन्तु धर्म-नाश के दोष एवं हिंसा के पाप तथा नरक प्राप्ति के भय से बचने के विचार से वह युद्ध से हटना चाहता था। दूसरे शब्दों में सामाजिक एवं साम्प्रदायिक धर्म की रक्षा करने से, एवं अहिंसा आदि के पुण्य से उत्पन्न स्वर्ग एवं

कल्याण की प्राप्ति की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना, जो उसकी बुद्धि को घेरे हुए थी, उसीके कारण वह अपने स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म को छोड़ कर पर-धर्म स्वीकार करने को उद्यत हुआ था। सारांश यह कि दूसरों से अपनी पृथक्ता के राजस ज्ञान से उत्पन्न व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना ही सारे अनर्थों का कारण है। यदि अर्जुन स्थूल शरीर और सूक्ष्म इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि से भी सूक्ष्म और इन सब पृथक्ताओं से परे, सर्वव्यापक, सर्वेश, नित्य, सदा एक-सा रहने वाले एकत्व-भाव, सबके अपने वास्तविक आप—आत्मा के सत्य (सात्त्विक) ज्ञान में स्थिति कर लेता तो वह जगत् की सारी पृथक्ताओं को एक ही आत्मा के अनेक नाम और रूपों का कल्पित बनाव अर्थात् अपना ही खेल मान लेता, और तब उसे अपने से भिन्न धर्म, पुण्य, स्वर्ग एवं कल्याण आदि की अन्यत्र से प्राप्ति की कामना नहीं रहती, और न अपने शरीर के स्वाभाविक धर्म (कर्तव्य-कर्म) छोड़ने का भाव ही उसके अन्तःकरण में उत्पन्न होता। इसलिए अर्जुन को निमित्त करके भगवान् सबको उपदेश देते हैं कि बुद्धि से भी परे जो सबका एकत्व-भाव—अपना वास्तविक आप=आत्मा है, उसमें अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थिति करके, सब अनर्थों के कारण इस राजस काम पर विजय प्राप्त करो। इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर इस (काम) का प्रभाव रहता है, परन्तु इन सबसे परे, सबके स्वामी आत्मा के अनुभव से इस पर विजय प्राप्त हो सकती है। जिस तरह किसी प्रबल शत्रु पर विजय पाने के लिए, उससे भी अधिक प्रबल शक्ति की सहायता लेना आवश्यक होता है, उसी तरह राजस काम रूपी महाबली शत्रु पर विजय पाने के लिए, आत्मज्ञान रूपी सबसे अधिक बलवान् शक्ति का आश्रय लेना ही एक मात्र उपाय है। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान ही से मनुष्य अपना धर्म यथायोग्य ठीक-ठीक पालन कर सकता है; इसलिए सबकी एकता का सात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना सबसे प्रथम और आवश्यक कर्तव्य है। यहाँ जो काम रूपी शत्रु को मार डालने को कहा है, उसका तात्पर्य काम का समूल अभाव कर देना नहीं है, किन्तु उसका राजसीपन अर्थात् दूसरों से पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव, जो सब अनर्थों का हेतु है उसको, बदल कर सबकी एकता के सात्त्विक भाव-युक्त सबके हित-सम्पादन के काम में परिणत कर देना है। [illegible] का [illegible] [illegible] कहा [illegible] ही उसको [illegible] है किन्तु [illegible] तात्पर्य का समूल अभाव हो नहीं सकता [illegible] धर्म के अविरुद्ध सात्त्विक काम को तो भगवान् ने अपनी विशेष विभूति बतलाया है (अ० ७ श्लो० ११)। सबकी एकता के सात्त्विक

चौथा अध्याय

दूसरे और तीसरे अध्याय में कथित समत्व-योग की प्राचीनता, नित्यता एवं उसका महत्व आगे के तीन श्लोकों में भगवान् कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम ॥ ३ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् बोले कि यह अविनाशी समत्व-योग मैंने विवस्वान्—सूर्य से कहा, सूर्य ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा (१)। इस तरह (उत्तराधिकार की) परम्परा से प्राप्त, इस (समत्व-योग) को राजर्षियों ने जाना। हे परन्तप ! वह समत्व-योग दीर्घ काल पाकर इस लोक (मनुष्य समाज) से नष्ट (लुप्तप्राय) हो गया था (२)। यह वही प्राचीन समत्व-योग है, जो अब मैंने तुझे बतलाया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा (मित्र) है; यह (समत्व-योग) अत्यन्त ही उत्तम रहस्य अर्थात तत्वज्ञान का मर्म है (३)।

स्पष्टीकरण—सबका आत्मा = परमात्मा अपनी एक विशेष विभूति—सूर्य रूप से समत्व-योग के आचरण द्वारा जगत् का धारण-पोषण करता है, अतः जगत् में सूर्य द्वारा इस समत्व-योग का प्रचार हुआ और सूर्य द्वारा ही यह समत्व-योग जगत् में सदा विद्यमान रहता है। सूर्य सदा नियमित रूप से सारे ब्रह्माण्ड को समान भाव से प्रकाशित करता और गति देता है। उसके व्यवहार में किसी प्रकार की विषमता नहीं है, न उसका किसीके साथ राग अथवा द्वेष है। वह सदा अपने केन्द्र पर अविचल रहता हुआ निरन्तर प्रकाश और उष्णता फेंकता रहता है—जिसकी

अनुसार आचरण करने की योग्यता अवश्य होनी चाहिए। अर्जुन में इन सभी बातों की योग्यता थी। भगवान् श्रीकृष्ण का वह भक्त था, इसलिए उनके उपदेश में उसकी श्रद्धा थी; साथ ही साथ उनसे मित्रता का भाव होने के कारण निःसङ्कोच होकर एवं अच्छी तरह प्रश्न करके सब प्रकार के सन्देह मिटाने की योग्यता भी उसमें थी; और कार्य-कुशल एवं वीर क्षत्रिय होने के कारण समत्व-योग का आचरण भी वह यथायोग्य अच्छी तरह कर सकता था; इसलिए वह इस उपदेश का पूर्ण अधिकारी था।

× × ×

उपरोक्त प्रसङ्ग को लेकर, अर्जुन के पूछने पर भगवान् सर्वव्यापक आत्मा की नित्यता, अपने सर्वान्तर्ईश्वर-भाव, तथा जीवात्मा और परमात्मा के कल्पित भेद एवं वास्तविक अभेद का खुलासा करके, फिर कर्म करने में मनुष्यों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन आगे करते हैं।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

अनुसार आचरण करने की योग्यता अवश्य होनी चाहिए। अर्जुन में इन सभी बातों की योग्यता थी। भगवान् श्रीकृष्ण का वह भक्त था, इसलिए उनके उपदेश में उसकी श्रद्धा थी; साथ ही साथ उनसे मित्रता का भाव होने के कारण निःसङ्कोच होकर खूब अच्छी तरह प्रश्न करके सब प्रकार के सन्देह मिटाने की योग्यता भी उसमें थी; और कार्य-कुशल एवं वीर क्षत्रिय होने के कारण समत्व-योग का आचरण भी वह यथायोग्य अच्छी तरह कर सकता था; इसलिए वह इस उपदेश का पूर्ण अधिकारी था।

× × ×

उपरोक्त प्रसङ्ग को लेकर, अर्जुन के पूछने पर भगवान् सर्वव्यापक आत्मा की नित्यता, अपने सर्वात्म-ईश्वर-भाव, तथा जीवात्मा और परमात्मा के कल्पित भेद एवं वास्तविक अभेद का खुलासा करके, फिर कर्म करने में मनुष्यों की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन आगे करते हैं।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥ ६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ ८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य बहुत पहले का है, अतः मैं कैसे जानूँ कि यह (समत्व-योग) आप ही ने पहले कहा है (४)। श्री भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं, उन सबको मैं जानता हूँ, परन्तु हे परंतप ! तू नहीं जानता। तात्पर्य यह कि मुझ (ईश्वर) को अपने स्वरूप यानी सबके वास्तविक अपने आप—आत्मा की एकता, नित्यता एवं सर्वव्यापकता का पूर्ण-रूप से अनुभव होने के कारण मैं सर्वज्ञ हूँ, अतः भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल की सब बातों को मैं जानता हूँ, इसलिए तेरे और मेरे अनेक जन्मों का मुझे ज्ञान है, परन्तु तू अपने व्यक्तित्व के भाव-प्रधान देहाभिमान में आसक्ति रखने के कारण अज्ञ है, इसलिए तुझे अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान नहीं है (५)। मैं (सबका) आत्मा जन्म से रहित, निर्विकार और सब भूत प्राणियों का ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृति में अधिष्ठित होकर [illegible] प्रकट होता हूँ। [illegible] अर्थात्, [illegible] सब भूत प्राणियों के [illegible] आरम्भ करता हूँ। [illegible] है जाता है [illegible]

मैं अपने विशेष रूप को रचता हूँ अर्थात् विभूति-संपन्न रूप धारण किया करता हूँ। भले आदमियों की रक्षा और दुष्टों के नाश तथा धर्म की (पुनः) स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ। तात्पर्य यह कि जब-जब लोगों में सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव कम होकर पृथक् व्यक्तित्व के भाव बढ़ जाने के कारण अधिकतर मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने-अपने धर्म (स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म) छोड़ कर दूसरों के धर्मों का आचरण करने में प्रवृत्त हो जाते हैं और अनीति एवं अत्याचार करते हैं, जिससे जगत् में अधर्म उत्पन्न हो जाता है, तब मैं (सबका आत्मा) परिस्थिति के अनुसार विशेष रूपों में प्रकट होकर, अपने कर्तव्यों पर आरूढ़ रहने वाले श्रेष्ठ लोगों की रक्षा और समत्व-विमुख दुराचारियों का नाश करके जगत् और समाज को सुव्यवस्थित रखने वाले धर्म की पुनः स्थापना किया करता हूँ (७-८)। मेरे दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जो इस प्रकार भाव से जानता है, वह शरीर छोड़ने के बाद फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझमें मिल जाता है। तात्पर्य यह कि जो इस रहस्य को अच्छी तरह तात्त्विक विचार करके समझ लेता है कि सबका आत्मा - परमात्मा स्वेच्छा से स्वतन्त्रता-पूर्वक जन्म धारण करता और सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी वास्तव में अजन्मा, अकर्ता, निर्लेप और निर्विकार ही रहता है, दूसरे शब्दों में जो अपने वास्तविक आप—आत्मा के असली स्वरूप (समष्टि-भाव) को यथार्थतया जान लेता है, वह स्वयं सर्वात्म-भावापन्न ईश्वर अथवा परमात्म-स्वरूप हो जाता है यानी उसका जीव-ईश का भेद मिट जाता है—फिर वह अज्ञानी जीवों की तरह परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता (९)। बहुत से लोग मेरे (सर्वात्मा=परमात्मा के) साथ तन्मय होकर, अर्थात् मन को सबके अपने आप= आत्मा में जोड़ कर, मेरे आश्रय से अर्थात् आत्म-विश्वास से राग, भय और क्रोध से रहित होकर एवं आत्मज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर, मेरे भाव में आ मिले हैं। तात्पर्य यह कि अनेक लोग मेरा अवलम्बन करके, द्वैत-भाव छोड़ कर अपने वास्तविक आप—सच्चिदानन्द, सर्वव्यापक एवं नित्य आत्मा के एकत्व-भाव के अनुभव द्वारा जगत् के स्वामी मुझ (ईश्वर-स्वरूप) में समा गये हैं। सारांश यह कि 'आत्म' जैसा इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है—चाहे वह व्यक्तित्व के भाव से [illegible]भाव होकर परवशता से जन्म-मरण और कर्मों के बन्धनों में बन्धा रहे अथवा समष्टि-भाव से ईश्वर-स्वरूप होकर स्वेच्छानुसार स्वतन्त्रता पूर्वक व्यवहार करे (१०)। [illegible] मुझ (सबके अपने आप सर्व-व्यापक आत्मा) को जिस तरह का मान कर

* तीसरे अध्याय के श्लोक [illegible] से [illegible] तक का स्पष्टीकरण देखिए।

बर्ताव करते हैं, (उसीकी प्रतिक्रिया-स्वरूप) मैं (सर्वव्यापक आत्मा) उनके साथ उसी तरह बर्तता हूँ। हे पार्थ ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे अर्थात् सबके अपने-आप सर्वव्यापक आत्मा ही के मार्ग का अनुसरण करते हैं। तात्पर्य यह कि जो लोग व्यष्टि-भाव में अहङ्कार करके अपने-आप (आत्मा) को जिस तरह का मान कर आचरण करते हैं, उसीके अनुसार वे हो जाते हैं और उसीके अनुसार उनके इर्द-गिर्द के जगत् के बनाव बन जाते हैं, और जगत्-रूपी जगदीश्वर उसीके अनुसार उनके साथ बर्ताव करता है (११)। यहाँ (मनुष्य-देह में) कर्मों की सिद्धि चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन करते हैं, वस्तुतः मनुष्य-लोक में कर्मों के फल शीघ्र ही उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि कई लोग अपने कर्मों की सिद्धि के लिए दैवी शक्तियों को आत्मा से भिन्न मान कर उनकी उपासना करते हैं, उनको उस उपासना में लगे हुए अपने मन की भावना और एकाग्रता के प्रभाव से अपने-अपने कर्मों के अनुसार बहुत जल्दी सफलता मिलती है। वास्तव में मनुष्य (स्त्री-पुरुष) का देह में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण कर्म करने में स्वतन्त्रता है, अतः यह कर्म-भूमि है; और इसी देह में मनुष्य अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करता है। इस देह में जितने ही अधिक मनोयोग से कर्म किये जाते हैं उतनी ही जल्दी और उतनी ही अधिक उन कर्मों के अनुसार सफलता प्राप्त होती है (१२)। मेरे (समष्टि-भावापन्न आत्मा के) द्वारा गुणों के अनुसार कर्मों के विभाग से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का निर्माण हुआ है। उस (व्यवस्था) का कर्ता होते हुए भी मुझ (सबके आत्मा) को निर्विकार एवं अकर्ता ही जान। मुझ (सबके आत्मा) को कर्मों का कोई लेप नहीं होता; (क्योंकि) मुझ (सबके आत्मा) को कर्मों के फल की चाह नहीं रहती। इस तरह जो मुझ (सबके अपने-आप—आत्मा) को यथार्थतया जानता है, वह कर्मों के बन्धन में नहीं बँधता अर्थात् कर्मों के आधीन नहीं होता। पूर्वकाल में भी कर्मों के बन्धनों से मुक्त रहने की इच्छा रखने वालों ने इसी तरह जान कर अर्थात् इसी ज्ञान-युक्त कर्म किये हैं। अतः जिस तरह पहले वालों ने बहुत पहले कर्म किये हैं, उसी तरह तू भी कर्म ही कर। तात्पर्य यह कि यद्यपि जगत् और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त, शरीरों के भिन्न-भिन्न स्वाभाविक गुणों की योग्यता के अनुसार कर्म करने की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था सर्वात्म भावापन्न महापुरुष द्वारा निर्मित हुई है, क्योंकि सर्वात्म भावापन्न महापुरुष सब लोगों की सम्मिलित इच्छाओं और सबकी सम्मिलित शक्ति एवं सबके सम्मिलित ज्ञान का केन्द्र होता है, इसलिए जो-जो व्यवस्थाएँ समष्टि समाज के लिए समय-समय पर आवश्यक उपयोगी और हितकर होती हैं, उन्हें सर्वात्म भावापन्न महापुरुष ही निर्माण करता है, परन्तु यह सब-कुछ करता हुआ भी वास्तव में वह निर्लेप अकर्ता ही रहता

है, क्योंकि सर्वव्यापक आत्मा में कर्ता, कर्म और कर्म-फल की कोई भिन्नता
रहती। इसलिए जिसको उक्त सर्वात्म-भाव का अनुभव हो जाता है, उसे
कर्म के फल की इच्छा नहीं रहती; अतः सब कर्म करते हुए भी उसको कर्मों
कोई बंधन नहीं होता (१३ से १५)।

स्पष्टीकरण—भगवान् ने जब यह कहा कि इस समत्व-योग (ब्रह्म-विद्या
का उपदेश मैंने ही पहले पहल सूर्य द्वारा लोगों को दिया था, तो इस पर स्थूल
(भौतिक) दृष्टि के (देहाभिमानी) साधारण लोगों को इस शङ्का का होना
स्वाभाविक ही है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो द्वापर-युग के अन्त में वसुदेवजी
के घर जन्मे थे, और सूर्य एवं मनु आदि बहुत पहले ही हो चुके थे, फिर भगवान्
श्रीकृष्ण ने इस ब्रह्म-विद्या का उपदेश सबसे पहले कैसे दिया? इस शंका के
समाधान के निमित्त, अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् गीता के दूसरे
अध्याय के श्लोक १२ से ३० तक कहे हुए आत्मज्ञान के आधार पर इस विषय
का खुलासा करते हैं। भगवान् कहते हैं कि एक ही अज, अविनाशी, सम,
सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द ब्रह्म अथवा आत्मा अपनी स्वाभाविक इच्छा से अनेक
रूप धारण करता है। व्यष्टि-भाव में वह नाना जीव रूप होकर पृथक् व्यक्तित्व
का अहंकार करके अनेक प्रकार के कर्मों द्वारा जीव-रचित सृष्टि निर्माण करके
अपने को उन्हीं कर्मों के आधीन मानता है, और अपने असली सच्चिदानन्द
स्वरूप को भूल कर देह में अभिमान करके अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्,
उत्पत्ति-नाशवान्, सदा परिवर्तनशील, एवं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से युक्त मानता
है, और वर्तमान शरीर के ज्ञान के अतिरिक्त भूत और भविष्य का ज्ञान
साधारणतया नहीं रखता; और वही ब्रह्म अथवा आत्मा समष्टि-परमात्म-भाव में
अपने वास्तविक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् स्वरूप का यथार्थ अनुभव रखता
हुआ, अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति (इच्छा-शक्ति) के स्वामी रूप से जगत् की
व्यवस्था करता है। उस त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण
जगत् में निरन्तर उलट-फेर होता रहता है और इस उलट-फेर में जब व्यष्टि-
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

करता है, तब उस उपासना में अपने मनोयोग की दृढ़ता एवं तीव्रता
से सफलता जल्दी मिल जाती है। परन्तु उस सफलता का कारण स्वयं
आपके सिवाय दूसरा कोई नहीं होता, क्योंकि अपना मन जब एकत्व-भाव में जु
तभी सफलता होती है। मन को एकता में जोड़ने की योग्यता केवल म
देह में ही है। मनुष्य-योनि के सिवाय अन्य योनियों में विचार-शक्ति का वि
न होने के कारण कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है; उनकी सभी चेष्टाएँ स्वाभा
होती हैं; उनमें न तो कर्तापन का अहङ्कार रहता है, न कर्म करने की ज़िम्मेवा
अतः यह केवल भोग-भूमि है। परन्तु मनुष्य-देह में विचार-शक्ति का विका
होने के कारण कर्म करने में स्वतन्त्रता है। इस देह में जीवात्मा अपने को प्रकृ
के सर्वथा आधीन नहीं मानता, किन्तु वह प्रकृति के ऊपर शासन करने का प्रयत्न
करता है और दूसरों से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व का अहङ्कार करता है,
इसलिए वह अपने कर्मों का जिम्मेवार होता है और अपने कर्मों के शुभाशुभ फल
भी उत्पन्न करता है। इसलिए यह कर्म-भूमि है। इस देह में कर्मों की सिद्धि के
पाँच कारणों (गी० अ० १८ श्लो० १३ से १५) की अनुकूलता पूर्वक, अच्छी
तरह विधिवत् किये हुए कर्मों की सिद्धि अवश्य होती है। परन्तु जो लोग कर्मों
के फल के लिए दैवी शक्तियों की उपासना करते हैं, वे अपने मनोयोग की शक्ति
के प्रभाव से फल जल्दी उत्पन्न कर लेते हैं। जैसे बिजली आदि तेज मसाले की
शक्ति के उपयोग से वनस्पतियों के फल जल्दी उत्पन्न किये जाते हैं, उसी तरह
मानसिक शक्ति से कर्मों के फल जल्दी उत्पन्न किये जा सकते हैं। सारा जगत्-
प्रपञ्च मन के सङ्कल्पों की रचना है, अतः एकाग्र किये हुए मन के तीव्र सङ्कल्प से
कर्मों की सिद्धि तत्काल ही हो सकती है। सारांश यह कि जो अपने-आपको
जैसा मानता है वैसा ही वह बन जाता है। यदि अपने को एक स्थूल शरीर का
पुतला अथवा एक तुच्छ, अल्पज्ञ, कर्मों के बन्धनों से बँधा हुआ जीव मानता है और
ईश्वर को अपने से भिन्न—कोई विशेष व्यक्ति मानता है तो उसके लिए वैसा ही हो
जाता है; क्योंकि सृष्टि कल्पनामय है, जैसी कल्पना होती है वैसा ही बनाव बन
जाता है। मनुष्य-देह में ही यह योग्यता है कि जीवात्मा अपना भविष्य निर्माण
रके चाहे जैसा बन जाय। यदि अपने लिए आधिभौतिक और आधिदैविक सुखों
ी प्राप्ति के निमित्त देवताओं की उपासना करता है तो अपनी भावना के अनुसार
न्हीं द्वारा उसका फल उत्पन्न करके भोगता है*, और यदि अपने वास्तविक
प सच्चिदानन्द आत्मा का अनुभव कर लेता है तो ईश्वर-स्वरूप हो जाता है।

* देवताओं की उपासना से कामनाओं की सिद्धि होने का विशेष खुलासा
वें अध्याय के श्लोक २० से २३ तक में किया गया है।

कोई पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है और न उसे व्यक्तित्व का अहङ्कार ही है; क्योंकि उसमें दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व का भाव ही नहीं है। इसलिए इस व्यवस्था के बनाने में उसको कर्तापन का अभिमान और कोई विकार या बन्धन नहीं होता। यह प्रत्यक्ष में भी देखने में आता है कि लोक-हित के लिए सब लोग मिल कर एकत्व-भाव से (पंचायत द्वारा) कोई व्यवस्था बाँध कर उसके अनुसार आचरण करते हैं, तो उसमें न तो किसी व्यक्ति-विशेष को कर्तापन का अभिमान रहता है और न उसके अच्छे-बुरे परिणाम की जिम्मेवारी किसी व्यक्ति-विशेष पर रहती है। अतः जो लोग इस गुण-कर्म-विभाग के अनुसार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था-निर्माण के तत्व को अच्छी तरह समझ कर सबके हित के लिए (जिसमें वे स्वयं भी शामिल हैं), सबके साथ एकता के भाव से, सबके साथ सहयोग रखते हुए एवं सबके साथ शृङ्खलाबद्ध होकर अपने-अपने शरीरों के गुणों की योग्यतानुसार अपने-अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म करते रहते हैं, दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति नहीं रखते, उनको उक्त कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता, किन्तु वे सब प्रकार से उन्नति करते हुए सुख-समृद्धि-सम्पन्न होते हैं; और जिस समाज के लोग उपरोक्त गुण-कर्म-विभाग के सिद्धान्तानुसार आचरण करते हैं, वह समाज अवश्य ही उन्नत और सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है।

इसलिए भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको कहते हैं कि पहले भी सभी सुख-शान्ति और स्वतन्त्रता की इच्छा रखने वाले लोगों ने इसी तरह व्यवहार-युक्त अपने-अपने कर्तव्य-कर्म किये हैं, और अब भी धर्माधर्म, पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त रहने और सब प्रकार की उन्नति की इच्छा रखने वालों को इसी तरह सबकी एकता के साम्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म

समाज की बहुत दुर्दशा हो रही है और जनता में घोर अशान्ति फैल रही है। बहुत से लोग वर्ण-व्यवस्था ही को सारे अनर्थों का कारण मानते हैं; परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो इसमें दोष वर्ण-व्यवस्था का नहीं है, किन्तु उसके बिगड़ जाने का है। वर्ण-व्यवस्था [illegible] है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अर्थ—कर्म (का स्वरूप) क्या है और अकर्म (का स्वरूप) क्या है, इस विषय में बड़े-बड़े बुद्धिमान् पण्डित भी भ्रम में पड़े हुए हैं। मैं तुझे वह कर्म (का रहस्य) बतलाऊँगा जिसे जान कर तू अशुभ से छूट जायगा अर्थात् तेरा मोह दूर हो जायगा। कर्म (साधारणतया कर्म का व्यापक स्वरूप) अवश्य जानना चाहिए; विकर्म (न करने योग्य—निषिद्ध अथवा त्याज्य कर्म का स्वरूप) भी जानना चाहिए; और अकर्म (कर्म से सर्वथा रहित होने अर्थात् कर्म-शून्यता का स्वरूप) भी जानना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति गहन है। जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, अर्थात् जो कर्म-रूप जगत् की निरन्तर परिवर्तनशील झूठी भिन्नता में अकर्म-रूप सच्चा एकत्व-भाव (सर्वत्र एक आत्म-तत्त्व—अपने-आप) का अनुभव करता है, और अकर्म रूप सत्य, नित्य, अपरिवर्तनशील एकत्व-भाव (एक आत्म-तत्त्व—अपने-आप) में कर्म-रूप विश्व की कल्पित एवं परिवर्तनशील भिन्नता का बनाव देखता है—इस तरह जो कर्म-अकर्म में अभेद देखता है—वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वही समत्वयोगी सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता (कर्मों का स्वामी) है। तात्पर्य यह कि मनुष्यों की कौन-कौनसी चेष्टाएँ कर्म रूप हैं, जिनके अच्छे-बुरे फल (शुभाशुभ परिणाम) में मनुष्य बँधता है, और कौनसी चेष्टाएँ अकर्म-रूप हैं जिनसे मनुष्य कर्म के शुभाशुभ परिणाम से मुक्त रहता है—इस विषय को यथार्थ रूप से समझने और उससे मुक्त होने के समर्थ [illegible] विषयों में विद्वान्, [illegible] [illegible] [illegible]

ज्ञान के बिना, केवल आधिभौतिक और आधिदैविक भेद-भाव की दृष्टि से जाना नहीं जा सकता—चाहे भेद-वाद के शास्त्रों का कितना ही अध्ययन किया जाय और उन पर कितना ही विचार किया जाय। जगत् की नाना प्रकार की भिन्नताओं को सच्ची मानने वाले भेदवादी विद्वान् लोग कर्म-अकर्म का निर्णय, कर्म के स्थूल रूप और उससे होने वाले प्रत्यक्ष के व्यक्तिगत हानि-लाभ की दृष्टि से, अथवा भेद-वाद के शास्त्रों में वर्णित, मरने के बाद प्राप्त होने वाले सुख-दुःख अथवा स्वर्ग-नरक आदि के विचार ही से करते हैं—कर्मों के सूक्ष्म एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव और उनसे होने वाले दृष्ट व अदृष्ट समष्टि हिताहित का सूक्ष्म एवं व्यापक विचार वे नहीं करते। उनमें से बहुत से विद्वान् लोग तो संसार अथवा गृहस्थी के व्यवहार मात्र ही को बन्धन-रूप कर्म समझते हैं—चाहे कोई व्यवहार शुभ हो या अशुभ, विहित हो या निषिद्ध, और चाहे वह किसी भी विधि से और किसी भी भाव से किया जाय—उनकी दृष्टि में सभी व्यवहार बन्धन के हेतु होते हैं; और संसार अथवा गृहस्थी के सारे व्यवहारों को छोड़ कर निरुद्यमी हो जाना अर्थात् संन्यास ले लेना ही वे मोक्ष का साधन—अकर्म समझते हैं; क्योंकि उनके मतानुसार, यह दुःखदायी एवं बन्धन-रूप जगत् कर्मों पर ही निर्भर होने के कारण, जब तक जगत् को बनाये रखने के हेतु-भूत कर्म किये जाते हैं, तब तक न तो यह जञ्जाल मिटता है और न इससे छुटकारा ही होता है; इसलिए कर्मों को सर्वथा त्याग देने से जगत् रूपी जञ्जाल से मनुष्य का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब शरीर छूटने (मरने) के बाद मुक्ति प्राप्त हो जाती है—फिर जन्म-मरण के चक्कर में आना नहीं पड़ता। दूसरे पण्डित लोग यह कहते हैं कि यज्ञादिक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, दान, पुण्य आदि परोपकार के कार्य, और जप, तप, पूजा, पाठ, सत्य, शौच, दया, अहिंसा आदि शुभ कर्मों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए (गी० अ० १८ श्लोक ३)। उनके मत में इन शुभ कर्मों से बन्धन नहीं होता, किन्तु इनसे पुण्य उत्पन्न होकर मरने के बाद स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति-रूप मुक्ति हो जाती है; इसलिए ये कर्म बन्धन के हेतु नहीं, किन्तु मोक्ष के हेतु—अकर्म हैं। कई विद्वान् कहते हैं कि किसी प्रयोजन-सिद्धि की कामना से जो कर्म किये जाते हैं उन्हींसे बन्धन होता है, इसलिए ऐसे काम्य-कर्मों को सर्वथा छोड़ देना ही मोक्ष का हेतु—अकर्म है। और कई बुद्धिमान् कहते हैं कि कर्म करने में कोई बन्धन नहीं है, बन्धन कर्म के फल में है, इसलिए कर्म का फल छोड़ देना ही अकर्म है (गी० अ० १८ श्लो० २)। भगवान् कहते हैं कि कर्म-अकर्म का उपरोक्त विवेचन, चाहे आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टि से ठीक हो, परन्तु आध्यात्मिक विचार की सच्ची कसौटी पर जाँच करने पर यह ठीक नहीं उतरता। कर्म-अकर्म का यथार्थ निर्णय करने के लिए सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि चेतना-युक्त

दूसरी तरफ़ सात्विक प्रवृत्ति, अर्थात् सबकी एकता के सात्विक ज्ञान से (गी० अ० १८ श्लो० २०), यथार्थ निर्णय करने वाली सात्विक बुद्धि (गी०अ०१८ श्लो०३०) तथा असङ्ग, अनहङ्कार, धैर्य, उत्साह और अविचलता के सात्विक भाव (गी० अ० १८ श्लो० २६) युक्त, सभी व्यवहार यथायोग्य साम्य-भाव से धारण करने की सात्विक धृति (गी० अ० १८ श्लो० ३३) द्वारा, व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से रहित होकर किये जानेवाले सात्विक कर्म (गी० अ०१८ श्लो० २३) वास्तव में अकर्म हैं। यही सच्चा सात्विक त्याग अर्थात् सच्ची निवृत्ति है (गी० अ० १८ श्लो० ६से ११)।

यह पहले कह आये हैं कि जगत् की भिन्नता को सच्ची मानने वाले भेदवादी विद्वान् लोग कर्मों के बाहरी स्थूल रूप और उनसे होने वाले प्रत्यक्ष के व्यक्तिगत हानि-लाभ ही को अधिक महत्व देते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि व्यक्तित्व के भाव तक ही सङ्कुचित रहती है; अतः प्रत्येक कर्म का प्रभाव विशेष व्यक्तियों तक ही सीमाबद्ध मान कर वे कर्म-अकर्म का निर्णय करते हैं, अर्थात् किसी कर्म का प्रत्यक्ष हानि-लाभ, उस कर्म के करने वाले, और जिनसे उस कर्म का प्रत्यक्ष सम्पर्क दीखता हो उनको क्या होता है—इसी बात को, अथवा भेद-वाद के शास्त्रों में वर्णित उन कर्मों के फल-स्वरूप, मरने के बाद स्वर्ग-नरक आदि सुख-दुःख की प्राप्ति के विचार को ही वे विशेष महत्व देते हैं; समष्टि जगत् अथवा समाज की व्यवस्था पर उस कर्म का सूक्ष्म प्रभाव, अप्रत्यक्ष रूप से क्या पड़ेगा, इस बात पर वे ध्यान नहीं देते। परिणाम यह होता है कि कर्मों के बाह्य रूप पर ही विहित अथवा शुभ कर्म, एवं निषिद्ध अथवा अशुभ—विकर्म का स्वरूप वे सदा के लिए निश्चित कर लेते हैं; और विहित अथवा निषिद्ध, कुछ भी न करने को अकर्म मान लेते हैं। उदाहरणार्थ.—(१) चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार व्यवसाय करना वे केवल इसीलिए विहित मानते हैं कि उनसे उन व्यवसायों के करने वालों तथा उनके कुटुम्ब आदि की आजीविका और अर्थोपार्जन होते हैं। इसके अतिरिक्त जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था के समष्टि-हित का भाव उनके मन में नहीं रहता; फलतः वे गुणों की योग्यतानुसार कार्य-विभाग के सिद्धान्त पर स्थिर न रह कर जिस रीति से द्रव्योपार्जन अधिक हो वही काम करने लग जाते हैं। यदि वंश-परम्परागत व्यवसाय करने से अधिक धन प्राप्त हो तो वही करते हैं, नहीं तो जिन कामों से द्रव्योपार्जन अधिक होता हो उन्हें करने लग जाते हैं। इस तरह वर्ण-व्यवस्था को बिगाड़ कर उसके असली प्रयोजन और उसके वास्तविक लाभ से वञ्चित रहते हैं। (२) सत्य बोलना, हिंसा न करना, किसी का धन न छीनना, क्षमा करना, शुद्धता रखना, इन्द्रियों का निग्रह करना आदि सदाचारों को वे इसलिए श्रेष्ठ धर्म मानते हैं कि इनका आचरण करने वाला पुण्य का भागी होता है, उसका अन्तःकरण

व्यक्तिगत हानि अथवा क्लेश होने की परवाह नहीं करते। (इस विषय का विशेष खुलासा प्रसङ्गानुसार यथास्थान आगे किया जायगा)।

इस प्रकार आत्मज्ञानी महापुरुष ही ठीक-ठीक जानते हैं कि किस अवस्था में और किस भाव से किया हुआ अथवा न किया हुआ कर्म, विकर्म होता है; और किस अवस्था में और किस भाव से किया हुआ अथवा न किया हुआ कर्म, अकर्म होता है।

जो इस तरह "अनेकों में एक और एक में अनेक" अर्थात् कल्पित पृथकता के भाव में सच्चे एकत्व-भाव के यथार्थ ज्ञान से प्रवृत्ति और निवृत्ति, अथवा कर्म-योग और संन्यास के अभेद (गी० अ० ५ श्लो० ३ से ५) के रहस्य को याथातथ्य जानता है, वह सारे कर्मों का पारङ्गत, सब कर्मों का अधिष्ठाता, सब कर्मों का स्वामी और कर्म के सिद्धान्त को यथार्थ जानने वाला सच्चा पण्डित होता है, और वही कर्म-अकर्म के विषय में सच्चा निर्णायक और आदर्श दिखलाने वाला होता है। वह सर्वात्म-भाव के समत्व-योग में स्थित महापुरुष संसार के सब प्रकार के अच्छे और बुरे माने जाने वाले कर्म करता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता (गी० अ० १८ श्लो० १७)। वह महा-कर्ता और साथ ही महा-अकर्ता होता है। उसकी दृष्टि में कर्ता, कर्म, करण, देश, काल, वस्तु आदि सब ब्रह्म-रूप अथवा अपने-आपके स्वरूप होते हैं। इसलिए उसके व्यवहारों में कर्म-रूपता कुछ भी नहीं रहती। लौकिक स्थूल दृष्टि से उसके व्यवहार शुभ हों या अशुभ, विहित हों या निषिद्ध, उच्च हों या नीच, लाभदायक हों या हानिकारक, पवित्र हों या मलिन, पुण्य हों या पाप—वह महापुरुष भेद-बुद्धि से रहित होने के कारण इन द्वन्द्वों से परे होता है, और सर्वत्र एकत्व-भाव के सात्त्विक-ज्ञानयुक्त सांसारिक व्यवहार करने का ज्ञान-यज्ञ करता रहता है।

× × ×

संसार के कर्म-रूप होने के कारण अर्थात् सबके कर्मों पर निर्भर रहने के कारण सबके कर्म संसार को धारण करने वाले यज्ञ होते हैं; परन्तु यज्ञ भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से कई प्रकार के होते हैं। श्लोक २४ तक भगवान् ने एकत्व-भाव के सात्त्विक-ज्ञानयुक्त सात्त्विक यज्ञ अथवा ज्ञान-यज्ञ का स्वरूप और उसकी महिमा कही। अब व्यष्टि-भाव से किये जाने वाले दूसरे प्रकार के यज्ञों का थोड़ा-सा उल्लेख करते हैं कि यद्यपि ये भी यज्ञ ही माने जाते हैं क्योंकि इनसे मनुष्य के व्यक्तित्व के भाव रूप पशु-वृत्ति शनैः शनैः कम होती है अतः ये ज्ञान-यज्ञ हैं, परन्तु सच्चा यज्ञ ज्ञान-यज्ञ ही है

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३० ॥

अर्थ—दूसरे कर्मयोगी (कर्मों में लगे हुए लोग) दैव यज्ञ को ही करते हैं, अर्थात् सांसारिक सुखों के लिए देवताओं की उपासना करते हैं; और दूसरे ब्रह्माग्नि में यज्ञ को यज्ञ से ही होमते हैं, अर्थात् कई लोग ब्रह्म को अपने से भिन्न मान कर उसकी प्राप्ति के लिए अपने यज्ञों को उस ब्रह्म के अर्पण करने रूपी यज्ञ करते हैं (२५)। कई लोग कान आदि इन्द्रियों को संयमरूपी अग्नि में होमते हैं, और कई शब्द आदि विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नि में होमते हैं। तात्पर्य यह कि कई (कर्मयोगी) लोग इन्द्रियों के नियमन यानी उनको अपने विषयों से हटाने रूपी यज्ञ करते हैं, और कई लोग इन्द्रियों के विषयों को विधिवत् भोगते रहने का यज्ञ करते हैं (२६)। और कई (कर्मयोगी) लोग, इन्द्रियों और प्राणों के सारे व्यापारों को, ज्ञान से प्रकाशित अन्तःकरण के संयम रूप योग-अग्नि में होमते हैं, अर्थात् आत्म-विचारपूर्वक मन को सब इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं से हटा कर उसे एकाग्र करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं (२७)। कई द्रव्य-यज्ञ अर्थात् परोपकार के लिए द्रव्यादि को लगाने रूप सात्त्विक दान देने, कई तप-यज्ञ (सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्त्विक तप करने), कई योग-यज्ञ (पातञ्जल राज-योग का अभ्यास करने), कई स्वाध्याय-यज्ञ (पढ़ने), और कई ज्ञान-यज्ञ (आत्मा का विचार करने) में यत्नशील होकर अत्यन्त दृढ़ मन से लगे रहते हैं (२८)। कई

एक प्राण अर्थात् श्वास को अन्दर खींचने, और अपान अर्थात् श्वास को बाहर छोड़ने की गति को रोकने द्वारा प्राणायाम करके अपान को प्राण में और प्राण को अपान में होमते हैं, अर्थात् श्वास लेना और छोड़ना कुछ समय के लिए रोक कर प्राण और अपान को एकता करके, प्राणायाम रूपी यज्ञ करते हैं (२६)। कई नियत आहार करने वाले कर्मयोगी प्राणों को प्राणों में होमते हैं, अर्थात् नियमित भोजन करके श्वास-प्रश्वास की गति पर ध्यान लगाने द्वारा मन और इन्द्रियों का नियन्त्रण करने रूपी यज्ञ करते हैं। ये सभी यज्ञ के जानने वाले हैं और इनके अन्तःकरण का मैल यज्ञ ही से क्षीण हो जाता है; अर्थात् उपरोक्त चेष्टाएँ करने वाले लोग भी इन सब क्रियाओं को यज्ञ समझ कर ही करते हैं और इनसे उनके व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति शनैः-शनैः मिट कर अन्तःकरण शुद्ध होता है (३०)।

× × ×

अब भगवान् उपरोक्त विविध प्रकार के यज्ञों की अपेक्षा सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान सहित किये जाने वाले यज्ञ की श्रेष्ठता और उसकी अकर्म-रूपता का प्रतिपादन करके, उक्त ज्ञान की प्राप्ति के साधन और उसका माहात्म्य कह कर, फिर उस ज्ञान-युक्त, अपने स्वाभाविक कर्म करने के उपदेश को दुहराते हुए इस अध्याय का उपसंहार करते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

शास्त्रों में विस्तार से किया हुआ है, उन सबको कर्म-जन्य जान, ऐसा जानने से तू मुक्त होगा। तात्पर्य यह कि जगत् में अनेक प्रकार के यज्ञों का शास्त्र-विहित प्रचार है और वे सब यज्ञ कर्म करने ही से सम्पादित होते हैं, इसलिए वे सब कर्म-मय हैं। कर्म की व्यापकता का रहस्य इस तरह जान लेने से कर्म करने अथवा न करने के व्यक्तित्व का अहङ्कार मिट जाता है, फिर कर्मों का बन्धन नहीं होता (३२)। हे परन्तप! द्रव्य-मय यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ! सारे कर्म ज्ञान में पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि पदार्थों को अग्नि में होमने, या दान देने, अथवा शरीर की नाना प्रकार की क्रियाओं से होने वाले द्रव्य-मय यज्ञों की अपेक्षा सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान-युक्त अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ होता है। सर्वत्र एकता के ज्ञान-युक्त किये जाने पर सम्पूर्ण कर्मों का कर्मत्व समूल नष्ट हो जाता है (३३)। (अहङ्कार रहित नम्रता और सरलतापूर्वक) दण्डवत् प्रणाम करके एवं सेवा करके, विधिवत् पूछने (सच्ची जिज्ञासा करने) द्वारा तू उस (ज्ञान) को जान; तत्वदर्शी ज्ञानी तुझे (उस) ज्ञान का उपदेश करेंगे। तात्पर्य यह कि अनेक प्रकार की शारीरिक उपाधियों के अहङ्कार की आसक्ति से रहित होकर अत्यन्त नम्रता और सरलतापूर्वक लोक-सेवा करते रहने से जब सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तब तत्वज्ञानी महात्मा लोगों के उपदेश से सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त होता है (३४)। जिसे जान लेने पर, हे पाण्डव! तुझे फिर इस प्रकार का मोह नहीं होगा; उस ज्ञान से सारे भूत-प्राणियों को तू अपने-आप में और मुझमें देखेगा। तात्पर्य यह कि उक्त ज्ञान की प्राप्ति होने पर तू सारे विश्व को, अपने आपको और मुझको एक ही आत्मा के अनेक रूप समझेगा, यानी सर्वत्र एकत्व-भाव हो जायगा, तब फिर कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह होने का अवकाश नहीं रहेगा (३५)। यदि तू सारे पापियों से भी बढ़ कर पाप करने वाला है तो भी ज्ञान-रूपी नौका से तू सारे पापों से तर जायगा। तात्पर्य यह कि सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान-युक्त कर्म चाहे कितने ही घोर-हिंसात्मक अथवा पापात्मक हों, वास्तव में वे पाप रूप नहीं होते; क्योंकि पाप-पुण्य आदि के भाव, भेद-बुद्धि से होते हैं; जब सब भेद मिट कर सर्वत्र एकता हो जाती है, तब सभी द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं, फिर पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं रहता (३६)। हे अर्जुन! जिस तरह प्रज्वलित अग्नि, लकड़ियों को भस्मीभूत कर देता है उसी तरह [illegible] ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है [illegible] [illegible] ज्ञान-युक्त किए हुए कर्मों के बन्धन कुछ भी नहीं रहता (३७)। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है और वह [illegible] [illegible]

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

अर्थ—यज्ञ से अवशिष्ट (बचे हुए) अमृत को भोगने वाले मनुष्य (श्रीकृष्ण सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। (परन्तु) हे कुरुओं में श्रेष्ठ! यज्ञ से रहित (मनुष्य का यह लोक भी नहीं है, तो दूसरा कहाँ? तात्पर्य यह कि अपने अपने [illegible] योग्यतानुसार अपना-अपना कर्तव्य-कर्म, सबकी एकता के ज्ञान-युक्त, लोक सं[illegible] की समष्टि आत्मा जगत् की सुव्यवस्था के लिए करते हुए यज्ञ से जो [illegible] प्राप्त हों, उनसे दूसरों को यथायोग्य लाभ पहुँचाते हुए, जो उनको अपने [illegible] में लेते हैं वे सनातन ब्रह्म-रूप हो जाते हैं। परन्तु जो इस तरह लोक-संग्रह के लि[illegible] अपने कर्तव्य-कर्म रूपी यज्ञ नहीं करते, किन्तु आलस्य और प्रमाद में पड़े रहते हैं अथवा पशु-पक्षियों की तरह केवल अपने शारीरिक सुखों के लिए ही [illegible] रहते हैं, वे लोग इस लोक में भी किसी योग्य नहीं रहते, न किसी प्रकार की [illegible] कर सकते हैं, न सुख शान्ति की प्राप्ति हो, तो फिर इस शरीर के छूटने के [illegible] परलोक में उनको सुख अथवा मुक्ति की प्राप्ति क्या होती है? ऐसे [illegible] [illegible] नहीं रहता (३१)। इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञों का वर्णन [illegible]

सदा संशय ही में पड़ा रहता है, वह इस लोक अर्थात् वर्तमान शरीर में कोई कार्य सुव्यवस्थित करके अपना जीवन सफल नहीं कर सकता, और न वह अपना परलोक ही सुधार सकता है; अतः उसका यह लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं—किसी काल में भी उसको सुख नहीं होता (४०)। जिसने समत्व-योग से कर्मों का संन्यास कर दिया है और सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से जिसके संशय कट गये हैं, हे धनंजय ! उस आत्मज्ञानी को कर्म बाँध नहीं सकते। तात्पर्य यह कि जिस पुरुष के सभी कर्म सबकी एकता के भाव-सहयुक्त लोक-संग्रह के लिए होते हैं और अपने आप—आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने से जिसके सारे संशय मिट गये हैं, वह कर्मों के बन्धनों से सदा मुक्त है (४१)। इसलिए हे भारत ! (अपने यथार्थ स्वरूप के) अज्ञान से उत्पन्न, अन्तःकरण में स्थित इस संशय को, आत्म-ज्ञान रूपी तलवार से काट कर समत्व-योग में लगने के लिए उठ खड़ा हो। तात्पर्य यह कि आत्मा के यानी अपने-आप के विषय में यथार्थ ज्ञान न होने के कारण जो तेरे अन्तःकरण में यह संशय उत्पन्न हुआ है कि "मेरे लिए युद्ध करना श्रेयस्कर है अथवा न करना ?", इस सन्देह को उपरोक्त सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से दूर करके, सबके साथ एकता के साम्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म—युद्ध करने के लिए उठ खड़ा हो (४२)।

स्पष्टीकरण—भगवान् कहते हैं कि इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि द्रव्य-यज्ञ से लेकर जो-जो यज्ञ श्लोक २४ से ३० तक कहे हैं तथा उनके अतिरिक्त जो अन्य अनेक प्रकार के यज्ञों का बहुत-सा विधान शास्त्रों में किया गया है, वे सभी किसी न किसी प्रकार की क्रिया करने से ही सिद्ध होते हैं। अभिप्राय यह कि कर्म तो सभी दशाओं में करने ही पड़ते हैं, बिलकुल क्रिया-रहित होने से कुछ भी नहीं होता। इसलिए समाज और जगत् की सुव्यवस्था अर्थात् लोक-संग्रह के लिए अपने-अपने शरीरों की स्वाभाविक योग्यता के कर्म करने रूपी यज्ञ करना ही श्रेष्ठ है, जिससे सबके हित के साथ-साथ अपना भी वास्तविक हित होता है। इसी यज्ञ से मनुष्य-जन्म सार्थक होता है; क्योंकि यह जगत् सबके एकत्व-भाव=समष्टि-आत्मा की इच्छा (स्वभाव) का बनाव अथवा खेल है, और यह खेल व्यष्टि आत्मा (जीवात्माओं) के कर्मों से ही सम्पादित होता है, और मनुष्य की देह में बुद्धि के रूप में आत्मा का विशेष विकास होता है, जिससे उसे कर्म करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता है, इसलिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा जगत् को धारण करने में सहायक होने की उसकी विशेष जिम्मेवारी होती है। अज्ञान, नींद

तक भेद-बुद्धि से स्थूल शरीरों में अहंभाव रहता है तब तक ही मलिन
है, परन्तु जब एक ही आत्मा के सर्वत्र समान भाव से व्यापक होने के अभे
द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब फिर किसी भी प्रकार की अपवित्रता
स्थान नहीं रहता। इस अभेद-ज्ञान का उपदेश २४ वें श्लोक में कथित
त्वदर्शी महात्माओं से लेकर, फिर उसके अनुसार सर्वत्र एकता के साम्य-भा
मत्व-योग का) आचरण करने के अभ्यास में उन्नति करते-करते जब समय
र्ण व्यवहार उक्त साम्य-भावयुक्त निरन्तर होने लग जाते हैं, तब सारे विश्व
ने-आप ही में एकता का पूर्ण अनुभव हो जाता है। सारांश यह कि आ
ने-आप ही में एकता का पूर्ण अनुभव हो जाता है। सारांश यह कि आत्म-
ही बाहर से प्राप्त नहीं होता, किन्तु समत्व-योग के आचरण से अपने-आप
सका अनुभव हो जाता है, क्योंकि वह अपने-आप ही का यथार्थ अनुभव है
हल सर्वात्म-साम्य-भाव में स्थित महापुरुषों से श्रद्धापूर्वक उपदेश लेकर,
उपदेश को मन में अच्छी तरह धारण करके, उस ज्ञान-युक्त आचरण करने
चाहिए, क्योंकि केवल उपदेश सुन लेने अथवा समझ लेने मात्र से ही सर्वभ
ज्ञान में स्थिति नहीं हो जाती, किन्तु उसके अनुसार आचरण करने
स्थिति होती है। इसलिए यद्यपि महात्माओं से सुना हुआ
पुस्तकों में पढ़ा हुआ परोक्ष ज्ञान, समत्व-योग के आचरण का साध
अपने-आप (आत्मा) के ज्ञान में पूर्ण रूप से दृढ़ स्थिति, समत्व-योग के
ही होती है। इस तरह समत्व-योग के आचरण का कारण परोक्ष आत्म-ज्ञान
फिर अपरोक्ष आत्म-ज्ञान में दृढ़ स्थिति होने के लिए समत्व-योग का
परम आवश्यक है, अतः ये दोनों एक दूसरे के साधक हैं (३८)। अ
तत्परता से लगने वाला जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है, और ज्ञा
उसी क्षण परम शान्ति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञानी
उपदेशों में श्रद्धा करके उनके अनुसार आचरण करने के अभ्यास में तत्प
लगे रहने से, तथा इन्द्रियों को वश में रखने से ही आत्म-ज्ञान में
है, और आत्म-ज्ञान में स्थिति होने पर फिर शान्ति पुष्टि और तुष्टि
भी देर नहीं लगती—उसी क्षण हो जाती है, क्योंकि वास्तव में आत्म
पुष्टि और तुष्टि है (३९)। यथार्थ ज्ञान से रहित और श्रद्धा से र
में अलग रह कर नष्ट हो जाता है, संशयहीन का न तो यह
परलोक, और न उसे सुख ही होता है। तात्पर्य यह कि जिस
यथार्थ ज्ञान है और न तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के उपदेशों में श्रद्धा है
में ही रहता है—किसी एक निश्चय पर नहीं ठहरता, उसका म
है, कभी कुछ मानता है कभी कुछ इसलिए उसको कहीं दु

यह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान तब प्राप्त होता है, जब कि मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने जाति, कुल, पेशे, वर्ण, आश्रम, पद, प्रतिष्ठा, धन, ऐश्वर्य, कुटुम्ब, परिवार, विद्या, बुद्धि, बल, कार्य-कुशलता, रूप, यौवन, सभ्यता, सदाचार, धर्म, सम्प्रदाय, भजन, कीर्तन, पूजा, पाठ, तप, दान, कर्म-काण्ड, परोपकार, त्याग, वैराग्य एवं संन्यास आदि सभी प्रकार की शारीरिक उपाधियों के अभिमान से रहित होकर, लोक-सेवा के कार्य करता हुआ, अत्यन्त नम्रता एवं सरलतापूर्वक निष्कपट भाव से, उन लक्षणों वाले तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों की शरण में जाकर आत्मज्ञान के उपदेश की जिज्ञासा करे, जिसका विवरण गी० अ० २ श्लोक ५५ से ७२ तक स्थित-प्रज्ञ के वर्णन में, तथा गी० अ० ३ श्लोक १७ से १० तक, व गी० अ० ४ श्लोक १८ से २४ तक, व गी० अ० ५ श्लोक ७ से १० तक व श्लोक १७ से २८ तक, व गी० अ० ६ श्लोक २९ से ३२ तक समत्वयोगी के वर्णन में, तथा गी० अ० १२ श्लोक १३ से २० तक भक्त के वर्णन में, तथा गी० अ० १३ श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान के वर्णन में, तथा गी० अ० १४ श्लो० २२ से २६ तक गुणातीत के वर्णन में, तथा गी० अ० १६ श्लो० १ से ३ तक में दैवी सम्पत्ति के वर्णन में किया गया है; क्योंकि (सर्वभूतात्मैक्य) आत्म-ज्ञान अपने-आपके अनुभव और उस अनुभव से सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त आचरण करने का विषय है; इसलिए इसका उपदेश वही तत्त्वज्ञानी महापुरुष दे सकते हैं जिनको स्वयं यह अनुभव हो गया है, और जो उस अनुभव-युक्त सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के साम्य-भावयुक्त आचरण करके आदर्श दिखाते हैं। परन्तु जिनको जीव, जगत् और ब्रह्म के एकत्व-भाव, अथवा पुरुष और प्रकृति की अभिन्नता, दूसरे शब्दों में सबके साथ अपनी एकता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उन भेदवादी लोगों के आचरण सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव युक्त नहीं हो सकते, अतः वे इस विषय का उपदेश नहीं दे सकते। क्योंकि जो वस्तु जिसके पास होती है वही उसे दे सकता है—जिसके पास जो वस्तु होती ही नहीं वह उसे कैसे दे सकता है? इसलिए इस तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए, गुरु तलाश करने में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। जब तक उपरोक्त लक्षणों वाला सच्चा तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी गुरु न मिले, तब तक यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी तरह जब तक उपदेश लेने वाला भी अपने शरीर की उपाधियों के बड़प्पन का अभिमान रखता है, तब तक उसे यह उपदेश नहीं मिल सकता; क्योंकि वह अपने को दूसरों से बड़ा और ऊँचा मानता है, इसलिए वह जन-साधारण से अलग रहता है, और तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के सत्संग में, जहाँ छोटे-बड़े, ऊँच-नीच

यह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान तब प्राप्त होता है, जब कि मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने जाति, कुल, देश, वर्ण, आश्रम, पद, प्रतिष्ठा, धन, ऐश्वर्य, कुटुम्ब, परिवार, विद्या, बुद्धि, बल, कार्य-कुशलता, रूप, यौवन, सज्जनता, सदाचार, धर्म, सम्प्रदाय, भजन, कीर्तन, पूजा, पाठ, तप, दान, कर्म-काण्ड, परोपकार, त्याग, वैराग्य एवं संन्यास आदि सभी प्रकार की शारीरिक उपाधियों के अभिमान से रहित होकर, लोक-सेवा के कार्य करता हुआ, अत्यन्त नम्रता एवं सरलतापूर्वक निष्कपट भाव से, उन लक्षणों वाले तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों की शरण में जाकर आत्मज्ञान के उपदेश की जिज्ञासा करे, जिसका विवरण गी० अ० २ श्लोक ५५ से ७२ तक स्थित-प्रज्ञ के वर्णन में, तथा गी० अ० ३ श्लोक १० से ३० तक, व गी० अ० ४ श्लोक १८ से २४ तक, व गी० अ० ५ श्लोक ७ से १० तक व श्लोक १० से २८ तक, व गी० अ० ६ श्लोक २९ से ३२ तक समत्वयोगी के वर्णन में, तथा गी० अ० १२ श्लोक १३ से २० तक भक्त के वर्णन में, तथा गी० अ० १३ श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान के वर्णन में, तथा गी० अ० १४ श्लो० २२ से २६ तक गुणातीत के वर्णन में, तथा गी० अ० १६ श्लो० १ से ३ तक में दैवी सम्पत्ति के वर्णन में किया गया है; क्योंकि (सर्वभूतात्मैक्य) आत्म-ज्ञान अपने-आपके अनुभव और उस अनुभव से सबके साथ एकता के साम्य-भावयुक्त आचरण करने का विषय है; इसलिए इसका उपदेश वही तत्त्वज्ञानी महापुरुष दे सकते हैं जिनको स्वयं यह अनुभव हो गया है, और जो उस अनुभव-युक्त सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के साम्य-भावयुक्त आचरण करके आदर्श दिखाते हैं। परन्तु जिनको जीव, जगत् और ब्रह्म के एकत्व-भाव, अथवा पुरुष और प्रकृति की अभिन्नता, दूसरे शब्दों में सबके साथ अपनी एकता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उन भेदवादी लोगों के आचरण सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव युक्त नहीं हो सकते, अतः वे इस विषय का उपदेश नहीं दे सकते। क्योंकि जो वस्तु जिसके पास होती है वही उसे दे सकता है—जिसके पास जो वस्तु होती ही नहीं वह उसे कैसे दे सकता है? इसलिए इस तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए, गुरु तलाश करने में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। जब तक उपरोक्त लक्षणों वाला सच्चा तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी गुरु न मिले, तब तक यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी तरह जब तक उपदेश लेने वाला भी अपने शरीर की उपाधियों के बड़प्पन का अभिमान रखता है तब तक उसे यह उपदेश नहीं मिल सकता; क्योंकि वह अपने को दूसरों से बड़ा और ऊंचा मानता है, इसलिए वह जन-साधारण से अलग रहता है, और तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के सत्संग में जहाँ छोटे-बड़े, ऊंच-नीच

यह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान तब प्राप्त होता है, जब कि मनुष्य (स्त्री-पु
अपने जाति, कुल, देश, वर्ण, आश्रम, पद, प्रतिष्ठा, धन, ऐश्वर्य, कुटुम्ब, परिवा
विद्या, बुद्धि, बल, कार्य-कुशलता, रूप, यौवन, सभ्यता, सदाचार, धर्म, सम्प्रदाय
भजन, कीर्तन, पूजा, पाठ, तप, दान, कर्मकाण्ड, परोपकार, त्याग, वैराग्य ए
संन्यास आदि सभी प्रकार की शारीरिक उपाधियों के अभिमान से रहित होकर,
लोक-सेवा के कार्य करता हुआ, अत्यन्त नम्रता एवं सरलतापूर्वक निष्कपट भाव से,
उन लक्षणों वाले तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों की शरण में जाकर आत्मज्ञान के उपदेश
की जिज्ञासा करे, जिनका विवरण गी० अ० २ श्लोक ५५ से ७२ तक स्थित-प्रज्ञ
के वर्णन में, तथा गी० अ० ३ श्लोक १७ से २० तक, व गी० अ० ४ श्लोक
१८ से २४ तक, व गी० अ० ५ श्लोक ७ से १० तक व श्लोक १७ से २८
तक, व गी० अ० ६ श्लोक २९ से ३२ तक समत्वयोगी के वर्णन में, तथा गी०
अ० १२ श्लोक १३ से २० तक भक्त के वर्णन में, तथा गी० अ० १३ श्लोक
७ से ११ तक ज्ञान के वर्णन में, तथा गी० अ० १४ श्लो० २२ से २६ तक
गुणातीत के वर्णन में, तथा गी० अ० १६ श्लो० १ से ३ तक में दैवी सम्पत्ति के
वर्णन में किया गया है; क्योंकि (सर्वभूतात्मैक्य) आत्म-ज्ञान अपने-आपके अनुभव
और उस अनुभव से सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त आचरण करने का विषय
है; इसलिए इसका उपदेश वही तत्त्वज्ञानी महापुरुष दे सकते हैं जिनको स्वयं यह
अनुभव हो गया है, और जो उस अनुभव-युक्त सबके साथ अपनी वास्तविक एकता
के साम्य-भावयुक्त आचरण करके आदर्श दिखाते हैं। परन्तु जिनको ईश्वर, जगत् और
जीव के एकत्व-भाव, अथवा पुरुष और प्रकृति की अभिन्नता, दूसरे शब्दों में सबके
साथ अपनी एकता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उन भेदवादी लोगों के आचरण
सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव युक्त नहीं हो सकते, अतः वे इस विषय का उपदेश नहीं
दे सकते। क्योंकि जो वस्तु जिनके पास होती है वही उसे दे सकता है—जिसके पास
वस्तु होती ही नहीं वह उसे कैसे दे सकता है? इसलिए इस तत्त्व-ज्ञान की
प्राप्ति के लिए, गुरु तलाश करने में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता
[illegible]

अथवा अपनी व्यक्तिगत शान्ति में पड़े रहना अथवा अपने व्यक्तिगत सुखों के लिए ही चेष्टाएँ करना तो जड़ पदार्थों और पशु-पक्षियों का भी स्वाभाविक धर्म है, परन्तु मनुष्य की देह में यही तो विशेष योग्यता है कि वह दूसरों के साथ सहयोग करके सबके हित के लिए, समाज और जगत् के धारणार्थ व्यवहार करे। ऐसा करने से ही वह सब प्रकार की उन्नति करता हुआ, सबकी एकता का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर, अपने असली स्वरूप—शान्ति-तुष्टि-पुष्टिरूप परमात्म-भाव में स्थित हो जाता है। जो लोग मूढ़ता वश निरुद्यमी होकर उपरोक्त लोकसंग्रह के कर्म नहीं करते, किन्तु आलस्य और प्रमाद में अथवा व्यक्तिगत शान्ति में पड़े रहते हैं, अथवा केवल अपने व्यक्तिगत सुखों के लिए ही दौड़-धूप करते रहते हैं, अथवा मरने के बाद विषय-सुख अथवा मोक्ष की प्राप्ति की आशा लगाये बैठे रहते हैं, वे किसी भी योग्य नहीं रहते। जब कि मनुष्य देह में सब प्रकार के साधन और योग्यताओं के होते हुए भी वे अपने असली स्वरूप=परमात्म-भाव में स्थिति नहीं कर सकते और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकते हैं—जड़ पदार्थों और पशु-पक्षियों की तरह आयु व्यतीत कर देते हैं—तो फिर मरने के बाद क्या कर सकेंगे? जो लोग तामस ज्ञान से आलस्य और प्रमाद के वश निरुद्यमी बने रहते हैं, वे इस जन्म में तो जड़ पदार्थों की तरह दूसरों से पद-दलित रहते हैं, और मरने के बाद जड़ (स्थावर) सृष्टि में जा मिलते हैं; तथा जो लोग दूसरों से अपनी पृथक्ता के राजस ज्ञान से केवल अपने ही स्वार्थों के लिए उद्योग करते हुए दूसरों के स्वार्थों को हानि पहुँचाते हैं, वे इस जन्म में तो दूसरों के आधीन होकर अपने सब स्वत्व एवं अधिकार खो देते हैं एवं दूसरों से सताये जाते हैं, और मरने के बाद पशु-पक्षियों की योनि धारण करते हैं, जहां कुछ भी उन्नति करने की योग्यता नहीं रहती। सारांश यह कि जो लोग अपने शरीरों की स्वाभाविक योग्यता के कर्म, लोक-संग्रह के लिए नहीं करते, उनका यह लोक तथा परलोक, दोनों बिगड़ जाते हैं।

यद्यपि उक्त लोक-संग्रह के सांसारिक व्यवहार करने से मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति तो अवश्य होती है, परन्तु पूर्ण पद की प्राप्ति अर्थात् साम्यी स्थिति तब ही होती है, जब कि सबके साथ अपनी एकता का दृढ़ ज्ञान हो जाता है, और उक्त दृढ़-ज्ञानयुक्त सब प्रकार के व्यवहार लोक-संग्रह के लिए स्वतः ही होने लगते हैं, क्योंकि कोरे शारीरिक अथवा मानसिक कर्मों की अपेक्षा बुद्धि द्वारा विचार करके किये जाने वाले कर्मों की योग्यता अधिक होती है, और बुद्धि जब सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में होती है, तब सभी कर्म अकर्म-रूप हो जाते हैं और वही निर्द्वन्द्व साम्यी है।

यह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान तब प्राप्त होता है, जब कि मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने जाति, कुल, देश, वर्ण, आश्रम, पद, प्रतिष्ठा, धन, ऐश्वर्य, कुटुम्ब, परिवार, विद्या, बुद्धि, बल, कार्य-कुशलता, रूप, यौवन, सभ्यता, सदाचार, धर्म, सम्प्रदाय, भजन, कीर्तन, पूजा, पाठ, जप, दान, कर्म-काण्ड, परोपकार, त्याग, वैराग्य एवं संन्यास आदि सभी प्रकार की शारीरिक उपाधियों के अभिमान से रहित होकर, लोक-सेवा के कार्य करता हुआ, अत्यन्त नम्रता एवं सरलतापूर्वक निष्कपट भाव से, उन लक्षणों वाले तत्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों की शरण में जाकर आत्मज्ञान के उपदेश की जिज्ञासा करे, जिसका विवरण गी० अ० २ श्लोक ५५ से ७२ तक स्थित-प्रज्ञ के वर्णन में, तथा गी० अ० ३ श्लोक १७ से ३० तक, व गी० अ० ४ श्लोक १८ से २४ तक, व गी० अ० ५ श्लोक ७ से १० तक व श्लोक १७ से २८ तक, व गी० अ० ६ श्लोक २९ से ३२ तक समत्वयोगी के वर्णन में, तथा गी० अ० १२ श्लोक १३ से २० तक भक्त के वर्णन में, तथा गी० अ० १३ श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान के वर्णन में, तथा गी० अ० १४ श्लो० २२ से २६ तक गुणातीत के वर्णन में, तथा गी० अ० १६ श्लो० १ से ३ तक में दैवी सम्पत्ति के वर्णन में किया गया है; क्योंकि (सर्वभूतात्मैक्य) आत्म-ज्ञान अपने-आपके अनुभव और उस अनुभव से सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त आचरण करने का विषय है; इसलिए इसका उपदेश वही तत्त्वज्ञानी महापुरुष दे सकते हैं जिनको स्वयं यह अनुभव हो गया है, और जो उस अनुभव-युक्त सबके साथ अपनी वास्तविक एकता के साम्य-भावयुक्त आचरण करके आदर्श दिखाते हैं। परन्तु जिनको जीव, जगत् और ब्रह्म के एकत्व-भाव, अथवा पुरुष और प्रकृति की अभिन्नता, दूसरे शब्दों में सबके साथ अपनी एकता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, उन भेदवादी लोगों के आचरण सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव युक्त नहीं हो सकते, अतः वे इस विषय का उपदेश नहीं दे सकते। क्योंकि जो वस्तु जिसके पास होती है वही उसे दे सकता है—जिसके पास वो वस्तु होती ही नहीं वह उसे कैसे दे सकता है? इसलिए इस तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए, गुरु तलाश करने में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। जब तक उपरोक्त लक्षणों वाला सच्चा तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी गुरु न मिले, तब तक यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी तरह जब तक उपदेश लेने वाला भी अपने शरीर की उपाधियों के बड़प्पन का अभिमान रखता है तब तक उसे यह उपदेश नहीं मिल सकता, क्योंकि वह अपने को दूसरों से बड़ा और ऊंचा मानता है, इसलिए वह जन-साधारण से अलग रहता है, और तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के सत्संग में जहां छोटे-बड़े ऊंच-नीच

कुलीन-अकुलीन, धनी-निर्धन, पवित्र-पतित आदि किसी भी प्रकार के भेद बिना सबके साथ समानता का बर्ताव होता है, वहाँ जाना और उनके सामने नम्रता प्रकट करना वह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझता है; और इस तरह के देहाभिमानी लोगों में सेवा-भाव का तो प्रायः अभाव ही होता है।

दूसरी तरफ आत्मज्ञानी महापुरुषों को न तो धन की परवाह होती है, न मान की, और न उन्हें किसी भी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक विषय-सुखों अथवा सेवा-शुश्रूषा की इच्छा होती है; क्योंकि वे अपने-आप में परिपूर्ण होते हैं। उनको न किसी से राग होता है न द्वेष; वे न किसी का भय करते हैं, न किसी की खुशामद। वे तो सम-द्रष्टा होते हैं, अतः सबको एक समान उपदेश देते हैं। परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्त उपरोक्त देहाभिमानी लोग, यदि कभी उनके पास जाते हैं तो वहाँ किसी भी प्रकार का मूल्य चुकाये बिना, अर्थात् धन की भेंट अथवा शरीर से सेवा किये बिना, तथा किसी भी प्रकार के तप आदि के कष्ट भोगे बिना मिलने वाले समत्व-योग के उपदेशों में न तो उनकी श्रद्धा होती है और न वे उन्हें अच्छी तरह समझ कर धारण ही कर सकते हैं; क्योंकि जो घट स्थूल एवं भारी पदार्थों से भरा होता है, उसमें सूक्ष्म एवं हलकी वस्तु समा नहीं सकती। इस तरह के देहाभिमानी लोगों की राजस-तामस अन्ध-श्रद्धा तो नाशवान् एवं तुच्छ शारीरिक सुखों तथा धन, मान, कुटुम्ब आदि की प्राप्ति कराने और मरने के बाद स्वर्ग में ले जाने, अथवा अपने से भिन्न ईश्वर के निकट पहुँचाने रूपी मुक्ति आदि के सब्जबाग दिखाने वाले भेद-वाद के शास्त्रों के रोचक वचनों में ही होती है (गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४); और ऐसे लोगों का मन भी एक निश्चय पर नहीं ठहरता, किन्तु सदा संशय-ग्रस्त ही रहता है, इसलिए न तो उनको इहलौकिक अभ्युदय प्राप्त होता है और न पारलौकिक सुख-शान्ति ही। क्योंकि इस जन्म में जिसकी जिन विषयों में आसक्ति रहती है और जिन वासनाओं में वह उलझा रहता है, मरने के बाद उनके अनुसार ही उसके लिए बनाव बन जाते हैं। सारांश यह कि जब इसी जन्म में सुख-शान्ति प्राप्त होने का नकद सौदा हाथ न लगा, तो मरने के बाद परलोक का उधार सौदा क्या हाथ लगेगा?

इसलिए भगवान् अर्जुन को निमित्त करके सबको कहते हैं कि तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी महापुरुषों के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुन कर, उसे अच्छी तरह विचारपूर्वक धारण करके, उसके अनुसार एकता के ज्ञान-युक्त अपने-अपने शरीरों की योग्यता के व्यवहार, संशय-रहित होकर उत्साह और तत्परता पूर्वक करने में सदा प्रवृत्त रहना चाहिए। इस तरह आचरण

करते-करते काल पाकर जब दृढ़ अभ्यास हो जाता है, तब अपने वास्तविक स्वरूप सर्वभूतात्मैक्य-भाव में पूर्ण रूप से स्थिति हो जाती है, फिर उस जीवन्मुक्त अवस्था की साक्षी स्थिति से कभी पतन नहीं होता और न अपने कर्तव्याकर्तव्य के विषय में कभी मोह ही होता है किन्तु लोक-हित के सांसारिक व्यवहार पूर्ण-रूप से स्वतः ही होते रहते हैं। इस स्थिति में कर्मों का पाप-पुण्य रूप कोई बन्धन भी नहीं रहता, क्योंकि सब कर्म अपने-आपके एकत्व-भाव में लय हो जाते हैं। अपने से भिन्न कर्मों का कर्तृत्व ही नहीं रहता।

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

पांचवाँ अध्याय

जब किसी मनुष्य के चित्त में मोह-वश कोई बात जम जाती है अथवा कोई मत बँध जाता है तो उसका बदलना बहुत कठिन हो जाता है। उसके विरुद्ध उसे जो भी कुछ कहा जाता है, उसमें उसे संशय बना रहता है और अपने मन में जमी हुई बात को सहसा बदलने को उसका दिल नहीं चाहता। अर्जुन के चित्त में यह बात जम गई थी कि लड़ाई जैसे घोर—हिंसात्मक कर्म से अपने स्वजन-बान्धवों की हत्या करवा कर अपना क्षात्र-धर्म पालन करने की अपेक्षा, सब-कुछ छोड़-छाड़ कर, अर्थात् संन्यास लेकर, भीख माँग के खाना अच्छा है; इसलिए दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में भगवान ने जो समत्व योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का स्पष्ट विधान किया, उसमें उसे संशय बना रहा।

संशय बना रहने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से कर्म करने का सिद्धान्त इतना सूक्ष्म एवं गहन है कि उसका अच्छी तरह हृदयंगम हो जाना सहज नहीं है। इसलिए बहुत से लोगों को कर्म (सांसारिक व्यवहार) करने में तो कर्तव्याकर्तव्य, विहित-निषिद्ध, पुण्य-पाप आदि के विचार, तथा शारीरिक कष्ट एवं परिश्रम आदि अनेक प्रकार के झंझट और बखेड़े प्रतीत होते हैं, परन्तु कर्मों को छोड़ कर संन्यास ले लेने पर उन्हें सब झगड़ों और बखेड़ों से रिहाई मिल जाने, तथा परमज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त हो जाने की विश्वासपूर्ण आशा बनी रहती है, अतः कर्म करना छोड़ कर संन्यास ले लेने की तरफ़ उनका झुकाव सहज ही अधिक होता है। अतएव कर्म-संन्यास और कर्म-योग का तुलनात्मक विवेचन करके कर्म-योग की विशेषता और उसके महत्त्व आदि का अधिकाधिक स्पष्टीकरण करने तथा उसे बार-बार समझाने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। इसी अभिप्राय को लेकर इस (पाँचवें) अध्याय के प्रथम श्लोक में अर्जुन का प्रश्न है, जिसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण आगे के अध्यायों में कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग की विशेषता और उसकी आवश्यकता पर फिर से ज़ोर देते हुए, सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने की व्यवस्था और उसका महत्त्व तथा उस ज्ञान सहित साम्य-भाव से कर्म [illegible]

व्यवहार करने वाले समत्वयोगियों के लक्षण, उनके आचरण एवं उनकी ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करने के साथ-साथ सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान की प्राप्ति और उसमें स्थिति के साधन आदि विषयों का निरूपण विविध प्रकार से विस्तारपूर्वक करते हैं।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे कृष्ण ! आप कर्मों के संन्यास की और फिर (कर्म) योग की प्रशंसा करते हो; इन दोनों में से जो एक वास्तव में श्रेयस्कर हो, वही मुझे अच्छी तरह निश्चय करके बतलाइए (१)। श्री भगवान् बोले कि (यद्यपि) संन्यास और कर्म-योग, दोनों ही निःश्रेयस्कर हैं, परन्तु इन दोनों में से कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग ही की विशेषता है, अर्थात् कर्म-योग ही अधिक श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह कि निःश्रेयस अर्थात् आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति तो ज्ञानसहित सन्यास से, अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर घर-गृहस्थी से अलग होकर तथा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कर्म छोड़ कर आध्यात्मिक विचार में लगे रहने से, और ज्ञानसहित कर्म-योग से, अर्थात् गृहस्थी में रहते हुए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव युक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सांसारिक व्यवहार करते रहने से—दोनों ही से होती है, परन्तु कर्म-योग की यह विशेषता है कि इसमें

अभ्युदय अर्थात् आधिभौतिक सुख-समृद्धि और निःश्रेयस अर्थात् आध्या
कल्याण, दोनों ही प्राप्त होते हैं। संन्यास-निष्ठा में जगत् की भौतिकता को
एवं तुच्छ समझ कर उसका तिरस्कार किया जाता है, इसलिए उसमें आधिभौ
अर्थात् इस लोक की उन्नति कुछ भी नहीं हो सकती; परन्तु कर्म-योग-निष्ठा
सारे जगत् को एक आत्मा अथवा अपने-आप के अनेक कल्पित रूप होने के निर
युक्त, नामरूपात्मक भिन्नताओं को मिथ्या और सबकी एकता को सत्य मानते
सांसारिक व्यवहार किये जाते हैं, इसलिए इसमें आधिभौतिक और आध्यात्मि
दोनों प्रकार की उन्नति करने की योग्यता रहती है। इस त्रिगुणात्मक जगत् के सेव
में दोनों ही आवश्यक हैं, तथा आधिभौतिक उन्नति के बिना आध्यात्मिक उन्नति
हो भी नहीं सकती, इसलिए कर्म-योग ही की विशेषता है (२)। जो न द्वेष करता
है और न आकांक्षा (अभिलाषा) रखता है, उसे नित्य संन्यासी समझना
चाहिए, अर्थात् वही सच्चा संन्यासी है, क्योंकि हे महाबाहो! द्वन्द्वों से रहित
हुआ वह सहज ही बन्धन से छूट जाता है। तात्पर्य यह कि जगत् की पृथक्ता को
सच्ची मान कर कर्मों से द्वेष करके, गार्हस्थ्य को छोड़ कर वनवासी हो जाने से,
अथवा एक वेष और एक नाम को छोड़ कर दूसरे वेष और दूसरे नाम को ग्रहण
कर लेने से सच्चा संन्यास नहीं होता; किन्तु राग-द्वेष, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख,
ग्रहण-त्याग, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ, बन्ध-मोक्ष आदि सब प्रकार
के द्वन्द्वों से ऊपर उठने, यानी भिन्नता के भावों में एकता के अनुभवपूर्वक आचरण
करने से ही सच्चा संन्यास होता है और उसी से सब प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति
होती है। वेष का संन्यासी तो घर छोड़ कर वनवासी होने पर होता है,
परन्तु द्वैत-भाव को छोड़ कर एकत्व-भाव से आचरण करने वाला जीवनमुक्त
समत्वयोगी सदा ही संन्यासी होता है (३)। सांख्य, अर्थात् घर-गृहस्थी
से अलग होकर अध्यात्म-विचार में लगे रहने की संन्यास-निष्ठा, और योग, अर्थात्
घर-गृहस्थी में रहते हुए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करने की
कर्म-निष्ठा को बेसमझ अर्थात् अज्ञानी लोग पृथक्-पृथक् कहते हैं; पंडित अर्थात्
ज्ञानी (ऐसा) नहीं (कहते)। जो दोनों में से किसी (एक निष्ठा) में भी पूर्णतया
स्थित हो जाता है, उसे दोनों का फल मिल जाता है (४)। जिस स्थान को
सांख्य (संन्यास-निष्ठा वाले) प्राप्त होते हैं, वही योगी (कर्म-निष्ठा वाले) भी
जाते हैं, जो सांख्य अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञानयुक्त संन्यास-निष्ठा और योग
अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव युक्त कर्म-निष्ठा की एकता देखता है अर्थात् जो
में अभेददर्शी है वही (वास्तव में) देखता है, यानी वही यथार्थदर्शी है (५)
परन्तु हे महाबाहो! कर्म-योग के बिना अर्थात् साम्य भाव से घर-गृहस्थी के

व्यवहार किये बिना संन्यास की प्राप्ति बहुत ही दुःख से होती है अर्थात् अत्यन्त कठिन है; कर्म-योग में लगा हुआ मुनि (विचारशील मनुष्य) तुरन्त ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है (१)। श्लोक ४ से ६ तक का तात्पर्य यह है कि सबके साथ अपनी एकता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य, चाहे सबके हित के लिए यानी लोक-संग्रह के लिए गृहस्थ के स्वांग में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सांसारिक व्यवहार करे, अथवा संन्यासी के स्वांग में आध्यात्मिक विचारों में लगा रहे तथा उनके प्रचार आदि का कार्य करे, दोनों की योग्यता एक समान है; स्वांग दोनों ही एक समान कल्पित होते हैं; शरीर दोनों के स्वभाव से ही क्रियाशील होते हैं, अतः शारीरिक चेष्टाएँ दोनों ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार लोक-संग्रह के लिए करते रहते हैं; सबकी एकता का आत्मज्ञान दोनों को एक समान होता है, अतः दोनों को एक ही स्थिति अथवा पद प्राप्त है, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के आत्मानुभव की ब्राह्मी स्थिति दोनों को एक ही है, और यदि दूसरों से अपनी पृथक्ता के राजस ज्ञान से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए गृहस्थी के व्यवहार किये जायँ अथवा उनका त्याग करके संन्यास लिया जाय, उस दशा में दोनों ही एक समान बन्धन-रूप एवं दुःखदायी हैं। इसलिए तत्त्वतः संन्यास और कर्म-योग में कोई अन्तर नहीं है। जो इस अभेद-तत्त्व को ठीक-ठीक जानते हैं वे ही सच्चे ज्ञानी हैं। वे ग्रहण अथवा त्याग किसी में भी आसक्ति नहीं रखते, अतः शरीरों के स्वाभाविक व्यवहार छोड़ने का प्रश्न उनके नजदीक उपस्थित नहीं होता। सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थिति हुए बिना वास्तविक संन्यास नहीं होता और उक्त साम्य-भाव में स्थिति के सरल साधन गृहस्थी के व्यवहार ही हैं। गृहस्थ अपने पर निर्भर रहने वाले कुटुम्बी जनों तथा अन्य सम्बन्ध रखने वालों को अपना मान कर उनके लिए उद्यम करता है, जिससे उसके व्यक्तित्व का भाव कम होकर एकता का अभ्यास बढ़ता है और उसके चित्त में आत्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होने के कारण भी उत्पन्न होते रहते हैं (गी० अ० ६ श्लो० ३ देखिए), तथा मन, इन्द्रियों और शरीर के प्राकृतिक वेग शान्त करने के साधन सहज ही उपलब्ध होने के कारण उसे मन को टिकाने (संयत करने) में भी सुभीता रहता है। अतः अभ्यास करते-करते क्रमोन्नति करता हुआ समय पाकर वह सबके साथ अपनी एकता का पूर्णतया अनुभव प्राप्त कर सकता है और तब वह ब्रह्मरूप हो जाता है, परन्तु अज्ञान अथवा अल्पज्ञान की दशा में संन्यास का स्वांग धारण कर लेने पर फिर सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में स्थिति होना महान् दुर्लभ होता है; क्योंकि संन्यास का स्वांग धारण कर लेने मात्र ही से मन और इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म नष्ट नहीं हो जाते, अतः प्राकृतिक वेग शान्त करने के साधन उपलब्ध न होने

के कारण जब मन और इन्द्रियां चंचल हो जाती हैं तब वे अनेक प्रकार के प्रलोभनों में फँस कर बहुत अनर्थ करती हैं। सारांश यह कि गंभीरता से विचार करने पर कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है (४-६)। सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ा हुआ, (एवं दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से रहित) शुद्ध अन्तःकरण वाला, मन पर विजयप्राप्त, इन्द्रियजीत पुरुष सब भूतों का आत्मभूत—आत्मा होता है, अर्थात् अपने-आपको सारे जगत् में और सारे जगत् को अपने में अनुभव करता है, (अतः वह जगत् के सब प्रकार के व्यवहार) करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव होने से आत्मज्ञानी कर्मयोगी के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं इन्द्रियों आदि का इतना संयम हो जाता है कि कर्मों में उसकी आसक्ति नहीं रहती और कर्ता, कर्म, करण आदि त्रिपुटियों में वह अभेद देखता है, इसलिए कर्तापन का अहंकार उसके अन्तःकरण में नहीं रहता, अतः वह सब कुछ करता हुआ भी वास्तव में अकर्ता ही रहता है (७)। उपरोक्त समत्व-योग में जुड़ा हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता अथवा देता हुआ, ग्रहण करता अथवा लेता हुआ, आँखें खोलता और मूँदता हुआ भी यही मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, इन्द्रियाँ इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) में बर्त रही हैं, यही धारणा रखता है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र एकता के भाव में स्थिति हो जाने से तत्त्वज्ञानी समत्वयोगी की दृष्टि में इन्द्रियाँ और उनके विषय एक ही वस्तु अर्थात् आत्मा अथवा अपने-आपके अनेक रूप होते हैं और आत्मा अथवा अपने-आपको वह उन कल्पित रूपों का आधार अर्थात् उनकी असलियत अथवा वास्तविकता मानता है, इसलिए अपने उन कल्पित बनावों में उसकी आसक्ति नहीं होती। इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यवहारों में न तो उसको अपने व्यक्तित्व का अहंकार होता है और न उसे किसी विषय में सुख-प्राप्ति की आकांक्षा ही रहती है। इसलिए उसकी इन्द्रियों से स्वाभाविक व्यवहार होते हुए भी उनसे किसी तरह के अनर्थ नहीं होते और न उसे इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यवहार त्याग देने की आवश्यकता ही रहती है *। (८-९) कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके अर्थात् कर्मों को सबके अपने-आप = आत्मा से अभिन्न समझ कर, उनमें सङ्ग अर्थात् कर्ता और कर्म की पृथकता की आसक्ति से रहित होकर, जो (उन्हें) करता है वह पापों

* गी० अ० [illegible] श्लो० [illegible] से [illegible] के भाष्यकार ने विवेचन के आचरण का खुलासा देखिए

से उसी तरह अलिप्त रहता है जिस तरह कमल का पत्ता जल से। तात्पर्य यह कि जो कर्ता, कर्म, करण आदि में सबके एकत्व-भाव—ब्रह्म अथवा सबके अपने-आपको देखता है (गी० अ० ४ श्लो० २४), वह अभेददर्शी समत्वयोगी दूसरों से पृथक् अपने कर्तापन के व्यक्तित्व का अहंकार नहीं रखता, अतः वह यदि लोक-संग्रह के लिए हिंसा आदि पापरूप प्रतीत होने वाले कर्म भी करता है तो भी पापों से सर्वथा रहित रहता है, क्योंकि पाप-पुण्य आदि की संभावना भेद-बुद्धि से व्यक्तित्व के अहंकार युक्त व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर्म करने पर ही होती है; परन्तु जहाँ अपने से भिन्न कुछ रहता ही नहीं वहाँ पाप-पुण्य के लिए अवकाश नहीं रहता (१०)। समत्वयोगी लोग संग अर्थात् व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए शरीर से, मन से, बुद्धि से अथवा केवल इन्द्रियों से भी कर्म किया करते हैं। तात्पर्य यह कि आत्मज्ञानी समत्वयोगी शरीर के स्वाभाविक कर्म अर्थात् लोक-संग्रह के सांसारिक व्यवहार छोड़ कर, एवं निरुद्यमी बन कर दूसरों पर अपने जीवन-निर्वाह का बोझ डालने, और साथ ही साथ गृहस्थाश्रम, जो सबका उत्पादक और पालक है, उसे दुःखरूप समझ कर हठात् उसका तिरस्कार करने रूपी भेद-भाव की मलिनता से अपने अन्तःकरण को दूषित नहीं करते, किन्तु शरीर के जिस अङ्ग की जैसी स्वाभाविक योग्यता होती है उसीके अनुसार उसके द्वारा सांसारिक व्यवहार लोक-संग्रह के लिए व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर करते रहते हैं जिससे उनका अन्तःकरण उक्त द्वैतभाव रूपी मलिनता से रहित—निर्मल रहता है (११)। युक्त अर्थात् सबके साथ अपनी एकता के साम्य-भाव में स्थित कर्मयोगी कर्मफल को त्याग कर नैष्ठिकी अर्थात् अटल शान्ति को प्राप्त होता है; (परन्तु) अयुक्त अर्थात् जो एकता के साम्य-भाव में स्थित नहीं हुआ है वह अज्ञानी पुरुष कामना करके फल में आसक्त हुआ बन्धायमान होता है। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले समत्वयोगी को अपने आपकी परिपूर्णता का अनुभव रहता है, इसलिए उसके अपने पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ कहीं अन्यत्र से सिद्ध करने बाकी नहीं रहते, अतः उसके अन्तःकरण में कभी अशान्ति नहीं होती, किन्तु उसकी स्वाभाविक शान्ति सहज ही बनी रहती है; परन्तु एकता के ज्ञान से अज्ञान व्यक्ति कहीं बाहर से प्राप्त करने की कामना रखने वाले का अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में आसक्त रहता है इसलिए वह सदा कामनाओं के बन्धन में बंधा रहता है (१२)। नियामक देही अर्थात् मन बुद्धि चित्त, अहङ्कार तथा इन्द्रियादि सबका राजा एवं सबको धारण करने वाला सबका आत्मा अपने सब कर्मों का मन से सन्यास करके न कुछ करता हुआ

है और वे उस पद को पहुँचते हैं जहां से लौटना नहीं होता (१७)। श्लो० ११ से १७ तक का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान से शून्य लोगों को यह मिथ्या विश्वास रहता है कि अपने से भिन्न परमात्मा अथवा ईश्वर कर्मों को रच कर उनके पीछे लगा देता है और उन कर्मों के अच्छे-बुरे फल उनको देता है, इसलिए वे परवशता से कर्मों के बन्धनों में बंधे हुए दुःख पाते हैं और पुण्य अथवा पाप के फल भोगते हैं। भगवान् कहते हैं कि लोगों का यह कोरा भ्रम है। सर्वात्मा = परमात्मा किसी व्यक्ति के लिए विशेष कर्म और उन कर्मों का कर्तापन तथा उन कर्मों के अच्छे-बुरे फलों की प्राप्ति का आयोजन नहीं करता; किन्तु लोग अपने-अपने स्वभाव से अर्थात् अपने पृथकता के भाव से ही अपने लिए कर्म और उनका कर्तापन और उनके अच्छे-बुरे फल उत्पन्न करके अपने-आपको उनसे बंधा हुआ और सुखी अथवा दुःखी मानते हैं। वास्तव में परमात्मा अथवा ईश्वर लोगों से भिन्न तो है ही नहीं कि जो कहीं अलग बैठा हुआ उनके लिए कर्मों और उनकी कर्तव्यता और उनके फल की योजना करता रहे। सबका आत्मा अर्थात् सबका समष्टि-भाव ही परमात्मा अथवा ईश्वर है, इसलिए कर्म और कर्मों की कर्तव्यता एवं कर्मों के फल की प्राप्ति सबके अपने-आपकी ही रचना होती है। पाप, पुण्य, दुःख, सुख, बन्धन, मोक्ष आदि भी सब अपने अपने स्वभाव अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के भाव की ही रचनाएँ होती हैं, किसी दूसरे की नहीं। जब तक अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से पृथक् व्यक्तित्व का भाव बना रहता है, तब तक यह भ्रम बना रहता है कि कर्मों का रचने वाला अपने से भिन्न कोई दूसरा है; पर जब अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् सबकी एकता का ज्ञान होकर सर्वात्म-भावरूपी परमतत्त्व में पूर्णतया स्थिति हो जाती है, तब कर्ता, कर्म और कर्म-फलादि सबकी एकता हो जाती है, अर्थात् सबका अपने-आप में समावेश हो जाता है, तब न कोई पाप रहता है न कोई पुण्य, न सुख रहता है न दुःख, न कोई बन्धन रहता है न मोक्ष, और न कुछ ग्रहण करने को रहता है और न त्यागने को। सब अपने-आप के ही अनेक रूप हो जाते हैं। उस स्थिति पर आरूढ़ होने से फिर द्वैतभाव का मोह कभी उत्पन्न नहीं होता। सारांश यह कि जो लोग कर्म करने और उनके फल भोगने में पूर्ण रूप से परतन्त्रता मानते हैं और अपने से भिन्न किसी दूसरी शक्ति पर निर्भर रह कर परावलम्बी, निरुद्यमी एवं उत्साहहीन बने रहते हैं, वे मोह (भ्रम) में पड़े हुए अपना पतन करते हैं। मनुष्य सब आप ही करता है और आप ही भोगता है। अपने भाग्य का विधाता वह स्वयं आप ही है (गी० अ० ४ श्लो० ११-१४ और अ० ६ श्लो० ५-६ का स्पष्टीकरण देखिए) (१४ से १७)

लोग सांसारिक व्यवहारों को दुःख एवं बन्धनरूप मान कर, अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति की प्राप्ति के उद्देश्य से, घर-गृहस्थी को छोड़ कर संन्यास का स्वांग धारण कर लें तो वह वास्तविक संन्यास नहीं होता, किन्तु ऐसे लोग उभयभ्रष्ट हो जाते हैं और समाज की सुव्यवस्था बिगाड़ कर बड़े-बड़े अनर्थ करते हैं। शरीर और इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्मों को हठ पूर्वक छोड़ने में सफलता नहीं हो सकती (गी० अ० ३ श्लो० ३३), किन्तु इन्द्रियों को अपने विषयों से जबर्दस्ती रोकने के प्रयत्न में मन की चंचलता उल्टी बढ़ कर बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है; फलतः इस तरह के संन्यास लेने वालों में से अधिकांश का भयंकर पतन हो जाता है और वे लोग उच्छृङ्खलता से अव्यवस्थित भोग भोगने और कुकर्म करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। वर्तमान में यह अत्यन्त शोचनीय अवस्था प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है। एक बार संन्यासी का स्वांग लेने के बाद फिर पीछा गृहस्थ होना तो असम्भव-सा हो जाता है, क्योंकि संन्यासी का पद बहुत ऊँचा, आदरणीय और पूजनीय माना जाता है, इसलिए पीछा गृहस्थ होने में लज्जा, अपमान एवं गिरावट समझी जाती है, तथा फिर वे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के कर्म करने योग्य भी नहीं रहते और गृहस्थों के समाज में उनके लिए कोई स्थान भी नहीं रहता; अतः वे संन्यास ही के स्वांग में रहते हैं। उनमें से जो विद्वान्, चतुर और वाचाल होते हैं वे तो अपनी वाक्पटुता और दंभ (छल) से धर्म, नीति और ज्ञान की थोथी बातें बना-बना कर गृहस्थों, विशेषकर स्त्रियों को रिझाते और उनसे भेंटें लेते हैं, और इस प्रकार धन का संग्रह करके बड़े-बड़े विशाल मठ, मन्दिर, आश्रम आदि बनाते हैं और उनमें सब प्रकार के विषय-भोगों तथा मान-प्रतिष्ठा आदि के अमीरी ठाट के साधनों का संग्रह करते हैं। यद्यपि गृहस्थों की तरह वे एक स्त्री से विधिपूर्वक विवाह नहीं करते, परन्तु गृहस्थों की सैकड़ों बहू-बेटियाँ उनके पास सदा आती-जाती रहती हैं और चेले एवं चेलियों के रूप में उनकी गृहस्थी साधारण गृहस्थों की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत होती है। यदि उनसे कोई पूछता है कि "आप संन्यासी होकर इतना प्रपञ्च क्यों करते हैं?" तो वे यह कह कर टालमटूल कर देते हैं कि हम कुछ नहीं करते, हम शरीर के प्रारब्ध से स्वतः सब कुछ करता रहता है। इस तरह प्रारब्ध की मनगढ़न्त ओट लेकर भोले-भाले लोगों की श्रद्धा जमाये रखते हैं। जो लोग इतने बड़े सामान जुटाने की योग्यता नहीं रखते, वे थोड़े में ही निर्वाह करते हैं। वे लोग गृहस्थों से भिक्षा ले कर अथवा नाना भाँति के धंधे किया से उन्हें ठग ठग कर आलसी जीवन बिताते हैं तथा तम्बाकू, गाँजा आदि के व्यसनों में अपने मनोविनोद के लिए खर्च करने में गृहस्थों के धन का बहुत ही दुरुपयोग करते हैं। यद्यपि वे नाम मात्र के संन्यासी लोग त्याग तो कुछ विशेष नहीं करते और त्यागी संन्यासियों का स्थान हैं और धर्मदान का बड़ी-

आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति से ही सच्ची शान्ति, तृप्ति और तुष्टि प्राप्त होती है। जब तक शरीर की प्राकृतिक आवश्यकताएँ—भूख-प्यासादि—पूरी नहीं होतीं, शरीर बलवान् और आरोग्य नहीं होता तथा मन व्याकुल रहता है, तब तक वह आत्मज्ञान में टिक नहीं सकता। भूखे, दरिद्री, निर्बल एवं रोगी लोगों का चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है, इसलिए वे तत्त्वज्ञान में भी उन्नति नहीं कर सकते (मुण्डकोपनिषद् मु० ३ खं० २ म० ४)। प्राणी मात्र की सबसे पहली आवश्यकता पेट भरने की रहती है। अतः जो लोग यहाँ पर (इसी शरीर में) अभ्युदय (भौतिक उन्नति) नहीं कर सकते अर्थात् भौतिक दृष्टि से अवनत दशा में रहते हैं, उनका पारमार्थिक (आध्यात्मिक) कल्याण होना बहुत ही कठिन होता है। यद्यपि संन्यास-निष्ठा भौतिक उन्नति की सर्वथा अवहेलना करती है, परन्तु भूख, प्यास, शीत, ताप आदि शरीर के विकार संन्यासी के भी छूट नहीं जाते, अतः इनकी निवृत्ति के लिए उसे गृहस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है और इस तरह के परावलम्बन में चित्त सर्वथा उद्वेग रहित नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन उपलब्ध न होने पर संन्यासी को अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, और संन्यासाश्रम की उच्चता के अहङ्कार के कारण मानापमान के विचार भी समय-समय पर उसके चित्त को विक्षिप्त करते रहते हैं।

परन्तु घर-गृहस्थी में रह कर सांसारिक व्यवहार करने वाले मनुष्य के लिए उपरोक्त कठिनाइयाँ नहीं रहतीं और न इस प्रकार पतन की ही आशंका रहती है, क्योंकि वह अपने और अपने ऊपर निर्भर रहने वाले लोगों के जीवन-निर्वाह के लिए पूर्वकथित वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अपने शरीर की योग्यता के माफिक व्यवहार करता रहता है, जिससे उसे अपने जीवन निर्वाह के लिए दूसरों पर निर्भर रहना नहीं पड़ता, किन्तु स्वावलम्बन और उद्यमशीलता से वह केवल अपनी ही शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी करके तथा केवल अपनी ही भौतिक उन्नति करके सन्तोष नहीं करता, किन्तु अपनी योग्यता के तारतम्यानुसार दूसरों की शरीर-यात्रा और सामूहिक उन्नति में भी सहायक होता है। इस तरह कर्तव्यपरायणता और आपस के सहयोग के फलस्वरूप जो भोग्य पदार्थ उसे उपलब्ध होते हैं उन्हें व्यवस्थित रूप से भोग कर वह अपने मन और इन्द्रियों के वेगों को शान्त करता है जिससे उनके उच्छृङ्खल होने की सम्भावना कम रहती है। साथ ही उसे अपने कुटुम्ब और बन्धुजनों से अपनी आत्मीयता अथवा एकता का निश्चय बना रहता है और उस आत्मीयता अथवा एकता के निश्चयपूर्वक वह उनके लिए उद्यम करता है, जिससे उसके पृथक व्यक्तित्व का भाव कम होकर उन सबके साथ एकता के भाव बढ़ाने और व्यक्तिगत

स्वार्थ त्यागने में सहायता मिलती है। सारांश यह कि गृहस्थी में रह कर सांसारिक व्यवहार करने वाले मनुष्य को अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में सुविधा रहती है। परन्तु, जो लोग व्यवस्थितरूप से उपरोक्त कर्म-योग का अभ्यास करते हैं, उनके चित्त में समय पाकर आत्मज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और उस तरफ़ लगने पर शनैः-शनैः क्रमोन्नति करते हुए जब उनकी सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में पूर्ण स्थिति हो जाती है, तब वे समत्वयोगी अपने को सबमें और सबको अपने में अनुभव करने रूपी ब्रह्म-भाव में स्थित हो जाते हैं और स्वेच्छा से सब प्रकार के आचरण स्वतन्त्रतापूर्वक करते हुए भी पूर्ण रूप से अलिप्त और अकर्ता बने रहते हैं।

बहुत से लोगों का यह अनुमान है कि आत्मज्ञानी पुरुष के शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि की सारी चेष्टाएँ छूट जाती होंगी; परन्तु उनका यह अनुमान गलत है। आत्मज्ञानी पुरुष भी साधारण लोगों की तरह बुद्धि से विचार करता है, मन से संकल्प करता है, चित्त से चिन्तन करता है, अहङ्कार से अहङ्कार करता है, आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, नाक से सूँघता है, मुख से खाता है, जीभ से स्वाद लेता है, वाणी से बोलता है, त्वचा से स्पर्श करता है, हाथों से लेना-देना और काम करता है, पैरों से चलता है, गुह्य इन्द्रियों से मल-मूत्र त्यागता है, इत्यादि। सारांश यह कि वह सभी तरह की चेष्टाएँ अन्य मनुष्यों की तरह ही करता है, परन्तु अज्ञानी मनुष्य की और उसकी चेष्टाओं में इतना अन्तर रहता है कि अज्ञानी अपने को मन, बुद्धि और इन्द्रियों का संघातरूप शरीर मात्र ही समझता है, इसलिए शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों, विषयों एवं व्यवहारों ही को सब कुछ मान कर उन्हींमें सदा आसक्त एवं तल्लीन रहता है और अनुकूलता-प्रतिकूलता में राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि से उसका चित्त विक्षिप्त एवं अशान्त रहता है; परन्तु ज्ञानी पुरुष मन, बुद्धि और इन्द्रियों आदि को तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों को अपनी रचना समझता है और अपने-आपको उनका आत्मा, उनका आश्रय, उनका नियामक अथवा स्वामी मानता है, अतः वह उनमें आसक्त नहीं होता, किन्तु उनको अपने अधीन रखता है, और उनको अपने-अपने स्वाभाविक धर्मों में लगाये रखता हुआ भी उनके प्रत्येक व्यवहार पर निरन्तर [illegible] है और ऐसा करते हुए भी उनके [illegible] नहीं रहता। जिस तरह एक [illegible] [illegible] और [illegible] से [illegible] हुआ [illegible] करने से [illegible] है और [illegible]

व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, न उसकी किसी व्यक्ति के अच्छे-बुरे आचरणों में राग-द्वेष की आसक्ति रहती है। इसी तरह आत्मज्ञानी पुरुष के मन, बुद्धि और शरीर द्वारा सब प्रकार के व्यवहार सबके साथ एकता के भाव से होते रहते हैं, किसी में भी उसकी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का उद्देश्य नहीं रहता, और न उसे किसी विषय में राग-द्वेष ही रहता है, अतः सब व्यवहार करते हुए भी उसके अन्तःकरण में कोई *विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसकी शान्ति ही भङ्ग होती है।*

बहुत से लोगों को यह संदेह है कि कर्म-रूप जगत् और उसके व्यवहारों को तो जगत् और जीवों से अलग रहने वाले, उन सबके स्वामी ईश्वर ने बनाया है और सब जीवों के कर्तव्य-कर्मों का भी उसी ने निर्माण किया है तथा वही सब प्राणियों को कर्मों में जोड़ता है, एवं कर्मों का फल देने वाला भी वही है, फिर आत्मज्ञानी पुरुष कर्म करने में स्वतन्त्र, अनासक्त, कर्मों का स्वामी, सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता और शुभाशुभ फल से रहित कैसे हो सकता है? उक्त सन्देह को दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं कि लोगों के कर्म, उनकी कर्तव्यता एवं उनके फलादि को, उनसे कोई अलग रहने वाला ईश्वर नहीं रचता, क्योंकि सर्वव्यापक ईश्वर कोई अलग व्यक्ति नहीं है कि जो कहीं अलग बैठ कर कर्म-रूप सृष्टि की रचना, पालन और संहार आदि करता रहे। सबका अपना-आप, सबका आत्मा = परमात्मा अथवा ईश्वर स्वयं ही सृष्टि-रूप एवं जीव-रूप होकर अनेक तरह के स्वांग करता है (गी॰ अ॰ ७ श्लो॰ ४ से ७)। वे स्वांग ही अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं, तथा जिस स्वांग की जैसी योग्यता होती है, *उसी के अनुसार अपने-अपने स्वांग के कर्म और उनकी कर्तव्यता आदि,* वे स्वांग ही स्वयं कल्पित कर लेते हैं। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने स्वभाव से, अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के भाव से अपने लिए कर्मों की कल्पना करता है और आप ही अपने व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के कारण उनका फल उत्पन्न करके आप ही भोगता है। यह बात प्रत्यक्ष है कि कोई भी व्यक्ति अपने स्वार्थों के लिए ईश्वर पर निर्भर रह कर निश्चिन्त नहीं हो जाता किन्तु सब कोई अपने लिए थोड़ा या बहुत उद्योग करते रहते हैं और सब कोई अपने ही कर्मों के फल भोगते हैं। एक के कर्मों का फल कोई दूसरा नहीं भोगता। वास्तव में सर्वव्यापक समष्टि आत्मा, अथवा परमात्मा, अथवा ईश्वर में कर्मों का कर्तापन अथवा भोक्तापन, और पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व कुछ भी नहीं होते; क्योंकि सर्वव्यापक आत्मा के एकत्व-भाव में सभी द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं—किसी का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। कर्ता-भोक्तापन व्यक्तित्व के भाव में है।

का किया है, जो कि सबके साथ अपनी एकता के ज्ञानयुक्त, शरीर और इन्द्रियों के व्यवहार सुव्यवस्थित-रूप से करते हैं; संन्यास का स्वांग करने वालों तथा ज्ञान की थोथी बातें बनाने वालों एवं अपने को ब्रह्म अथवा श्रीकृष्ण अथवा ईश्वर कहने वालों के दुराचारों का निरूपण इन श्लोकों में नहीं है। इसलिए संन्यास का स्वांग धारण करने वाले पाखण्डी तथा आत्मज्ञान की थोथी बातें बनाने वाले एवं अपने को श्रीकृष्ण कह कर भोले लोगों को ठगने वाले दंभी लोगों के लिए अपने कुकर्मों की सफाई देने की इन श्लोकों में कोई गुंजाइश नहीं है।

इसके अतिरिक्त जिनको आत्मज्ञान हो जाता है वे अखिल विश्व को अपने में अनुभव करते हैं, अतः उनको अपने से भिन्न पदार्थों के संयोग से सुख-प्राप्ति की चाह हो ही कैसे सकती है, तथा दूसरों के धन एवं दूसरों की स्त्रियों पर हाथ मारने का विचार उनके मन में उत्पन्न ही कैसे हो सकता है?

जो धूर्त पाखण्डी लोग आत्मज्ञान की बातों की ओट में इस तरह के अत्याचार करते हैं, उनके कुमार्ग में यदि कोई बाधक होता है, अथवा उनका वह चोरी और ठगी का सामान जब कोई दूसरा उड़ा लेता है तब वे लड़ाइयां और मुकद्दमेबाजी करते हैं और तब उनके "अहं ब्रह्मास्मि" की पोल अच्छी तरह खुल जाती है।

× × ×

अब भगवान् उपरोक्त समत्वयोगी की ब्राह्मी स्थिति का वर्णन आगे के श्लोकों में करते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ २६॥

अर्थ—विद्या और विनय (नम्रता) संपन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में और इसी तरह कुत्ते तथा चाण्डाल में (आत्मज्ञानी) विद्वान् पुरुष समदर्शी होते हैं। तात्पर्य यह कि सबके साथ अपनी एकता का अनुभव करने वाले समत्वयोगियों की दृष्टि में विद्वान ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, चाण्डाल आदि ऊंचे, नीचे, मोटे, छोटे, पवित्र, मलिन आदि सभी प्राणियों के विषय में सर्व-भूतात्मैक्य समता (Sameness) का भाव रहता है, क्योंकि वे जानते हैं कि सबका असली तत्त्व यानी सबका मूल आधार—आत्मा एक है, चेतनता सबमें एक समान है, और जिन पंचभूतों के सबके शरीर होते हैं वे पंचभूत भी सबमें एक समान हैं, तथा शरीर सभी एक समान विकारी, परिवर्तनशील एवं उत्पत्तिनाशवान होते हैं, इसलिए तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है। भेद केवल तीन गुणों के तारतम्य अर्थात् कमी-बेशी की विषमता और उससे उत्पन्न होने वाले पारस्परिक संबंध से होता है, सो वे गुण-वैषम्य और उनके संबंध सदा एक-से नहीं रहते, किन्तु निरन्तर बदलते रहते हैं। जिस पदार्थ में कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती है उसीमें कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता हो जाती है, और जिसमें कभी रजोगुण अथवा तमोगुण की प्रधानता होती है उसमें कभी सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाती है (गी० अ० १४ श्लो० १०)। [illegible] दुष्कर्म करने से [illegible] ब्राह्मण भी [illegible] हो जाता है, [illegible] नहीं रहता, [illegible] [illegible] है [illegible]

अवसरों पर पूजनीय होता है, तथा पहरेदार कुत्ते बहुत उपकारी होते हैं, और भगवद्भक्त एवं आत्मज्ञानी चांडाल वंदनीय हो जाते हैं। हिन्दू धर्म छोड़ कर अन्य किसी धर्म को स्वीकार कर लेने से ब्राह्मण का ब्राह्मणपन और चाण्डाल का चाण्डालत्व नहीं रहता किन्तु सब एक-मेक हो जाते हैं। सारांश यह कि गुण-वैचित्र्य और आपस के संबंध, जो बाहरी दृश्य मात्र हैं, उनमें स्थायित्व नहीं होता किन्तु वे बदलते रहते हैं। इसलिए तत्वज्ञानी लोग इन बाहरी कल्पित नामों और रूपों की भिन्नताओं की अपेक्षा उनकी असलियत अर्थात् सबकी एकता जो सदा एकसमान बनी रहती है, उसको अधिक महत्व देते हैं, और सबको एक ही आत्मा यानी अपने-आपके अनेक रूप समझते हुए, किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार एवं छल आदि के दुर्व्यवहार नहीं करते और न किसी को दबा कर उस पर अत्याचार ही करते हैं, किन्तु सबके साथ यथायोग्य समता का बर्ताव* करते रहते हैं (१८)। जिनका मन (उक्त) समता के एकत्व-भाव में स्थित हो जाता है, वे संसार को यहीं (इसी शरीर में) जीत लेते हैं; (और) क्योंकि ब्रह्म ही निर्दोष एवं सम है इसलिए वे ब्रह्म में स्थित रहते हैं। तात्पर्य यह कि द्वैतभाव से उत्पन्न राग, द्वेष आदि सब दोषों से रहित साम्य-भाव (Sameness) ही ब्रह्म है, इसलिए जिनका मन उक्त साम्य-भाव में स्थित हो जाता है, उन्हें मुक्त होने के लिए कोई दूसरा शरीर धारण करके किसी दूसरे लोक-विशेष में जाने की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु वे यहां (इस शरीर में) ही साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं और वे जीवनमुक्त महापुरुष विश्व-विजेता अर्थात् सारे जगत् के स्वामी होते हैं (१९)। जो प्रिय (पदार्थों) को पाकर विशेष हर्षित नहीं होता और अप्रिय (पदार्थों) को पाकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिर-बुद्धि वाला मोहरहित ब्रह्मवेत्ता (समत्वयोगी) ब्रह्म में स्थित है। (पदार्थों और व्यक्तियों के) बाहरी संबंधों में जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं होता, वह अपने अन्तरात्मा में जो सुख है उसे प्राप्त होता है, और वह ब्रह्मभाव में स्थित समत्वयोगी अक्षय सुख अर्थात् नित्यानन्द का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव रूपी ब्रह्म अथवा परमात्मा में स्थित समत्वयोगी का अन्तःकरण सांसारिक भिन्नताओं के बनावों और उनके संबंधों में आसक्त नहीं होता किन्तु उसका लक्ष्य सबके भीतरी एकत्व-भाव पर रहता है अर्थात् वह सब बाहरी बनावों को एक ही आत्मा के अनेक रूप अनुभव करता है, इसलिए अनुकूल पदार्थों अर्थात् शुभ, पवित्र, उच्च कोटि के एवं प्यारे लगने वाले तथा सुखदायक माने जाने वाले पदार्थों

* समता के बर्ताव की विशेष व्याख्या आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

प्रकाशित हो रहा है यानी सबमें एक आत्मा ही के प्रकाश अथवा चमत्कार का अनुभव करता है, वह ब्रह्म-स्वरूप समत्वयोगी ब्रह्म-निर्वाण-पद में स्थित होता है। तात्पर्य यह कि जो समस्त बाहरी नाम-रूपों की कल्पित भिन्नताओं की सची एकता के अनुभव में पूर्ण रूप से स्थित हो जाता है, वह समत्वयोगी द्वन्द्वातीत ब्रह्म-स्वरूप होता है (२४)। जिनका द्वैत-भाव निवृत्त हो गया है और अन्तःकरण को जिनने अपने वश में कर लिया है, वे सब भूत-प्राणियों के हित में लगे रहने वाले निष्पाप ऋषि लोग ब्रह्म-निर्वाण-पद को पाते हैं। तात्पर्य यह कि जिन महापुरुषों के अन्तःकरण का द्वैत-भाव निवृत्त हो जाता है, वे ब्रह्म-निर्वाण-पद में स्थित होकर सब प्रकार के भेद-भाव से रहित सारे भूत-प्राणियों के हित में लगे रहते हैं, अर्थात् उनकी सर्वभूतात्मैक्य-दृष्टि में विशेष और सामान्य, अथवा व्यष्टि और समष्टि का भेद नहीं रहता, क्योंकि वे जानते हैं कि व्यष्टि अर्थात् एक-एक व्यक्ति का योग ही समष्टि अर्थात् सब है, और समष्टि अर्थात् सबमें व्यष्टि अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का समावेश है, इसलिए किसी एक व्यक्ति का अनिष्ट करके सबका हित नहीं हो सकता और न सबका अहित करके किसी एक व्यक्ति का वास्तविक हित हो सकता है, अतः वे व्यष्टि और समष्टि के हित को अन्योन्याश्रित समझते हुए किसी भी प्रकार के भेद बिना प्राणीमात्र के हितार्थ में लगे रहते हैं (२५)। जिनका काम-क्रोध निवृत्त हो गया है तथा जिनने चित्त को अपने वश में कर लिया है, ऐसे आत्म-ज्ञानी यतियों के ब्रह्म-निर्वाण-पद निरन्तर ही निकट रहता है। तात्पर्य यह कि जिन आत्मज्ञानी जितेन्द्रिय महापुरुषों ने मन को वश में करके द्वैत-भाव से उत्पन्न काम-क्रोधादि मलिन भावों को सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान द्वारा क्षीण किया है, वे सदा-सर्वदा ब्रह्म-निर्वाण-पद में स्थित रहते हैं (२६)।

स्पष्टीकरण—श्री भगवान् कहते हैं कि जो आत्मज्ञानी पुरुष होते हैं वे भौतिक शरीरों के बाहरी भेदभाव के बनाव को महत्त्व नहीं देते, किन्तु सब शरीरों को एक ही निर्विकार एवं सम ब्रह्म अथवा आत्मा के अनेक नामों और रूपों का कल्पित बनाव समझकर सबके साथ एकता के साम्य भाव का बर्ताव करते हैं। शरीर चाहे सर्वगुणसम्पन्न ब्राह्मण का हो या एक मेहतर अथवा चाण्डाल का, पवित्र गाय का हो या अपवित्र कुत्ते का, मोटा हाथी का हो या छोटा चींटी का, इनका सबके [illegible] में सदा समदृष्टि रहता है, क्योंकि वे जानते हैं कि [illegible] के बनाव

[illegible]

परन्तु "हुजूर" अभी नहीं जागते हैं। उन्हें जगाने की किसी में हिम्मत नहीं है—खफ़ा होने का डर है—क्योंकि नींद से जागना बहुत ही बुरा लगता है। कुछ समय बाद प्राकृतिक वेग उन्हें जगाते हैं। यद्यपि सुस्ती सी छाई हुई है और सिर में दर्द भी है, तो भी विषयों की आसक्ति फिर उस तरफ़ खींचती है और पहले की तरह राग-रंग होने लगते हैं, परन्तु थकावट के असर से पहले वाला लुत्फ़ नहीं रहता। थोड़ी देर बाद सूर्य भगवान् का प्रकाश रंग फ़ीका करने में मदद देता है। लाचार जलसा बर्ख़ास्त होता है और "हुजूर" को दिनभर लम्बी तान कर पड़े रहना पड़ता है। तब शाम तक नींद लेकर वह तरोताज़ा हो जाता है तब दूसरी रात को फिर विलास करने के योग्य होता है।

यह दृष्टान्त कोरी कल्पना नहीं है, किन्तु जो लोग इस तरह की विलासिता करते हैं, उनका प्रत्यक्ष का अनुभव है। इस प्रत्यक्ष के अनुभव से यह स्पष्ट है कि वास्तव में पदार्थों के बाहरी रूपों के नाना विधि के भोगों में सुख नहीं है, क्योंकि यदि उनमें सुख होता तो उनसे थकावट न आती और उनको छोड़ कर नींद लेने की इतनी आतुरता नहीं होती और न नींद लेने से आराम और तरोताज़ापन ही प्राप्त होता।

केवल विषय भोगों की विलासिता में ही नहीं, किन्तु बाहरी नाम-रूपों की पृथक्ता को सच्ची मान कर भेद-बुद्धि से किये जाने वाले सभी व्यवहारों में—चाहे वे धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड, यज्ञानुष्ठान, सन्ध्या-वन्दन, ध्यान, जप, तप, पूजा, पाठ, प्राणायाम, भजन, कीर्तन, शास्त्राध्ययन, तीर्थाटन, दान, पुण्य, व्रत, उपवास आदि हों अथवा किसी वर्ण एवं आश्रम के विविध प्रकार के व्यवसायों के काम-धंधे हों, अथवा अन्य किसी भी तरह के शारीरिक एवं मानसिक व्यापार हों—उन सबमें, थकावट, अरुचि, विमनस्कता एवं व्याकुलता आदि आये बिना नहीं रहती और वह थकावट तथा व्याकुलता आदि तभी दूर होती हैं जब कुछ समय तक गहरी नींद लेकर आन्तरिक एकत्व-भाव में स्थिति कर ली जाती है।

गहरी नींद अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में सुख अथवा आराम मिलने का कारण यह है कि उसमें बाहरी दृश्य के सारे भेदभाव कुछ काल के लिए मिट कर परम सुख रूप आन्तरिक एकत्व-भाव में स्थिति हो जाती है, और वह अवस्था ऊंचे, नीचे, पवित्र, मलिन, छोटे मोटे आदि सभी प्राणियों के लिए एक समान आनन्द स्वरूप होती है, अर्थात् उस अवस्था का जितना आनन्द एक विद्वान ब्राह्मण को और सड़कों में सोने वाले एक मस्तमला आदि के कोमल बिस्तरों पर लेटे हुए एक सम्राट् को होता है,

उतना ही पथरीली भूमि पर, एवं गंदगी में पड़े हुए एक मज़दूर एवं मह
अथवा भंगी को होता है और उतना ही अन्य देहधारियों को होता है। सार
कि उस अवस्था में किसी की कोई विशेषता नहीं रहती, किन्तु पूर्ण एकता
समता होती है (बृहदा० उ० अ० ४ ब्रा० ३ मंत्र २२)। यही कारण है कि
बाहरी भेदभाव के व्यवहारों में थकावट आदि आकर वे दुःखदायी प्रतीत होने
हैं, तब उनसे निवृत्त होकर पूर्ण सुख-रूप सुषुप्ति अवस्था के एकत्व अथवा साम्य-
में प्रविष्ट होने (नींद लेने) की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, और जब उस सुषु
अवस्था की आन्तरिक एकता में स्थिति हो जाती है तभी सुख-शान्ति मिलती
और यही कारण है कि उसमें प्रविष्ट होने पर फिर उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता
एवं दूसरे सारे विषय-भोग उस आनन्द के सामने तुच्छ प्रतीत होते हैं। उस आन्तरिक
एकता के आनन्द की प्राप्ति होने पर बाहरी भेदभाव के व्यवहारों की प्रतिक्रिया-जन्य
जो थकावट और व्याकुलता आदि होती हैं, वे शान्त हो जाती हैं और उसी आन्तरिक
एकत्व-भाव के आनन्द की प्राप्ति करके प्राणी फिर बाहरी व्यवहार करने के योग्य
होते हैं। तात्पर्य यह कि मन भीतरी एकता के आनंद का कुछ अंश लेकर बाहर
आता है और बाहरी विषयों में उसे खर्च करता है, और जब वह उस आनंद को
खर्च कर चुकता है, तब फिर उसे अंदर से आनन्द लाना पड़ता है और तब फिर
से वह बाहरी विषयों में वर्तने के योग्य होता है। जिस तरह बालक अपनी माता
की गोद से अलग होकर खेलता है और खेलते-खेलते जब थकावट आती है तब वह
पीछा अपनी माता की गोद में आकर बैठ जाता है और उसका स्तन-पान करके
जब ताज़ा हो जाता है, तब फिर खेलने के योग्य होता है; उसी तरह मन गहरी नींद
(सुषुप्ति) की अवस्था के आन्तरिक एकत्व-भाव अथवा प्रकृति माता की साम्यावस्था-
रूप गोद से निकल कर जाग्रत अवस्था के बाहरी विषयों में वर्तता हुआ जब भीतर
से लाई हुई आनंद की पूंजी को खर्च कर देता है, तब थक जाता है, और फिर
सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में प्रकृति माता की साम्यावस्था-रूप (आन्तरिक
एकता की) गोद में कुछ काल के लिए विश्राम करके जब उसके आनंद से आनंदित
हो जाता है तब पुनः बाहरी विषयों में वर्तने के योग्य होता है।

इस [illegible] के अनुभव से स्पष्ट है कि बाहरी नाम-रूपात्मक [illegible]
[illegible] अन्य व्यवहारों में वस्तुतः कोई सुख नहीं है किन्तु उनमें जो सुख
[illegible] है वह [illegible] एकत्व-भाव के आनन्द का [illegible]
[illegible] है इसलिए [illegible] बाहर [illegible] के [illegible]
[illegible]

इस विवेचन में सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) की अवस्था को जो आनंदरूप एवं आनन्द का केन्द्र बताया है, उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि "नींद लेने में ही सच्ची एवं स्थायी सुख-शान्ति होती है, और सब विषय-भोग तथा अन्य व्यवहार छोड़-छाड़ कर दिन-रात नींद में ही पड़े रहना चाहिए;" क्योंकि यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में सारे बाहरी भेद-भाव मिट कर प्रकृति की साम्यावस्था-रूपी एकत्व-भाव में स्थिति होती है और शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि की पृथक्ता के सभी भाव उनके कारणरूप अव्यक्त प्रकृति में विश्राम ले लेते हैं, तब कुछ काल के लिए सब भिन्नताएँ मिट जाने से एकता का आनन्द तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु वहां अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में अपने-आप अर्थात् सर्वान्तर्यामी आत्मा अथवा सबकी एकता का ज्ञानपूर्वक अनुभव नहीं होता, किन्तु अपने वास्तविक स्वरूप के अज्ञान अथवा अन्धकार का आवरण बना रहता है, इसलिए नींद का सुख तामस माना गया है (गी० अ० १८ श्लो० ३९), जो नींद आने से पहले और नींद खुलने के बाद नहीं रहता।

सुषुप्ति अवस्था जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं की कारण है, अतः जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं के प्रपंच का आविर्भाव (उत्पत्ति) सुषुप्ति अवस्था से होता है और उसी में उसका तिरोभाव (लय) हो जाता है। जब जाग्रत और स्वप्न अवस्थाएँ सुषुप्ति से आविर्भूत होती हैं तब उस एकत्व-भाव की अवस्था के सुख से संयुक्त रहती हैं; फिर जब भेद-भाव की आसक्ति-युक्त व्यवहारों में उस सुख का व्यय हो जाता है और एकत्व-भाव से विमुखता-जन्य क्लेश दबाते हैं, तब उस दुःख को मिटा कर सुखी होने के लिए फिर से एकत्व-भाव की सुषुप्ति अवस्था में जाने की आवश्यकता होती है। इस तरह सुषुप्ति अवस्था से आना और उसमें जाना बना रहता है। इसलिए यद्यपि जाग्रत और स्वप्न के बाहरी द्वैत-प्रपंच की अपेक्षा सुषुप्ति अवस्था में एकत्व-भाव के विशेष सुख का अनुभव होता है, क्योंकि वहाँ द्वैत-प्रपंच कुछ काल के लिए दब जाता है, परन्तु द्वैत-प्रपंच सर्वथा मिट नहीं जाता; अर्थात् वहां "एक में अनेक और अनेकों में एक" का ज्ञान नहीं होता, अतः वहां सच्चा और अक्षय सुख नहीं है। सच्चा एवं अक्षय सुख तो जाग्रत अवस्था में ही सात्विक ज्ञान द्वारा अखिल विश्व की एकता का पूर्ण रूप से अनुभव कर लेने से होता है। सारांश यह कि सात्विक ज्ञान से सबकी एकता के निश्चयपूर्वक विषयों को यथायोग्य भोगते हुए भी उनसे जो सुख प्रतीत हो, उसे बाहरी पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुआ न समझ कर सबके अन्तरात्मा अर्थात् सबके एकत्व-भाव यानी सच्चिदानन्द-स्वरूप अपने-आपके आनन्द का आभास समझने ही से यथार्थ सुख होता है।

रूपात्मक शरीरों की असली एकता पर रहती है, अतः वह पृथकता के सारे द्वन्द्वों से परे होकर एकता के ब्रह्म-भाव से सारे भूत-प्राणियों को अपना ही रूप अनुभव करता है और सबके हित के लिए जगत् के सब प्रकार के व्यवहार उनके स्वामीभाव से करता हुआ इसी शरीर में सच्चे एवं अक्षय सुख के भण्डार ब्रह्मनिर्वाण-पद में स्थित रहता है। मनुष्य जन्म उसी का सार्थक है, जो इस तरह सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान से, अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों में सम रह कर व्यष्टि और समष्टि की एकता के अनुभव से सब लोगों के हित के लिए जगत् के व्यवहार करता हुआ अपने सच्चिदानन्द ब्रह्म-भाव में स्थित रहता है। जो बाहरी नाम रूपों की भिन्नताओं में जितनी ही कम आसक्ति रखता है और सबकी आन्तरिक एकता में जितना ज्यादा विश्वास रखता है अथवा जितना ही अधिक अन्तःकरण को समतायुक्त रखता है, उतना ही अधिक वह ब्रह्मनिर्वाण-रूपी मोक्ष के निकट पहुँचता है।

श्लोक २५ वें में "सर्वभूतहिते रताः" अर्थात् सब भूत प्राणियों के हित में लगे रहने का वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। आधिभौतिक सुख वाद के पंडित लोग अर्थात् भौतिक सुखों को ही सब कुछ मानने वाले विद्वान् लोग "अधिक लोगों के अधिक सुख" के सिद्धान्त को ही कर्त्तव्यता एवं नीतिमत्ता की पराकाष्ठा मानते हैं। यद्यपि साधारणतया यह सिद्धान्त समाज की सुव्यवस्था के लिए बहुत अच्छा है, क्योंकि इसके आचरण से जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके अनेक प्रकार के कष्टों की निवृत्ति में बहुत कुछ सहायता मिलती है, इसलिए इसका आचरण करना ठीक है, परन्तु यह सिद्धान्त सर्वथा निर्दोष एवं पूर्ण नहीं है। इसमें कई प्रकार के दोष एवं त्रुटियाँ हैं। प्रथम तो भौतिक दृष्टि से "अधिक लोगों" का और उनके सुख की अधिकता एवं न्यूनता का निर्णय होना ही असंभव है, क्योंकि सब देशों के सब लोगों की गणना करके, किसको किस बात से सुख और किसको किस बात से दुःख होता है, इसका पता लगाना असम्भव है। इसी तरह "अधिक सुख" का भी निश्चय होना असम्भव है, क्योंकि सुख का कोई निश्चित माप अथवा तोल अथवा मात्रा नहीं है कि किसी विशेष माप, तोल अथवा मात्रा को सबसे अधिक मान लिया जाय। सुख, मन की एक अनुकूल वेदना है, जो सदा एक-सी नहीं रहती। किसी को, किसी समय किसी विषय में अनुकूलता प्रतीत होती है, दूसरे व्यक्ति को अथवा दूसरे समय (उसी व्यक्ति को) उसी विषय में प्रतिकूलता प्रतीत होती है। एक व्यक्ति को थोड़ा भी सुख बहुत प्रतीत होता है और दूसरे व्यक्ति को बहुत सुख भी थोड़ा प्रतीत होता है और जहाँ बहुत अधिक भौतिक सुख प्रतीत होता है वहाँ अपनी

अथवा मानसिक दुःख हो सकता है। इसके अतिरिक्त, व्यक्तियों की संख्या सुख की मात्रा का निर्णय वर्तमान काल ही को लक्ष्य करके किया जायगा, ऐसा करने से वर्तमान में जो सुख है, वह भविष्य में भी सुख-रूप ही रहेगा नहीं, एवं भविष्य में होने वाले व्यक्तियों के लिए वर्तमान का सुख, सुख-रूप हो कि नहीं, अथवा वर्तमान से अधिक होगा अथवा न्यून होगा—इत्यादि बातों का कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता। इस तरह के कई दोष "अधिक लोगों के अधिक सुख" के सिद्धान्त में हैं। इसलिए भगवान् ने "अधिक लोगों के अधिक सुख" के सिद्धान्त को आदर्श नहीं माना है; किन्तु उससे आगे बढ़ कर "सर्वभूतहिते रताः" के निर्दोष एवं अटल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

सुख और हित में बड़ा अन्तर है। सबका हित अथवा सबकी भलाई करने और सबको सुख देने में बहुत फ़र्क़ है। हित तो सदा-सर्वदा सुखदायक होता है, परन्तु सुख सदा-सर्वदा हितकर नहीं होता अर्थात् हित से कभी किसी को दुःख नहीं होता परन्तु सुख से अहित हो सकता है। साधारणतया लोगों को सुख पहुँचाने के तीन मुख्य प्रकार हो सकते हैं—(१) शरीर को नाना प्रकार के आराम देने के लिए भाँति-भाँति के आधिभौतिक सुखों का आयोजन करना, (२) अन्तःकरण की प्रसन्नता के लिए लोगों के साथ प्रेम और आदर का बर्ताव करने तथा पठन-पाठन, खेल-तमाशे एवं हास्य-विनोद की व्यवस्थाएँ करने आदि विविध प्रकार के आधिदैविक सुखों का आयोजन करना, और (३) आत्मिक शान्ति के लिए दार्शनिक शिक्षा एवं उपदेशों आदि द्वारा तथा उपासना एवं योगाभ्यास के साधनों आदि द्वारा आध्यात्मिक सुख-प्राप्ति के साधन करना। इनमें आधिभौतिक और आधिदैविक सुख प्रतिक्षण परिवर्तनशील एवं उत्पत्ति-नाशवान् होते हैं और उनके साथ ही उनकी प्रतिक्रिया (reaction) भी लगी रहती है यानी उनके परिणाम में दुःख होता है। आध्यात्मिक सुख में यद्यपि ये दोष नहीं हैं, परन्तु उसमें शारीरिक और मानसिक सुखों का तिरस्कार होता है, और मन की वृत्ति आत्मा अथवा परमात्मा में ठहराने में पहले कष्ट होता है और जब-जब वह वृत्ति बहिर्मुख होती है तब-तब विक्षेप होता है। परन्तु हित वह है कि जिसमें उपरोक्त दोष और त्रुटियाँ नहीं होतीं और जिसमें पहले अथवा पीछे कोई दुःख अथवा विपरीत परिणाम नहीं होता।

सुख और हित का अन्तर समझने के लिए निम्नलिखित तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए —भूखों के लिए नाना प्रकार के स्वादिष्ट खानपान और प्यासों के लिए ठंडे पानी अथवा शर्बत आदि का प्रबन्ध करना अन्नहीन लोगों के लिए

बढ़िया कीमती वस्त्र बनवा देना, गृहहीन लोगों के लिए सब प्रकार के ऐशो-आराम के साधनों से सुसज्जित विशाल भवन बनवा देना, निर्धनों को धन देना और सर्वसाधारण के मनो-विनोद के लिए हास्य-विनोद, खेल-तमाशे, सैर-सपाटे के साधन कर देना आदि आयोजन अवश्य ही सुखकर होते हैं, परन्तु ये सदा हितकर नहीं होते, क्योंकि इनसे उद्यमहीनता, विलासिता, अमीरी और परावलम्बन के भाव बढ़ते हैं, तथा लोगों का रहन-सहन बहुत खर्चीला हो जाता है। इसके सिवाय खान-पान, रहन-सहन, ऐशो-आराम एवं मनो-विनोद आदि के सामान नित-नये एक-दूसरे से बढ़कर बनते रहते हैं, इसलिए इन साधनों से लोगों के जीवन की आवश्यकताएँ एवं विलासिता दिन-दिन बढ़ती रहती है जिनका कभी अन्त नहीं आता और जिनसे कभी तृप्ति नहीं होती, न कभी सन्तोष ही होता है। इस प्रकार के विलासी जीवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा आकस्मिक दुर्घटनाओं की विपत्तियाँ भी आती रहती हैं। फिर उन रोगादि के प्रतीकार के लिए चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करना और विपत्तिनिवारक आयोजन करके दुखियों की सहायता करना आवश्यक होता है, परन्तु ये आयोजन भी (कुछ हद तक) सुखकारक ही होते हैं—हितकारक नहीं होते, क्योंकि रोगों की चिकित्सा के लिए जो अस्पताल आदि संस्थाएँ होती हैं उनसे यद्यपि आराम मिलता है और विपत्ति-निवारक संस्थाओं से यद्यपि लोगों को विपत्तियों में सहायता मिलती है परन्तु उनसे जनता के रोग और विपत्तियाँ मिट नहीं जातीं, किन्तु जब तक रोगों और विपत्तियों के उपरोक्त कारण बने रहते हैं, तब तक वे दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं। इसी तरह लोगों की ज्ञान-वृद्धि आदि के लिए विद्याध्ययन की व्यवस्थाएँ करना तथा आत्मिक सुख के लिए आत्मज्ञान की शिक्षा तथा उपदेश आदि की व्यवस्थाएँ करना आदि सुखकारक अवश्य होती हैं, परन्तु वे भी सदा हितकारक नहीं होतीं; क्योंकि दुष्ट प्रकृति के लोगों की विद्या और ज्ञान, उनके अत्याचारों में सहायक हो सकते हैं और अव्यावहारिक आत्मज्ञान से समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। (इस अध्याय के श्लोक १ से १० तक के स्पष्टीकरण में पृ० २२६-२२७ देखिए)।

परन्तु लोगों का हित करने में इस प्रकार [illegible] के आयोजन नहीं होते [illegible] समाज की व्यवस्था करने में लोगों को अपना-अपना [illegible] होने को [illegible] है और [illegible]

...ने तथा नाटक मनो-विनोद के साधनों में सन्तुष्ट रहने, तथा इन्द्रियों के भोगों में संयम रखने द्वारा शरीर को आरोग्य, सुदृढ़ एवं सहनशील, तथा अन्तःकरण को शुद्ध, शान्त और प्रसन्न बनाये रखने का स्वभाव बनाया जाता है, जिससे विलासिता ...न बढ़े और उस विलासिता से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के दुष्परिणाम एवं उपद्रव न हों, किन्तु सब कोई स्वावलम्बन एवं शान्ति-पूर्वक जीवन-यात्रा करते हुए अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में अग्रसर होते रहें। विद्याध्ययन सदाचार की ...व्यावहारिक कराया जाता है, और आत्मज्ञान का अभ्यास व्यावहारिक विज्ञान ...हित कराया जाता है, जिससे सबकी भलाई होती है। इस प्रकार "सर्वभूतहित" ...सिद्धान्तानुसार आचरण करने में किसी विशेष व्यक्ति, समाज अथवा व्यक्तियों ...रण को अथवा किसी विशेष प्रकार के गुण को महत्त्व नहीं दिया जाता, ...आत्मौपम्य-बुद्धि से सबके साथ पूर्व-वर्णित समता का बर्ताव किया जाता है, ...सबको एक ही आत्मा—अपने-आपके अनेक रूप जान कर सबके साथ ...साम्य-भाव का व्यवहार किया जाता है। किसी भी प्राणी से बर्ताव करने ...अपने-आपको उसकी स्थिति में रख कर फिर उसके सुख-दुःख आदि को ...का अनुमान करना होता है, अर्थात् यह विचारना होता है कि यदि मैं ...स्थिति में होता और मेरे साथ इस तरह का बर्ताव किया जाता तो मुझे वह ...ता और उस बर्ताव का वर्तमान और भविष्य में मुझ पर क्या प्रभाव ...इस तरह आत्मौपम्य-बुद्धि द्वारा विचारपूर्वक सबके साथ उपरोक्त तरह ...करने से किसी का अहित नहीं होता और न उसका दुष्परिणाम हो...

...समदृष्टि-भाव से, वर्तमान और भविष्य पर दृष्टि रखते हुए, सात्त्विक ...जो व्यवहार किया जाता है, इसमें यदि किसी को प्रारम्भ में ... ...भी हो तो उससे किसी को दुःख तो वर्तमान में या भविष्य में ...होता। इसलिए सुखदायी, मंगलकारी सबके उपयोगी ... ...करने का रहता है और गीता में भगवान् ने अनेक स्थलों पर ...नहीं रहने का ही उपदेश किया है।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

का बर्ताव करना। अब विचार यह करना है कि भगवान् का अभिप्राय सारे समता देखने मात्र ही का है या जैसा देखे उसी के अनुसार बर्ताव करने का भी है। यदि समता के बर्ताव का यह तात्पर्य हो कि जो बर्ताव एक सत्त्वगुण-प्रधान सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण गुणसम्पन्न व्यक्ति के साथ किया जाय, वही एक तमोगुण-प्रधान मूर्ख एवं उजड्ड व्यक्ति के साथ, और वही एक पशु के साथ किया जाय, और जो बर्ताव एक सज्जन के साथ किया जाय, वही दुर्जन के साथ किया जाय, और जो बर्ताव स्त्री के साथ किया जाय, वही पुरुष के साथ किया जाय, तब न तो ऐसा बन सकता है और न कोई समझदार व्यक्ति इस तरह के समता के बर्ताव का समर्थन ही कर सकता है; क्योंकि वास्तव में यह समता का बर्ताव नहीं, किन्तु विषमता का बर्ताव है। समता का बर्ताव तो यह है कि भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले सारे शरीरों को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा सबके अपने आपके अनेक रूप समझते हुए, जिस शरीर के गुणों की जैसी योग्यता हो और जैसा आपस का सम्बन्ध हो, उसी के अनुसार उसके साथ व्यवहार किया जाय। यदि शरीरों के गुणों की योग्यता के अनुरूप बर्ताव न होकर उसके विपरीत बर्ताव होता है तो वह समता का बर्ताव नहीं, किन्तु विषमता का बर्ताव है। जिस तरह—सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण ब्राह्मण माने जाने वाले सदाचारी विद्वान के शरीर की योग्यता ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा एवं सदुपदेशादि द्वारा लोक-सेवा करने की होती है, अतः उस शरीर को सर्वात्मा = परमात्मा का एक सत्त्वगुण-प्रधान रूप एवं समाज का एक उपयोगी तथा आवश्यक अंग समझ कर उसकी सात्त्विक लोक-सेवा के अनुरूप आदर-पूर्वक उसका सत्कार करना, सात्त्विक भोजन, उपयुक्त वस्त्र, स्थान एवं विद्याध्ययन आदि के साधनों द्वारा उसकी शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएँ पूरी करने में सहायक होना, उसके योग्य समता का बर्ताव है; और तमोगुण की प्रधानता के कारण चाण्डाल माने जाने वाले एक अशिक्षित व्यक्ति की योग्यता अपने शारीरिक श्रम द्वारा मजदूरी करने अथवा मैला साफ़ करने आदि लोक-सेवा करने की होती है, अतः उसे भी उसी तरह सर्वात्मा = परमात्मा का एक तमोगुण-प्रधान रूप एवं समाज का एक उपयोगी तथा आवश्यक अंग समझ कर उसके साथ प्रेम करना, उसका तिरस्कार अथवा उससे घृणा कदापि न करना, किन्तु उस पर अनुग्रह रखना तथा उस तम-प्रधान शरीर और उसके शारीरिक परिश्रम की स्थूल लोक-सेवा के अनुरूप, शरीर को पुष्ट रखने वाले मोटे भोजन, वस्त्र तथा सादे रहन-सहन आदि के साधनों द्वारा उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएँ यथायोग्य पूरी करने में सहायक होना और उसकी सब प्रकार की उन्नति करने में सहायता और सहयोग देना, उसके योग्य समता का बर्ताव है। गाय के शरीर में यद्यपि मनुष्य शरीर की अपेक्षा तमोगुण की प्रधानता होती

है, परन्तु अन्य पशुओं की अपेक्षा उसमें कुछ मनुष्यत्व अधिक होता है, अतः पशुओं की अपेक्षा वह पवित्र, सात्विक एवं विशेष लोकोपकारी पशु है; उसको सर्वात्मा=परमात्मा का एक विशेष रूप एवं लोकोपयोगी आवश्यक अंग समझ उस शरीर की आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार उसकी सावधानी से र[illegible] करना, निर्मल पानी एवं अच्छे घास आदि से उसका पालन करना, स्वच्छ एवं सुरक्षि[illegible] स्थान में रखना तथा उस शरीर के योग्य उसका उपयोग करना, उसके योग्[illegible] समता का बर्ताव है; और कुत्ता एक मलिन एवं मांसाहारी पशु होने पर भी मनुष्यों की अनेक प्रकार की सेवाएँ करता है; उसके लिए यद्यपि गाय जितनी हिफाज़त की आवश्यकता नहीं है, फिर भी उसको परमात्मा का एक विशेष रूप एवं जगत् का एक आवश्यक अंग समझ कर, उसके साथ प्रेम और दया का भाव रखते हुए, भूखे-प्यासे होने पर उसे खाना-पीना देना तथा आततायियों से उसकी रक्षा करना और उसकी योग्यतानुसार उसका उपयोग करना, उसके योग्य समता का बर्ताव है। हाथी के शरीर की योग्यता मनभर आहार खाने और विस्तृत देश में रहने तथा भारी काम करने की होती है, और चींटी के शरीर की योग्यता एक कण आहार खाने और स्वल्प स्थान में रहने की होती है। इस तरह भिन्न-भिन्न शरीरों की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, परन्तु प्रत्येक शरीर एक ही आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष गुण-संपन्न रूप होता है और सभी शरीरों का कुछ न कुछ उपयोग और उनकी आवश्यकता भी होती है, निरर्थक पदार्थ जगत् में कुछ भी नहीं है; इसलिए सब शरीरों को परमात्मा के अन्तर-रूपी विराट् शरीर के अंग समझ कर प्रत्येक शरीर की अलग-अलग योग्यता और उपयोगिता के अनुसार ही उनके साथ उपयुक्त व्यवहार करना चाहिए, और किसी की प्राकृत आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा न देना, किन्तु सबके प्राकृतिक अधिकार सुरक्षित रखना चाहिए। इसी सिद्धान्त के अनुसार पुरुष के साथ पुरुषोचित, स्त्री के साथ स्त्रियोचित, पशुओं के साथ पशुओं के उपयुक्त बर्ताव करना, सज्जन के साथ सज्जनोचित (सौजन्य एवं मित्रता का) और दुर्जन के साथ दुर्जनोचित (दमन एवं उपेक्षा का) बर्ताव करना समता का बर्ताव है।

इस तरह [illegible] के योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्ताव करते हुए [illegible]

होते हैं—कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई सूक्ष्म, कोई स्थूल, कोई कोमल, कोई कठोर, कोई पवित्र, कोई मलिन, कोई ज्ञान-व्यवसायी, कोई कर्म-व्यवसायी आदि, परन्तु वास्तव में उनमें पृथक्ता नहीं होती और कोई भी अंग किसी दूसरे अंग से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि नहीं करता, सभी आपस में एकत्व-भाव से सहयोग करके वर्तते हैं। यदि कोई अंग रोग से ग्रसित होता है तो सभी अंग उस अंग के कष्ट का अनुभव करते हैं और उसकी चिकित्सा करते हैं। यदि कोई अंग दूषित हो जाता है तो दूसरे अंग, सारे शरीर की स्वस्थता के लिए उस अंग का यथोचित उपचार करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसे काट भी फेंकते हैं, परन्तु द्वेषभाव से नहीं। इसी तरह सभी भूत-प्राणियों को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के आत्मरूपी विराट् शरीर के अनेक अंग समझ कर सबके साथ एकता के प्रेमभाव* का यथायोग्य बर्ताव करना ही सच्ची समता का बर्ताव है। शरीरों की योग्यता के जो भेद हैं वे प्रकृति के सत्व, रज और तम गुणों के तारतम्य के बनाव हैं, और वे अस्थायी एवं परिवर्तनशील हैं अर्थात् सदा बदलते रहते हैं। इस गुण-वैचित्र्य के तत्व को भूल कर केवल शरीरों में आसक्ति करके आपस में राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के विरोध आचरण करना अनर्थ का हेतु होता है।

उपरोक्त गुण-वैचित्र्य के अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करना यद्यपि समता का बर्ताव है, परन्तु अनेक बातें ऐसी हैं जो सभी शरीरों के लिए समान रूप से उपयोगी एवं आवश्यक हैं। जिस तरह—रहने, सोने, बैठने और घूमने-फिरने के लिए पर्याप्त भूमि, पीने आदि के लिए स्वच्छ पानी, स्वास लेने के लिए शुद्ध हवा तथा प्रकाश, भूख की शान्ति के लिए भोजन, एवं एक से अनेक होने की स्वाभाविक इच्छा अथवा काम के वेग की शान्ति के लिए नर-मादा का सहवास आदि प्राकृतिक आवश्यकताएँ समान-रूप से मनुष्य (स्त्री पुरुष) एवं पशु-पक्षियों को भी रहती हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के शरीरों में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण साधारणतया इनमें अपने स्वाभाविक गुणों, विद्या, ज्ञान, बल एवं वैभव सर्वथा उन्नति करने की विशेष योग्यता होती है; तथा मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक आदि मानसिक वेदनाएँ भी सभी स्त्री पुरुषों में प्रायः स्वाभाविक होती हैं, अतः उपरोक्त सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा सब प्रकार की उन्नति करने के लिए सबको एक समान सुविधाएँ रहनी चाहिये, तथा सबकी मानसिक वेदनाओं का विचार भी रखना चाहिए गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न अभिमान और आत्महीनता के भेद को [illegible] मनुष्यत्व का अधिक आदर

* प्रेम का स्पष्टीकरण चौदहवें अध्याय में देखिए।

और स्पष्ट होता है, अतः वह अधिक सत्य है। इसी तरह स्त्रीत्व और पुरुषत्व के भेद की अपेक्षा मनुष्यत्व अधिक व्यापक और अधिक सत्य है, इसलिए मनुष्यत्व के एकत्व-भाव की योग्यता ब्राह्मणपन, चाण्डालपन, स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व के भेद की अपेक्षा अधिक होती है; फलतः मनुष्यत्व के सामान्य अधिकारों और सामान्य आवश्यकताओं की योग्यता उपरोक्त ब्राह्मणपन, चाण्डालपन, स्त्रीत्व, पुरुषत्व आदि भिन्नताओं के विशेष अधिकारों और विशेष आवश्यकताओं से अधिक होती है। अतः गुण-वैचित्र्य की भिन्नताओं के अनुसार विशेष बर्ताव करने में मनुष्यत्व के सामान्य अधिकारों और आवश्यकताओं की अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिए। सारांश यह कि सर्व-साधारण के सामान्य अधिकारों को छीन कर विशेष लोगों के विशेष अधिकारों की रक्षा करना "समदर्शन" के विरुद्ध है। प्राणियों की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन, यदि बलात् न छीने जायें तो वे स्वतः ही प्रस्तुत रहते हैं; तथा साधारण मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के शरीरों की जो उपरोक्त विशेष आवश्यकताएँ हैं उनकी पूर्ति में भी यदि स्वार्थवश जबर्दस्ती बाधाएँ न दी जायें तो वे भी अनायास ही पूरी होती रहें, और ऐसा होने से गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न पृथक्-पृथक् शरीरों की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण भी सुगमता से होते रहें, जिससे सबका हित होता रहे, क्योंकि व्यष्टि-हित समष्टि-हित पर और समष्टि-हित व्यष्टि-हित पर निर्भर है। परन्तु जब मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) के साधारण अधिकारों और स्वाभाविक आवश्यकताओं को कुचलने का अस्वाभाविक प्रयत्न, विशेष-शक्ति-संपन्न लोगों द्वारा किया जाता है, तब सर्वत्र विषमता उत्पन्न होकर सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है, जिससे महान् अनर्थ होते हैं।

सारांश यह कि १८ वें श्लोक में भगवान् ने जो "समदर्शन" का विधान किया है, उसका अभिप्राय ऊपर लिखे अनुसार सबको एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप अनुभव करते हुए सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूर्ण साम्य-भाव का बर्ताव करने का है। तीसरे अध्याय के श्लोक ३५ में भगवान् ने सबके कर्तव्य-कर्मों को अपने-अपने स्थान में श्रेष्ठ कहा है, और फिर चौथे अध्याय के श्लोक २४ में कर्ता, कर्म, करण आदि सबको ब्रह्म-रूप बताया है, अर्थात् जो परमात्मा पण्डितों तथा उनके शास्त्र-ग्रन्थों में है हवन करने वालों तथा हवन-कुण्ड एवं हवन के साधनों में है, अग्नियों तथा उनके ज्ञान में है, मनुष्यों तथा उनके देह में है, योगियों तथा उनकी समाधि में है, मन्दिर, पुजारियों तथा मूर्तियों में है और जो परमात्मा कर्मकाण्डियों तथा उनके कर्मों में है—वही परमात्मा अन्त्यज [illegible] और उनके

तलवार में, वही वैश्य और उसकी कलम में, वही शिल्पकार और उसकी शिल्पकला में, वही लोहार और उसकी भट्टी में, वही कुम्हार और उसके चाक में, वही सुनार और उसके बगूले में, वही जुलाहे और उसके करघे में, वही कारखानों और मशीनों में, वही एञ्जिन और बायलरों में, वही मेहतर और उसकी झाड़ू में वही चमार और उसके चमड़े में, तथा वही कसाई और उसके छुरे में है, और वही परमात्मा पुरुषों और उनके द्रव्योपार्जन के उद्योगों में और वही स्त्रियों तथा उनके गृहस्थी के काम-काज में है। तात्पर्य यह कि यदि कर्म और व्यवसाय (पेशे) की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी गीता में उपरोक्त समता के बर्ताव ही का विधान है।

जो लोग कहते हैं कि भगवान् "समदर्शन" अर्थात् सबमें एक एवं सम आत्मा देखने मात्र ही का उपदेश देते हैं, न कि "समवर्तन" अर्थात् समता के बर्ताव करने का, वे या तो इस उपदेश के उपरोक्त अभिप्राय से अनभिज्ञ हैं, या उसकी उपेक्षा करते हैं। यदि यहां पर 'दर्शन' शब्द का अर्थ केवल आँखों से देखना ही लिया जाय तो कुछ अर्थ ही नहीं होता, क्योंकि समता अथवा एकता (सबका आन्तरिक एकत्व-भाव अर्थात् आत्मा) स्थूल आँखों अर्थात् चर्म-चक्षुओं से देखने का विषय नहीं है। एकता अथवा समता तो बौद्धिक विचार अर्थात् ज्ञान-चक्षु का विषय है, अतः "समदर्शन" वाक्य का तात्पर्य साम्य-भाव के ज्ञान से है (गी० अ०६ श्लो० ६, अ०१२ श्लो० ४), न कि आँखों से समता देखने मात्र से। जब बुद्धि साम्य-भाव में स्थित हो जाती है तब देखने, सुनने आदि सारे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के व्यवहार स्वतः ही साम्य-भाव से होने लगते हैं, क्योंकि विचारवान् पुरुषों के सारे व्यवहार बुद्धि ही की प्रेरणा से होते हैं। इस पर भी यदि "समदर्शन" वाक्य का अर्थ केवल "समान देखना" ही लिया जाय तो भी जैसा देखा जाता है उसी के अनुसार बर्ताव होता है—देखने के विपरीत बर्ताव नहीं हो सकता। इससे भी सिद्ध है कि 'समदर्शन" से भगवान् का अभिप्राय केवल समता देखना मात्र ही नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण,—जो अपने को सबका आत्मा = परमात्मा कहते हैं, उनकी कही हुई गीता में ऐसा अस्वाभाविक उपदेश कभी नहीं हो सकता कि सब में देखो तो समता और बर्ताव करो उसके विपरीत विषमता का, सर्वत्र एक एवं सम आत्मा अथवा ब्रह्म को परिपूर्ण जानो (वासुदेव सर्वमिति), और व्यवहार करो उसके साथ घृणा, तिरस्कार और निर्दयता का, अर्थात् ज्ञान तो सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव का रक्खो और बर्ताव भिन्नता के भावयुक्त विषमता का करो, कहना-सुनना तो यह कि "एक ही परमात्मा सबमें समानभाव से व्यापक है, इसलिए सबके साथ प्रेमभाव

से रहना चाहिए" और बर्ताव में उस पर कुछ भी अमल न करना तथा लोगों से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार करना, लड़ना, झगड़ना और निर्बलों के अधिकार छीन कर उन पर अत्याचार करना एवं उनको पद्दलित रखना! इससे अधिक पाखण्ड दूसरा क्या हो सकता है? इस उल्टी समझ से ही तो इस हिन्दू जाति की इतनी दुर्दशा हो गई है कि जिससे निस्तार पाना असंभव-सा हो रहा है। गीता का स्पष्ट आदेश है कि सबके साथ एकता के साम्य-भाव का आचरण करो (गी० अ० २ श्लो० ४८ से ५०, अ० ६ श्लो० २९ से ३२), और किसी भी प्रकार के भेद-भाव से रहित, सब भूत-प्राणियों के हित में लगे रहो (गी० अ० ५ श्लो० २५, अ० १२ श्लो० ४)। कि सर्वत्र एक आत्मा (अपने-आप) अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म को एक समान देखने को कहा जाता है (गी० अ० १३ श्लो० २७-२८), और उससे भिन्न कुछ भी नहीं बताया जाता—जैसा कि गीता में सर्वत्र कहा है—तो क्या परमात्मा अथवा ब्रह्म अथवा अपने-आपसे ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि विषमता का बर्ताव युक्ति-संगत हो सकता है? हठधर्मी से ऊपर उठ कर अच्छी तरह विचार करने पर यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि जहां बार-बार एकता अथवा समता का ही प्रतिपादन किया गया है, वहाँ किसी के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि करने तथा किसी पर अत्याचार करने और निर्बलों के अधिकार छीनने तथा उनको पद्-दलित रखने के विषमता के भावों के लिए अवकाश ही नहीं है। प्राचीन काल के समत्वयोगियों के इतिहासों में भी जगह-जगह उपरोक्त समता के बर्ताव ही के उल्लेख पाये जाते हैं, जिनके थोड़े-से उदाहरण "उपोद्घात" प्रकरण में दिये गये हैं।

कई लोगों की यह समझ है कि शास्त्रों में समता के बर्ताव के वर्णन ज्ञानी लोगों के आचरणों के हैं, वे साधारण लोगों पर लागू नहीं हो सकते; ज्ञानियों का पद बहुत ऊँचा होता है, वे यदि विरुद्धाचरण भी करें तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता, कहावत भी है 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं', परन्तु साधारण लोग उनकी बराबरी नहीं कर सकते, इत्यादि

यह समझ गलत है। ज्ञानी लोगों के आचरणों का वर्णन साधारण लोगों के अनुकरण करने के लिए ही होता है। यदि ऐसा न हो तो इन वर्णनों का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता, क्योंकि ज्ञानियों के लिए तो उनके आचरणों के वर्णन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, अज्ञानियों को ही उनका अनुकरण करने के लिए मार्ग दिखलाने की आवश्यकता रहती है। तीसरे अध्याय में भगवान ने स्वयं

इस बात का खुलासा कर दिया है कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग उसका अनुकरण करते हैं, वह जिस आदर्श को उपस्थित करता है, लोग उसी के पीछे चलते हैं (गी॰ अ॰ ३ श्लो॰ २१); और यहाँ तक कहा है कि लोग मेरे ही मार्ग का अनुकरण करते हैं (गी॰ अ॰ ३ श्लो॰ २३)। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानियों के आचरणों के वर्णन साधारण लोगों के अनुकरण करने ही के लिए किये गये हैं। जो व्यवहार ज्ञानियों के स्वभाव-सिद्ध अथवा सहज होते हैं, वे ही साधारण लोगों के लिए आदर्श-रूप से अवश्य-कर्तव्य, अथवा साधन रूप से आचरण करने योग्य होते हैं। ज्ञानी लोग अपने ज्ञान-रूप प्रकाश में जिस मार्ग से चलते हैं, अज्ञानी लोगों के लिए उन्हींके पीछे चलना हितकर होता है, न कि अपने अज्ञान-रूपी अन्धकारमय स्वतन्त्र मार्ग से। ज्ञानी का पद साधारण लोगों से बहुत ऊँचा अवश्य है, परन्तु इसमें साधारण लोगों की ही त्रुटि है। इस त्रुटि को मिटाने और ज्ञानी के पद तक पहुँचने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता है, न कि अपनी अज्ञान की दशा ही में पड़े रहने में संतोष करने की।

"समरथ को नहिं दोष गुसाईं" का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के आचरण यदि अज्ञानी लोगों को दोषपूर्ण प्रतीत हों तो भी वास्तव में वे दोषपूर्ण नहीं होते। यह अज्ञानियों की समझ का दोष है कि ज्ञानियों के आचरणों में उन्हें दोष प्रतीत होते हैं। अज्ञानियों को अपने इस दोष को मिटाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, न कि ज्ञानियों के आचरणों में दोषारोपण करके उनसे परहेज करना। इस कहावत का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि "ज्ञानियों के आचरण भी दोषपूर्ण होते हैं परन्तु उन्हें उसका दोष नहीं लगता"। यदि ज्ञानियों के आचरण दोषपूर्ण होते तो दूसरों के लिए उनके अनुकरण करने का विधान नहीं होता।

परमात्मा के अवतारों की लीलाओं के जो वर्णन शास्त्रों में हैं उनसे भी यह स्पष्ट होता है कि उनने अपने आचरणों द्वारा ही समय समय पर लोगों को समत्व-रूपी धर्म का मार्ग दिखाने द्वारा विषमता-रूपी अधर्म से हटाकर धर्म में प्रवृत्त किया। रामावतार में मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्रजी ने वनवास में जाते समय निषादराज गुह से प्रेमभाव से आलिङ्गन करके उसका अतिथि-सत्कार स्वीकार किया। फिर शबरी माता सहित उसके अतिथि होकर सम्मानित हुए। सुग्रीव ने [illegible] का तिरस्कार किया [illegible] का न तो [illegible] हो गया, [illegible] भगवान ने [illegible] गुह [illegible] कृष्ण को [illegible] इस [illegible] तिरस्कार का [illegible] कराया। [illegible]

प्रायश्चित्त कराया कि उन्हीं बेरों की संजीवनी बूटी लगी, जिससे उसकी मूर्छा मिटी। ब्राह्मण-कुलोत्पन्न रावण के दुराचारों के कारण उससे लड़ने के लिये रीछों और बन्दरों की सेना का आयोजन किया और उन जंगली पशुओं द्वारा उसके परिवार को नष्ट कराया। अहिल्या, सीता, अनसूया, तारा, मन्दोदरी, सुलोचना आदि का समुचित सम्मान करके स्त्री-जाति के प्रति पूर्ण समता के बर्ताव का आदर्श दिखाया; इत्यादि।

कृष्णावतार की तो सारी लीलाएँ समत्व-योग का मूर्तिमान् आदर्श ही हैं, यह बात "उपोद्घात" प्रकरण में कह आये हैं। यहाँ पर भी कुछ घटनाओं का संक्षेप से उल्लेख कर देते हैं।

क्षत्रिय-वंश में जन्म लेकर अहीर नंद को पिता मान कर उसके पुत्र-रूप से रहना तथा किसी भी प्रकार के भेद बिना ग्वाल-ग्वालिनों के समाज में रह कर उनकी महिमा बढ़ाना; राजा दुर्योधन की मेहमानी स्वीकार न करके दास विदुर के घर की शाक-भाजी खाना और राजा की अपेक्षा दास को श्रेष्ठ बताना; रीछ-कन्या जाम्बवती को क्षत्रिय कन्याओं के समान ही अपनी पटरानी बनाना; तथा पाण्डवों के अश्वमेध यज्ञ में चाण्डाल (मेहतर) को दूसरे उच्च जाति के लोगों के समान ही निमन्त्रित करके भोजन कराये बिना यज्ञ की अपूर्णता बताना, और फिर पाण्डवों को उसके पास भेज कर आदर-सम्मान पूर्वक उसे बुला कर उसी तरह भोजन करवाने के बाद यज्ञ की पूर्णाहुति करवाना—इत्यादि घटनाएँ श्रीकृष्ण महाराज के समत्व-योग व साधारण लोगों में प्रचार करने का पर्याप्त प्रमाण हैं।

समत्वयोगी की किसी व्यक्ति-विशेष अथवा धर्म-विशेष अथवा आचरण-विशेष में ममत्व की आसक्ति नहीं रहती, न वह किसी रीति-रिवाज में ही कट्टरता रखता है किन्तु वह सर्वत्र लोक-हित का व्यापक दृष्टि से जिस परिस्थिति में जो व्यवहार विशेष उपयुक्त होता है वही करता है। लोक-हित के लिए किसी व्यक्ति की कोई हानि [illegible] वह [illegible] लोक-हित [illegible] है।

[illegible] उपयोग [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

वाले मनुष्यों के साथ तथा स्त्रियों के साथ जड़ पदार्थों एवं पशु-पक्षियों के साथ बर्ताव हो रहे हैं। और ये विरुद्धाचरण एवं अत्याचार, धर्म या मज़हब की छाप लगा कर किये जाते हैं, अर्थात् धर्म अथवा मज़हब में अन्ध-श्रद्धा रखने वाले लोग इन विरुद्ध आचरणों को ही सच्चा धर्म मानते हैं॥।

दूसरी तरफ़ जो नई रोशनी के लोग किसी धर्म या मज़हब पर कट्टरता नहीं रखते, उनमें से अधिकांश के विषमता के आचरण और भी अधिक उग्र होते हैं। बेचारे धार्मिक लोगों के अन्ध-श्रद्धा के आचरणों में प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों के त्याग का भाव तो थोड़ा या बहुत रहता है, परन्तु इन सभ्य और शिक्षित कहे जाने वाले लोगों के आचरणों में प्रायः अपने शरीरों के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों की ही प्रधानता रहती है। त्याग के भाव इनके मन में बहुत कम होते हैं। ये लोग जो कुछ करते हैं वह विशेषकर अपने शरीरों के भौतिक सुखों और अधिकारों के लिए ही होता है, दूसरे लोगों को उससे क्या हानि-लाभ होगा, इसकी इन्हें विशेष चिन्ता नहीं रहती। यदि गरीबों के लिए कभी कुछ करते हैं तो उसमें भी भीतरी प्रयोजन किसी न किसी प्रकार से अपनी स्वार्थ-सिद्धि, मान, प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति आदि की प्राप्ति का ही विशेषतया रहता है। यद्यपि ये लोग धार्मिक लोगों को जड़ मूर्तियों आदि के पूजक, जाहिल तथा अन्ध-विश्वासी कह कर उनकी हंसी करते हैं, परन्तु स्वयं उनसे भी बढ़कर मूर्ति-पूजक और अन्ध-विश्वासी होते हैं। धार्मिक लोगों की मूर्ति-पूजा ईश्वर, देवी-देवता आदि परोक्ष शक्तियों को निमित्त करके होती है, परन्तु केवल भौतिक सुखों में आसक्त, सभ्य माने जाने वाले लोग अपने शरीरों पर पहिनने के कपड़ों तथा आभूषणों, और मकानों की सजावट मात्र के लिए पत्थर, लकड़ी और धातु आदि के सामानों—खास करके तस्वीरों, मूर्तियों और मरे हुए जानवरों की खोलों पर इतना धन व्यय करते हैं कि बेचारे गरीबों की जो शारीरिक आवश्यकताएँ उसके शतांश से भी पूरी हो जायँ; और इन जड़ पदार्थों को वे इतने आदर और चाव के साथ ऐसे अन्तःस्थानों में रक्षापूर्वक रखते हैं कि जहाँ गरीब लोगों को तो उनके दर्शन पाने तक का सौभाग्य भी प्राप्त नहीं होता। ये लोग कुत्ते, बिल्ली, तोते, मैना आदि अनेक प्रकार के जानवरों तथा चिड़ियाओं को तो बड़े शौक़ से पालते हैं और सदा अपने साथ रखते हैं, परन्तु दुखी-दरिद्री स्त्री-पुरुषों को देखने से भी घृणा करते हैं। धार्मिक लोगों की मृतक-श्राद्धादि जीमनवारें अपने मृत सम्बन्धियों के निमित्त से होती हैं और उनमें से बची-खुची और झूठी

॥ नवमें अध्याय में उपासना का स्पष्टीकरण, सोलहवें अध्याय में आसुरी सम्पत्ति का स्पष्टीकरण और सत्रहवें अध्याय में दान का स्पष्टीकरण देखिए।

का कारण होती है, क्योंकि उसमें व्यक्तित्व का भाव बेहिसाब बढ़ कर विषमता के आचरण होने लगते हैं, जिनसे अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की खींचतानी उत्पन्न होकर परस्पर में घोर विद्वेष फैल जाता है। यदि आधिभौतिक और आधिदैविक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी होती रहे तो उसके प्रभाव से सबमें पारस्परिक एकता के प्रेम का भाव बना रहे और उस एकता के प्रेम सहित सब कोई अपने-अपने गुणों की योग्यतानुसार सांसारिक व्यवहार करते हुए और यथायोग्य भोग भोगते हुए परम सन्तुष्ट रहें। सत्त्व-रज-प्रधान लोग तम-प्रधान लोगों से अधिक उन्नत होते हुए और विशेष भोग भोगते हुए भी उनको अपना ही अंग समझ कर उनसे एकता के प्रेम का बर्ताव करते रहें तथा उन लोगों की स्वाभाविक आवश्यकताओं और अधिकारों एवं मनो-वेदनाओं को अपनी समझें (गी० अ० ६ श्लो० ३२)—उनकी उपेक्षा न करें—तो समाज में अशान्ति उत्पन्न नहीं होती। जिस समाज के उन्नतिशील लोग जिस विषय में जितनी ही अधिक उन्नति करें, उसमें उस समाज के सब लोगों को यथायोग्य अपना साझेदार समझें, अर्थात् उस उन्नति का लाभ सारे समाज को यथायोग्य पहुँचावें और उस विषय में सारा समाज ही उन्नत होवे तभी वास्तविक उन्नति होती है; क्योंकि दूसरों की सहायता और सहयोग बिना कोई विशेष व्यक्ति अकेला उन्नति नहीं कर सकता। यदि कोई विशेष व्यक्ति तो उन्नति करके विशेष प्रकार के भोग भोगता है और दूसरों को उस उन्नति से सर्वथा वंचित एवं हीन दशा में रखता है तो वह यथार्थ उन्नति नहीं होती, किन्तु वह अवनति का कारण होती है। इसके अतिरिक्त अपनी-अपनी उन्नति करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य (स्त्री-पुरुष) का जन्म-सिद्ध होता है, इस अधिकार को छीनने अथवा कुचलने का प्रयत्न कदापि नहीं होना चाहिए। उन्नति का मार्ग सबके लिए एक समान खुला रहना चाहिए, उसमें किसी के लिए भी कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए और इस विषय में किसीका ठेका नहीं होना चाहिए—ऐसा होने से ही परस्पर में विद्वेष और अशान्ति फैलती है।

दूसरी तरह रज-तम प्रधान लोगों को चाहिए कि वे सत्त्व-रज-प्रधान लोगों से द्वेष का बर्ताव न करते हुए, उनके अधिक उन्नतिशील होने और विशेष भोग भोगने से ईर्ष्या-द्वेष न करें, किन्तु उन्हें अपने ही स्वजन समझ कर संतोष करें, क्योंकि विशेष उन्नति और विशेष भोग विशेष गुणों का परिणाम होता है। जिसकी जिस विषय में विशेष उन्नति करने की योग्यता होती है वही उस विषय में उन्नति कर सकता है, इसमें किसी विशेष व्यक्ति अथवा समाज विशेष का ठेका नहीं है। इसलिए किसी के साथ ईर्ष्या द्वेष आदि करने का कोई कारण नहीं रहता।

इस तरह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, तीनों प्रकार की उन्नति करते हुए सब कोई एक दूसरे को एक ही शरीर अथवा कुटुम्ब के अङ्ग समझते हुए आपस में एकता के प्रेम-भाव का बर्ताव करें, व्यष्टि (प्रत्येक व्यक्ति) समष्टि (सब) के हित के लिए प्रयत्नशील रहें, और समष्टि (सब कोई) व्यष्टि (प्रत्येक व्यक्ति) के हित में सहायक रहें, तभी सबकी यथार्थ उन्नति और सबका यथार्थ हित हो सकता है। यही सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव अथवा सच्चा सम-दर्शन है।

इस श्लोकरत्न के समाप्त करने के पूर्व गीता-प्रतिपादित समत्व-योग, और साधारणतया माने जाने वाले समानता के बर्ताव अथवा आधुनिक साम्य-वाद में जो अन्तर है, प्रसंगवश उसका खुलासा कर देना उचित प्रतीत होता है।

गीता के समत्व-योग की भित्ति अथवा मूल आधार सबकी वास्तविक एकता (Unity) एवं समता (Sameness) का सिद्धान्त है। गीता का मन्तव्य है कि सारी चराचर सृष्टि में एक, सत्य, नित्य एवं सम (same) आत्मा—जो सबका अपना आप है—समान रूप से परिपूर्ण है। वस्तुतः इस एक आत्मा—जिसे चाहे ब्रह्म कहें या परमात्मा अथवा ईश्वर कहें, या "अहं" यानी "मैं" कहें—के सिवाय और कुछ भी नहीं है; और सारी चराचर सृष्टि के जो अनन्त प्रकार के अनेकता के भाव हैं, वे सब उसी एक के संकल्प के नाना भावों और नाना रूपों के परिवर्तनशील बनाव हैं। इस तरह सबकी एकता को सच्ची और अनेकता को झूठी समझ कर, भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले शरीरों के साथ उनके गुणों की पृथक्-पृथक् योग्यतानुसार यथायोग्य व्यवहार करना, और ऐसा करते हुए भी सबकी आत्मा की वास्तविक एकता का सदा स्मरण रखते हुए, अन्तःकरण में किसी के साथ राग, द्वेष, ईर्षा, घृणा, तिरस्कार आदि मलिन भाव न रखना और किसी को वस्तुतः ऊँचा, नीचा, पवित्र, मलिन, अच्छा, बुरा, बड़ा, छोटा आदि न समझना तथा किसी पर अत्याचार न करना, किसी को न सताना किसी के स्वाभाविक अधिकार न छीनना—यह गीता-प्रतिपादित समत्व-योग है। जिस तरह एक कुटुम्ब के अनेक सदस्य होते हैं, उनकी योग्यता अलग-अलग होती है और वे अपनी अपनी योग्यता के अनुसार अलग-अलग [illegible] हैं और [illegible] हैं और आपस में एक दूसरे के साथ भिन्न-भिन्न [illegible] व्यवहार करते हैं परन्तु इस भिन्नता के [illegible] एक ही कुटुम्ब के [illegible] एक दूसरे का [illegible] एक दूसरे के साथ [illegible] का [illegible] है। [illegible] एक ही [illegible] कुटुम्ब

निर्भर है; तथा वही सब भूत-प्राणियों का अन्तरात्मा—सबका प्यारा = अपना-आप है। इस तरह जो इस अखिल विश्व की एकता-स्वरूप सबके आत्मा = परमात्मा को ही सब कुछ जानता है, उसीको सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त होती है (२९)।

॥ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि कर्म-फल के आश्रय बिना अर्थात् कर्मों के फल में किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति न रख कर, जो (मनुष्य) अपने कर्तव्य-कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी अर्थात् समत्वयोगी है, न तो निरग्नि अर्थात् गृहस्थाश्रम को त्यागने वाला, और न अक्रिय अर्थात् कर्मों से रहित होने वाला ही। तात्पर्य यह कि गृहस्थाश्रम और उसके व्यवहार छोड़ कर निठल्ले बैठे रहने वाला वास्तविक संन्यासी नहीं होता, किन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आसक्ति बिना अपने कर्तव्य-कर्म करने वाला समत्वयोगी ही सच्चा संन्यासी होता है (१)। जिसको संन्यास कहते हैं उसीको, हे पाण्डव! योग अर्थात् समत्व-योग जान; क्योंकि मानसिक संकल्पों के संन्यास बिना कोई भी योगी अर्थात् समत्वयोगी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि उपरोक्त समत्व-योग को ही सच्चा संन्यास समझना चाहिए, क्योंकि सच्चा समत्वयोगी वही होता है, जिसके मन में व्यष्टि और समष्टि की एकता हो जाती है, एवं जिसका व्यष्टि-जीवन समष्टि-जीवन के लिए हो जाने से जिसके मन में दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के संकल्प ही नहीं उठते, और जो अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म, अनासक्त बुद्धि से लोक-संग्रह के लिए करता रहता है (२)। योगारूढ होने की इच्छावाले मुनि का कारण कर्म कहा जाता है, (और) उसी योगारूढ का कारण शम कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जब किसी विचारशील कार्यकर्ता के सामने अपने कर्तव्य-कर्म करने में अड़चनें आती हैं तथा उनमें दुःख-रूपता अथवा उलझनें प्रतीत होती हैं अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न होता है, तब वह उन अड़चनों आदि से छुटकारा पाने के लिए उपाय की खोज करता है, और उस खोज में जब उसे यह पता लगता है कि सबकी एकता के ज्ञान सहित साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करना ही सब प्रकार की अड़चनों, दुःखों, उलझनों, एवं मोह पर विजय पाने का एक मात्र उपाय है, तब उसे उक्त समत्व-योग में स्थित होने की इच्छा होती है। इसलिए उस विचारशील पुरुष के योगारूढ होने के लिए इच्छावान् होने का कारण अर्थात् उसमें उक्त इच्छा की जागृति का कारण कर्म ही होता है। इच्छावान् पुरुष से उसकी इच्छा भिन्न नहीं होती, इसलिए श्लोक के पूर्वार्द्ध में "योगारूढ होने की इच्छावाले मुनि का कारण कर्म कहा जाता है" ऐसा कहा है। जब वह योगारूढ होने की इच्छावाला पुरुष भिन्नता के भावों में आसक्ति-रूप अपने मन की चंचलता का शमन अथवा निरोध कर लेता है, अर्थात् मन को एकत्व-भाव में स्थित कर लेता है तब वह पूर्वोक्त समत्व-योग में आरूढ हो जाता है। इसलिए उस योगारूढ पुरुष के समत्व-योग में आरूढ होने का कारण शम अर्थात् मनो-निग्रह कहा गया है। यहाँ भी "उस (मुनि) का कारण शम" कहा

है, इसका अभिप्राय 'विचारशील पुरुष की उस स्थिति का कारण शम है' ऐ[सा]
समझना चाहिए (३)। क्योंकि जब वह (विचारशील पुरुष) इन्द्रियों के विष[यों]
और कर्मों में आसक्त नहीं होता, तथा सब कामनाओं का मन से संन्यास करता
है तब (वह) योगारूढ़ कहा जाता है। तात्पर्य यह कि वह विचारशील पुरुष
समत्व-योग में आरूढ़ तब होता है जब कि इन्द्रियों के विषयों और जगत् के कर्मों
से व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने के संकल्प उसके मन में नहीं उठते क्योंकि योगारूढ़
हो जाने पर उसका मन सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ जाता है, इसलिए
वह विषयों तथा कर्मों एवं सारे जगत् को अपने-आप से अभिन्न अर्थात् अपना
स्वरूप ही समझता है (४)। आप ही अपना उद्धार करे अर्थात् मनुष्य आप ही अपने
को ऊँचा उठावे, अपने को गिरावे नहीं, क्योंकि आप ही अपना (उद्धार करने वाला)
बन्धु है, और आप ही अपना (पतन करनेवाला) शत्रु है। जिसने अपने-आप को
अर्थात् अपने अन्तःकरण को जीत लिया है, यानी जिसका मन अपने वश में है,
वह स्वयं अपना बन्धु है; और जिसने अपने-आप (अन्तःकरण) को नहीं जाना,
वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान शत्रुता (वैर) का बर्ताव करता है। तात्पर्य
यह कि लोग साधारणतया अपने-आपको दूसरों से पृथक्, पंचभूतों का एक
पुतला अर्थात् स्थूल शरीर मात्र ही मान कर, अथवा स्थूल शरीर के अन्दर रहने
वाला—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा सूक्ष्म भूतों एवं सूक्ष्म इन्द्रियों के समूह—
वासना-मय सूक्ष्म शरीर मान कर अपने को अल्प, अल्प-शक्तिमान्, दीन, हीन,
सदा-सर्वदा प्रकृति के आधीन उसके विकट बन्धनों में बन्धा हुआ, एक तुच्छ
व्यष्टि समझते हैं, और जगत् के कल्पित एवं क्षण-क्षण में बदलने वाले नाम-
[रूप]ात्मक पदार्थों को अपने से भिन्न एवं किसी दूसरे के रचे हुए जान कर उन्हीं
[से] सुख होने के भ्रमात्मक निश्चय से उनकी प्राप्ति के लिए दौड़-धूप करते रहते
—अपने-आपके परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप की कुछ भी खबर नहीं रखते—यही
[आत्म]िक पतन है। मनुष्य-शरीर में आकर इस तरह पतन के प्रवाह में बहते रहते
[illegible] और उससे ऊपर उठ कर आत्मिक उन्नति का कुछ भी प्रयत्न न करना
[illegible]-आपके साथ दुश्मनी करना है [illegible]
[illegible]

की एकता के निश्चय से पदार्थों के बाहरी नाम रूपों में आसक्ति न रखे। इसने जीवात्मा ने अपने असली सच्चिदानन्द स्वरूप को भुलाकर अपने-आपको एक तुच्छ व्यक्ति कल्पित कर लिया है, परन्तु मनुष्य जब स्वयं अपने समष्टि-भाव, सच्चिदानन्द स्वरूप का निश्चय कर लेता है, तब वह तुच्छता के सारे भाव मिटाकर आप ही अपना उद्धारक हो जाता है। जब कि अपने-आपके असली स्वरूप को भूलने वाला आप ही है तो उसका ज्ञान भी आप ही कर सकता है, इसमें अपने सिवाय दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता। अस्तु, जो लोग अपने से भिन्न, परमात्मा पर यह दोषारोपण करते हैं कि "उसने हमें मोह में डाल रखा है तथा उसी ने हमारे पीछे नाना प्रकार की उपाधियों के बन्धन और दुःख लगा रखे हैं और वही हमारा उद्धार करेगा," वे नितान्त ही भूल में हैं। भगवान् कहते हैं कि अपना उद्धार करने वाला आप ही है और आप ही अपने-आपको बान्धने वाला या गिराने वाला है; क्योंकि अपने से भिन्न दूसरा कोई है ही नहीं। अतः विचारवान् पुरुषों को अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में आप ही अग्रसर होना चाहिए और पूरे स्वावलम्बी एवं आत्मविश्वासी तथा आत्म-निर्भर रहते हुए जगत् के व्यवहार करने चाहिएँ। अपने से भिन्न किसी दूसरे की कल्पना करके उस पर निर्भर रह कर परावलम्बी नहीं बनना चाहिए। जो अपने से भिन्न दूसरे किसी पर निर्भर रहते हैं, वे स्वयं अपने ही दुश्मन हैं; और जो स्वावलम्बी, आत्मविश्वासी एवं आत्म-निर्भर हैं, वे अपने-आपके मित्र होते हैं। अपने-आपके सिवाय दूसरा न कोई लाभ पहुँचा सकता है, न कोई दुःख दे सकता है और न कोई सुख ही दे सकता है। उपरोक्त रीति से जो जितना ही अधिक एकत्व-भाव में उन्नत और आत्मविश्वासी एवं आत्म-निर्भर रह कर सांसारिक व्यवहार करता है, उतना ही अधिक वह सुख-समृद्धि-सम्पन्न होता है, और जितना ही अधिक भिन्नता के दल-दल में फंस कर परावलम्बी होता है, उतना ही अधिक वह गिरता और कष्ट पाता है (५-६)।

स्पष्टीकरण—इस अध्याय में आगे समत्व-योग में मन को स्थिर करने के लिए साधनरूप से राज-योग का कुछ वर्णन होगा। उससे कोई यह न समझ ले कि "यह वर्णन, संसार के व्यवहार छोड़ कर निरन्तर योगाभ्यास में लगे रहने वाले योगियों का है," इसलिए भगवान् अध्याय के आरम्भ ही में स्पष्ट शब्दों में फिर से कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्म योग की श्रेष्ठता और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। भगवान् कहते हैं कि निराश्रि होने से, अर्थात् जन्म देने और पालन-पोषण करने वाले माता, पिता तथा अपने ऊपर निर्भर

होता, उनका परिग्रह चाहे बहुत ही अल्प हो और उनके लिए कर्तव्य-कर्म भी बहुत ही थोड़े हों, तो भी उनका उतने ही में संग और आसक्ति बहुत ही ज़्यादा होती है। जिसका मन जितना ही अधिक अपने वश में होता है, उतना ही अधिक वह निःसंग और अनासक्त रहता है; और जिसका मन जितना ही कम अपने वश में होता है, वह उतना ही कम निःसंग और कम अनासक्त होता है—चाहे कोई बहुत परिग्रह वाला कर्मशील गृहस्थ हो, अथवा परिग्रह और कर्मों का त्याग करने वाला संन्यासी। इसलिए सच्चा संन्यासी वही समत्वयोगी होता है जिसने अपने मन को वश में कर लिया हो, अर्थात् जिसका मन बुद्धि के आधीन और बुद्धि आत्मनिष्ठ यानी सबकी एकता के निश्चयवाली हो, और जो सबकी एकता के निश्चययुक्त साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार यानी अपने कर्तव्य-कर्म करता हो।

जो लोग अज्ञान-अवस्था में ही कर्मों अर्थात् गृहस्थाश्रम के व्यवहारों को त्याग कर निठल्ले हो जाते हैं उनके मन में समत्व-योग की प्राप्ति का विचार ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उनको जगत् के व्यवहारों में उपस्थित होने वाली अड़चनों का सामना नहीं करना पड़ता, इसलिए उनके निवारण के उपाय ढूंढने की जिज्ञासा उनके मन में उत्पन्न ही नहीं होती, परन्तु जो लोग जगत् के व्यवहार करते हैं उन्हीं के सामने अपने व्यवहारों में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ तथा प्रतिकूलताएँ और असफलताएँ आती हैं, तब जो विचारशील कार्यकर्ता होते हैं, वे उनके विषय में अनुसंधान करते हैं, जिससे उनकी समझ में यह बात आती है कि दूसरों के साथ अपनी पृथक्ता के निश्चय से जगत् के व्यवहार करना ही इन आपत्तियों का कारण है, और सबकी एकता के निश्चय से अन्तःकरण को साम्य-भाव में जोड़ कर व्यवहार करने पर सब आपत्तियाँ मिट कर सब प्रकार की सुख-शान्ति प्राप्त होती है। अतः वे इस समत्व-योग में स्थित होने के प्रयत्न में लगते हैं, और जब उस अभ्यास से अन्तःकरण का द्वैतभाव मिट जाता है, तब वे पूर्ण रूप से समत्व-योग में स्थित हो जाते हैं और तब उन्हें सच्ची शान्ति, पुष्टि और तुष्टि प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार की उद्यमशीलता ही मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का कारण है, और उद्यमहीनता ही सब प्रकार की अवनति तथा दुःखों का कारण है। अतः अपनी उन्नति चाहने वाले मनुष्य को उत्साह, साम्य-भाव एवं उद्यमशील बने रहना चाहिए [illegible] उद्यमहीनता को कभी आश्रय नहीं देना चाहिए।

[illegible]

उन्नति अथवा अवनति करना मनुष्य के अपने ही अधिकार में है, दूसरा कोई ऊंचा चढ़ाने या नीचा गिराने वाला नहीं है। जो मनुष्य (स्त्री-पुरुष) अपने-अपने अन्तःकरण को सबके साथ एकता के साम्य-भाव में जोड़ने के प्रयत्न में लगे रह कर अपने-अपने शरीरों की योग्यतानुसार जगत् के व्यवहार अच्छी तरह करते रहते हैं वे अवश्य ही अपनी उन्नति करते हैं; परन्तु जो लोग भेद-भाव के विपरीत ज्ञान से अपनी पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही कर्म करते हैं अथवा कर्मों का संन्यास करते हैं, अथवा ईश्वरादि अदृष्ट शक्तियों पर अथवा दूसरे लोगों पर निर्भर होकर उद्यमहीन बन जाते हैं वे आप ही अपना पतन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य अपना उद्धार-कर्ता—मित्र आप ही है; और जो इस तरह अपना उद्धार नहीं करता, वह अपने-आप का पतन करने वाला—शत्रु भी आप ही है। ऊँचे चढ़ने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती है, परन्तु यदि चढ़ने का प्रयत्न न किया जाय तो गिरावट होना स्वाभाविक है, क्योंकि कोई भी पदार्थ सदा एक स्थिति में नहीं ठहर सकता।

× × ×

अब आगे के तीन श्लोकों में भगवान् उपरोक्त समत्वयोगी के आचरणों में उसके अन्तःकरण की स्थिति कैसी रहती है, इसका वर्णन करते हैं।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसने अपने-आप अर्थात् अपने मन को जीत लिया है (और) जो पूर्ण शान्त है, उसका अन्तरात्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में सम अर्थात् एक-सा बना रहता है, तात्पर्य यह कि समत्वयोगी सब प्रकार के द्वन्द्वों अर्थात् परस्पर विरोधी भावों में एक समान निर्विकार एवं शान्त बना रहता है (७)। [illegible] एकता, निश्चयता, समता [illegible] अनुभव और [illegible] अर्थात् सब जगत् के [illegible]

* ज्ञान-विज्ञान का [illegible] मानने और स्वयं अनुभव से किया [illegible]

प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील पदार्थों और भावों को तत्वतः एक ही आत्मा के अनेक रूप होने के निश्चय से, जिसका अन्तःकरण तृप्त अर्थात् शान्त हो गया है, तथा सबके आधार आत्मा में जिसकी स्थिति दृढ़ हो गई है, और जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, तथा (जिसकी दृष्टि में) लोहा, पत्थर और सोना एक समान है, अर्थात् जो इन पदार्थों को वस्तुतः एक ही समान दृश्य जगत् की कल्पित नाम-रूपात्मक भिन्नताएँ समझता है, वह समत्वयोगी युक्त अर्थात् सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़ा हुआ कहा जाता है (८)। सुहृद् यानी दूसरों की अपेक्षा अधिक प्यारे लगने वाले आत्मीयजनों, मित्र अर्थात् प्रेम रखने वालों, शत्रु अर्थात् वैर रखने वालों, उदासीन अर्थात् उपेक्षा करने वालों, मध्यस्थ अर्थात् जो न तो उपेक्षा करते हों और न विशेष प्रेम ही रखते हों किन्तु निष्पक्षभाव का बर्ताव करते हों, द्वेष के योग्य अर्थात् जिनके साथ साधारणतया द्वेष होना उचित हो, बान्धव अर्थात् कुटुम्बीजनों, साधु अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों, एवं पापियों अर्थात् दुराचारियों के विषय में भी जिसकी बुद्धि सम होती है, अर्थात् जो इनको एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप समझता है वह अधिक श्रेष्ठ है (९)।

स्पष्टीकरण—इन तीन श्लोकों से कोई यह न समझे कि समत्व-योगी इतना संज्ञाहीन अथवा जड़ हो जाता है कि उसको सुख-दुःख, ठंड-गर्म, मान-अपमान, अपने-पराये, शत्रु-मित्र, भले-बुरे, लोहे, पत्थर और सोने आदि का कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता। वास्तव में समत्वयोगी इस तरह संज्ञाहीन नहीं होता, वह तो आत्मज्ञान और दृश्य पदार्थों के तात्त्विक विज्ञान में पूर्ण होता है, इसलिए उसे जगत् की इन भिन्नताओं का उतना ज्ञान होता है कि जितना साधारण लोगों को होना सम्भव नहीं। परन्तु साधारण लोग तो इन सब भिन्नताओं के केवल बाह्य रूपों का इन्द्रिय-जन्य ज्ञान रखते हैं, इसलिए इनको सत्य मान कर इनमें आसक्त और विक्षिप्त रहते हैं, और आत्मज्ञानी समत्वयोगी इन भिन्नताओं के बाह्य रूपों के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर ही निर्भर नहीं रहता, किन्तु इनके भिन्न-भिन्न गुणों, इनकी अलग-अलग योग्यताओं और इनके सूक्ष्म कारणों सहित इनकी भीतरी वास्तविक अर्थात् सबकी आध्यात्मिक एकता का भी यथार्थ ज्ञान रखता है, और इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान युक्त सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वह किसी में आसक्त नहीं होता, अतः सम और शान्त रहता है। यद्यपि वह शरीर मन से ठंड और गर्मी सुख और दुःख मान और अप-मान अनुकूल और प्रतिकूल शब्द और रूप आदि इन्द्रियों के अलग-अलग वेदनों को उसी तरह अनुभव करता है जिस तरह कि दूसरे प्राणी करते हैं परन्तु इनको एक

में यह निश्चय रहता है कि भोक्ता और भोग्य, अथवा अनुभव करने
और अनुभव किया जाने वाला, अथवा ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुतः एक
पृथक्ता के बनाव कल्पित, परिवर्तनशील एवं आने जाने वाले हैं। किसी
में सुख और मान आदि अनुकूल वेदनाएँ भी अहितकर होती हैं, और
अवस्था में दुःख और अपमान आदि प्रतिकूल वेदनाएँ भी हितकर होती
इसलिए उसका अन्तःकरण अनुकूलता-प्रतिकूलता की वेदनाओं का अनुभव क
हुआ भी तत्त्व-ज्ञान के कारण उनसे प्रभावित नहीं होता। इसी तरह पा
लोहे, मिट्टी और सोने का बाहरी भेद यानी उनके पृथक्-पृथक् रंग, रूप, गु
मूल्य आदि उसकी इन्द्रियों को वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे कि दूसरों को
और उनका भिन्न-भिन्न प्रकार से यथायोग्य उपयोग भी वह करता है, परन्
ऐसा करते हुए भी उसकी दृष्टि इन सबके एकत्व-भाव पर जमी रहती है। वह इन
सबको एक समान पार्थिव पदार्थ समझता है। यद्यपि उपयोग की दृष्टि से वह भी
इनकी योग्यता भिन्न-भिन्न समझता है, तथापि उसको यह ज्ञान रहता है कि किसी
भी पदार्थ के उपयोग, मूल्य और अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सदा एक-से नहीं
रहते, किन्तु देश-काल आदि की परिस्थिति के साथ वे बदलते रहते हैं। किसी
परिस्थिति में सोने का कोई उपयोग नहीं होता, तथा उसका संग्रह बहुत ही
दुःखदायक होता है, और मिट्टी तथा लोहे से बड़ा लाभ होता है; उस स्थिति में
सोने की कोई कीमत नहीं होती, किन्तु लोहा और मिट्टी बड़े कीमती हो जाते हैं।
इसलिए वह लोहे, मिट्टी और सोने की पृथक्-पृथक् योग्यता का भेद अनुभव करता
हुआ भी तात्त्विक विचार से उस भेद को कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है;
अतः उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति में उसको कोई हर्ष या विषाद नहीं होता। इसी तरह
अपने शरीर के सम्बन्धियों में भी वह भेद का अनुभव अवश्य करता है और उस
अनुभव सहित ही वह सबकी पृथक्-पृथक् योग्यता और परस्पर के सम्बन्ध के
अनुसार उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है, अर्थात् अपने आत्मीय-जनों को
वह अपने शरीर के निकटवर्ती स्वजन समझता हुआ उनसे घनिष्ठ प्रेम का व्यवहार
करता है, मित्रों के साथ साधारण प्रेम का, वैर रखने वालों के साथ उनकी
भावनानुसार वैर का, उपेक्षा करने वालों के साथ उपेक्षा का, शत्रु और मित्र
के बीच की स्थितिवालों के साथ साधारण शिष्टाचार का, जो द्वेष रखने वाले
हैं उनसे उनके अज्ञान एवं दोषदर्शन के अनुसार द्वेष का, बन्धुओं के साथ उनके
योग्य प्यार एवं [illegible] का, [illegible] के साथ उनके अनुकूल सौहार्द का, सब
[illegible] के साथ उनके अनुकूल आदर का बर्ताव करता है [illegible] पर कि भिन्न
[illegible] का जैसा योग्य और जैसा आवश्यक होता है, उसी के अनुसार वह उनके

साथ बर्ताव करता है। परन्तु वे बर्ताव उन भिन्न-भिन्न शरीरों के पूर्व तथा वर्तमान कर्मों के फल-स्वरूप उनके स्वाभाविक गुणों एवं भावनाओं की योग्यतानुसार स्वतः ही होते हैं, अर्थात् उन लोगों की भावनाएँ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तावों का कारण होती हैं। समत्वयोगी के अन्तःकरण में उस भिन्नता के बर्तावों का कोई प्रभाव नहीं रहता और वह अपनी तरफ़ से किसी के साथ कोई अच्छा या बुरा बर्ताव नहीं करता, अर्थात् उसके अन्तःकरण में न किसी से राग रहता है न द्वेष, न व्यक्तित्व का यह अहंकार रहता है कि मैं अमुक व्यक्ति के साथ अमुक प्रकार का अच्छा या बुरा बर्ताव कर रहा हूँ। उसे कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, इसलिए यदि वह किसी से कठोरता आदि का बर्ताव करता है तो भी वह उसके हित के लिए ही होता है, द्वेषवश किसी की हानि करने के लिए नहीं होता। अतः सबके साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्ताव करते हुए भी अपने शरीर और दूसरों के शरीरों में वह तत्वतः कोई भेद नहीं समझता, किन्तु अपने तथा दूसरों के शरीरों को एक ही आत्मा (अपने आप) के अनेक रूप जानता है। भेद केवल गुण-वैचित्र्य का मानता है और गुणों की भिन्नता सदा एकसार नहीं रहती, इसलिए उसको कल्पित जान कर वह उसमें आसक्ति नहीं रखता। उसके अन्तःकरण में एक तरफ़ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न गुणों की योग्यता और उनके साथ अपने भिन्न-भिन्न संबंधों एवं उन सम्बन्धों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तावों का अनुभव रहता है, और दूसरी तरफ़ सबके एकत्व-भाव का अनुभव रहता है, इसलिए वह भिन्नता के प्रभाव से वस्तुतः रहित होता है। उसका अन्तःकरण काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ग्लानि, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, सुख, दुःख आदि अनेक प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव करता हुआ भी निर्विकार, शान्त एवं सम बना रहता है। श्लोक ६ के अन्तिम पद में "समबुद्धिर्विशिष्यते" कह कर भगवान् ने इस अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है। जिसकी बुद्धि जितनी ही अधिक सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित होती है, उतनी ही अधिक उसके अन्तःकरण में भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएँ प्रभाव-रहित होती हैं; और जिसकी बुद्धि पूर्णतया सबकी एकता के साम्य-भाव में स्थित हो जाती है, उसका अन्तःकरण इन वेदनाओं में तथा अपने-पराये, शत्रु-मित्र, भले-बुरे आदि के सम्बन्धों में पूर्णतया सम रहता है और उसकी स्थिति सबके ऊपर होती है। शारीरिक कष्टों में अविचलित रहने तथा सांसारिक पदार्थों से वैराग्य होने की अपेक्षा भी अपने-पराये, शत्रु-मित्र, सज्जन-दुर्जन आदि के सम्बन्ध में अन्तःकरण की समता बनाये रखने का पद बहुत ऊँचा है।

× × ×

अब भगवान् १० वें श्लोक से २६ वें श्लोक तक मन की एकाग्रता के साधन-रूप राज-योग के अभ्यास का निरूपण करके, श्लोक २७ से ३२ तक उक्त योगाभ्यास की पूर्णता-प्राप्त समत्वयोगी की साम्य-भाव की स्थिति का वर्णन करते हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—योगीॐ अर्थात् समत्व-योग में आरूढ़ होने की इच्छावाला साधक पुरुष सदा अर्थात् नित्य-नियम से एकान्त स्थान में (नियत काल तक) अकेला स्थित होकर चित्त और इन्द्रियों के संघात को अपने वश में करके, आशा और परिग्रह अर्थात् पदार्थों के संग्रह की ममता से रहित हो कर अपने को योग में लगावे अर्थात् योगाभ्यास करे (१०)। पवित्र देश अर्थात् शुद्ध भूमि पर कुशा और उस पर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर अपना दृढ़ आसन लगावे, जो न अधिक ऊँचा हो

ॐ यहाँ पर 'योगी' शब्द साम्य-भाव की स्थिति प्राप्त करने के साधक के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ है "जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्व-भाव की स्थिति" इत्यादि। सबकी एकता, आत्मा अथवा परमात्मा में होती है और आत्मा अथवा परमात्मा सम है (गी० अ० २ श्लो० १६, अ० ६ श्लो० २९, अ० १३ श्लो० २७-२८), इसलिए गीता में भगवान् ने सबकी एकता के साम्य-भाव की स्थिति को 'योग' कहा है (गी० अ० २ श्लो० ४८, अ० ६ श्लो० २९ से ३३)। गीता में 'योग' शब्द का प्रयोग प्रधानतया इसी अर्थ में अर्थात् एकता के साम्य-भाव की स्थिति के लिए, और उस साम्य-भावयुक्त अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने रूपी कर्म-योग के लिए हुआ है; तथा उक्त साम्य-भाव की स्थिति में आरूढ़ होने के साधनों के लिए भी 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी तरह सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थित होने वाले तथा साम्य-भाव-युक्त व्यवहार करने वाले कर्मयोगी को 'योगी' कहा है, और उक्त समत्व-योग के साधक के लिए भी 'योगी' शब्द का प्रयोग हुआ है। अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग साध्य और साधन, अथवा कार्य और कारण, दोनों के लिए एक ही रूप में होता है।

कई स्थलों पर 'योग' शब्द साम्य-भाव की स्थिति से कुछ विलक्षण अर्थ में भी आया है। जैसे परमात्मा के विश्व-रूप होने की माया अथवा ऐश्वर्य को 'योग' कहा है (गी० अ० ७ श्लो० २५, अ० ९ श्लो० ५, अ० १० श्लो० ७, अ० ११ श्लो० ८); और अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को भी योग कहा है (गी० अ० २ श्लो० ४५, अ० ९ श्लो० २२)। परन्तु उन स्थलों पर भी एकता अथवा मेल के भाव की ही प्रधानता है। इनके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ दूसरे शब्दों के साथ 'योग' शब्द का समास हुआ है, जैसे—बुद्धि-योग, कर्म-योग, ध्यान-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग आदि वहाँ भी उन शब्दों से जो-जो भाव व्यक्त होते हैं, उन-उन भावों में जुड़ने रूप एकता का अर्थ ही सिद्ध होता है।

और न अधिक नीचा (११)। वहाँ (उक्त) आसन पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियों के व्यापारों को रोक कर, मन को एकाग्र करके, आत्मा यानी अन्तःकरण की (द्वैत-भाव रूपी मलिनता से) शुद्धि के लिए योग में प्रयुक्त होवे अर्थात् योगाभ्यास में लगे (१२)। काया अर्थात् धड़, शिर और गर्दन को सम अर्थात् सीधी (सही) रेखा में स्थिर रख कर अचल होता हुआ तथा (इधर-उधर) दिशाओं को न देखता हुआ अपनी दृष्टि को नाक के अग्रभाग (नोक) पर जमाकर, निर्भय होकर अन्तःकरण को अच्छी तरह शान्त रखता हुआ और ब्रह्मचर्य-व्रत को पालन करता हुआ, मन का संयम करके (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मेरे चिन्तन पूर्वक, मेरे परायण हुआ अर्थात् (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मुझमें लौ लगा कर योगाभ्यास में स्थित होवे (१३-१४)। इस प्रकार मन का संयम कर के सदा अपने-आपको युक्त करता हुआ अर्थात् योगाभ्यास में लगा हुआ योगी, (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मुझमें रहने वाली परम निर्वाण-स्वरूप शान्ति को प्राप्त होता है (१५)। परन्तु, हे अर्जुन! बहुत अधिक खाने वाले या बिलकुल न खाने वाले (भूखे रहने वाले) बहुत सोने वाले या बहुत जागने वाले का योगाभ्यास सिद्ध नहीं होता (१६)। यथायोग्य (नियमित) आहार-विहार करने वाले, तथा यथायोग्य (नियमित) कर्माचरण करने वाले और यथायोग्य (नियमित रूप से) सोने तथा जागने वाले का योगाभ्यास दुःखनाशक होता है। तात्पर्य यह कि अपनी शारीरिक प्रकृति के अनुकूल, तथा परिमित मात्रा में आहार, अपनी शक्ति के अनुसार उचित विहार (घूमने-फिरने आदि), तथा अपनी स्थिति के अनुसार व्यवस्थित काम-काज करने और समयानुसार एवं परिमित सोने व जागने से ही योगाभ्यास सुखदायक होता है (१७)। अच्छी तरह वश में किया हुआ चित्त जिस समय आत्मा में भली प्रकार स्थिर हो जाता है अर्थात् एकाग्र हो जाता है और सब कामनाओं से निःस्पृह अर्थात् बाह्य पदार्थों की प्राप्ति की कामना से रहित हो जाता है, तब युक्त ऐसा कहा जाता है (१८)। जिस तरह वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक निश्चल रहता है, वही उपमा योगाभ्यास में लगे हुए योगी के संयत चित्त की दी जाती है अर्थात् योगी का एकाग्र किया हुआ चित्त अडोल दीप-शिखा की तरह अविचल रहता है (१९)। योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त जब उपराम अर्थात् इधर-उधर भटकने से रहित—शान्त हो जाता है और जब वह आत्मा से ही आत्मा को देखता हुआ आत्मा ही में सन्तुष्ट होता है अर्थात् स्वयं अपने आपके एकत्व-भाव में स्थित होकर प्रसन्न होता है, (तब वह) इन्द्रियों के अगोचर, जो बुद्धि-तत्त्व परिमित एवं अत्यन्त सुख है उसका अनुभव करता है और इस अवस्था में स्थित होकर फिर वह तत्त्व से नहीं हिलता अर्थात् अपने आपके आत्मानुभव से विचलित

सब भूत-प्राणियों को अपने में देखता है (२९)। जो मुझ अर्थात् सबके आत्मा=परमात्मा को सबमें देखता है, और सबको मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) में देखता है, उससे मैं अलग नहीं होता और न वह मुझसे अलग होता है (३०)। जो (सबके) एकत्व-भाव में अच्छी तरह स्थित हो कर सब भूतों में रहने वाले मुझको भजता है, अर्थात् सब भूत-प्राणियों को अपने और सबके आत्मा=परमात्मा-स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम रखता है, वह समत्वयोगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ (सबके आत्मा=परमात्मा) में ही वर्तता है, अर्थात् सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वह परमात्म-स्वरूप मुझमें ही स्थित रहता है (३१)। २९ से ३१ तक के श्लोकों का तात्पर्य यह है कि उपरोक्त योगाभ्यास से जिनकी सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव में स्थिति हो जाती है, वे अपने को सबका आत्मा समझते हैं और अखिल विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं, यानी सबको अपना ही रूप जानते हैं, अतः उनमें और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता अर्थात् वे स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं। जगत् के सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी उनकी स्थिति समता-स्वरूप परमात्म-भाव में ही बनी रहती है (२९-३१)। हे अर्जुन! जो आत्मौपम्य-बुद्धि से, यानी सबको अपना आत्मा समझ कर, सर्वत्र, यानी सबके, सुख अथवा दुःख को समान-भाव से देखता है, अर्थात् दूसरों के सुख-दुःख को अपने समान ही अनुभव करता है, वह परम योगी माना गया है। तात्पर्य यह कि जो इस निश्चय से कि सब कोई एक ही आत्मा अथवा मेरे "अपने-आपके" अनेक रूप हैं, यह अनुभव करता है कि "जैसा मैं हूँ वैसे ही दूसरे हैं," और दूसरों के सुख-दुःख आदि को अपने ही समान समझ कर सबके साथ यथायोग्य समता* का बर्ताव करता है वही पूर्ण समत्वयोगी है। किसी भी व्यक्ति के साथ व्यवहार करते समय अपने को उसकी स्थिति में रखने की कल्पना करना, अर्थात् मन में यह विचार करके कि यदि मैं इसकी जगह होता और यह मेरी जगह होता तो मेरे साथ इसका किस तरह का बर्ताव उचित होता—किस तरह के बर्ताव से मुझे सुख होता और किस तरह के बर्ताव से दुःख—यह आपस की एकता का विचार आत्मौपम्य-बुद्धि है। इस आत्मौपम्य-बुद्धि से सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही सच्चा समता का बर्ताव है (३२)।

स्पष्टीकरण गीता के व्यावहारिक अर्थ की भूमिका में कह आये हैं कि

* समता के बर्ताव का विशेष स्पष्टीकरण पाँचवें अध्याय में देखिए।

सब तरफ से हटा कर नासिका की नोक पर जमाना चाहिए। उस समय अन्तःकरण तथा इन्द्रियों की सब चेष्टाओं को रोक कर मन को केवल आत्मा अथवा परमात्मा के ध्यान में इस प्रकार लगाना चाहिए कि दीपक की लौ की तरह वह निरंतर अडिग रहे। इस तरह धीरज के साथ मन को शनैः-शनैः दृढ़तापूर्वक एकाग्र करना चाहिए, और जहाँ-जहाँ वह भागे, वहीं आत्मा अथवा परमात्मा ही का चिन्तन करना चाहिए, अर्थात् जिस पदार्थ में मन जावे उसी पदार्थ को अपने-आपसे अभिन्न अपना आत्म-स्वरूप अथवा परमात्मा-स्वरूप समझना चाहिए। ऐसा समझने से मन जहाँ जायगा वहाँ आत्मा अथवा परमात्मा ही को पावेगा, तब वह आत्मा अथवा परमात्मा में ठहर जायगा। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप से अन्तःकरण के चार भाव हैं। मन का स्वभाव अत्यन्त चंचल तथा संकल्प-विकल्प करने का है; बुद्धि का स्वभाव विचार करने, जानने और समझने का है; चित्त का स्वभाव चिन्तन अथवा स्मरण करने का है; और अहंकार का स्वभाव व्यक्तित्व का अनुभव करने का है। इनमें से जिस भाव की प्रबलता होती है वह दूसरे भावों को दबा देता है। अतः मन की चंचलता को बुद्धि अथवा चित्त की क्रियाओं से दबाना चाहिए; अर्थात् मन को बाहरी विषयों में भटकने से रोकने के लिए बुद्धि से यह विचार करना चाहिए कि बाहरी पदार्थों में उनका अपना सुख कुछ भी नहीं है, किन्तु उनमें जो सुख प्रतीत होता है वह सबके अपने आप आत्मा का है, इसलिए उनमें आसक्त होना हानिकर है; अथवा चित्त से यह स्मरण करना चाहिए कि सभी बाहरी पदार्थ एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप हैं, वास्तव में सर्वत्र एक आत्मा ही है, आत्मा से पृथक् इनमें सुख की आशा रखने से दुःख होता है। इस तरह अभ्यास करते-करते जब मन एकत्व-भाव में ठहर जाता है, तब पूर्ण सुख और शान्ति प्राप्त हो जाती है; जिस सुख-शान्ति के आगे संसार के सभी सुख तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं, फिर किसी भी पदार्थ के प्राप्त करने की कामना शेष नहीं रहती। उस अवस्था में पहुँचने के बाद फिर दुःख का लेश भी नहीं रहता, क्योंकि तब अपने-आपसे पृथक् कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती कि जिससे दुःख होने की संभावना हो। उस सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की स्थिति में अखिल विश्व और ईश्वर अथवा परमात्मा भी आत्मा अर्थात् अपने-आपके ही अनेक भाव प्रतीत होने लगते हैं—अपने-आपसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता। उस ब्रह्म-भाव अथवा परमात्म-भाव अथवा एकत्व-भाव के आत्मानुभव की स्थिति में समत्वयोगी सब प्रकार से जगत् के व्यवहार उनके स्वामी-भाव से पूर्ण स्वतन्त्रता और समता पूर्वक करता हुआ भी अपने परमात्म-स्वरूप से कभी नहीं डिगता।

उस पूर्णता की स्थिति पर पहुँचा हुआ समत्वयोगी सब भूत-प्राणियों को

क समान अपना आत्मा ही अनुभव करता है, और सबके सुख-दुःख, मान-अपमान नि-लाभ आदि को अपने ही समझता हुआ आत्मौपम्य बुद्धि से सबके साथ यथायोग्य समता का बर्ताव करता है।

× × ×

यद्यपि उपरोक्त योगाभ्यास से मन को एकाग्र करके समत्व-योग में स्थित होने का विधान भगवान् ने ऊपर के श्लोकों में अच्छी तरह किया है, परन्तु उक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव में दृढ़ स्थिति होना और सबको अपनी आत्मा समझ कर सबके साथ आत्मौपम्य-बुद्धि से समता का बर्ताव करना, इतना गहन और कठिन विषय है कि प्रथम तो इसकी प्राप्ति के लिए जिस योगाभ्यास का वर्णन ऊपर किया गया है उसमें मन का लगना ही अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है; और यदि किसी तरह मन इस अभ्यास में लग भी जावे तो समत्व-योग की पूर्णावस्था तक पहुँच सकना तो जन्मभर में भी असंभव जान पड़ता है; और यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि किसी भी कार्य को पूर्ण किये बिना उसका नतीजा नहीं निकलता। अस्तु, इसी अभिप्राय को लेकर अर्जुन आगे के श्लोकों में भगवान् से कहता है कि जो समत्व-योग आपने कहा, उसमें मन का पूरी तरह टिक सकना मुझे असंभव-सा दीखता है। उस पर भी मनुष्य यदि यत्नपूर्वक इसके अभ्यास में लगे और पूर्णता को पहुँचे बिना, अर्थात् थोड़े बहुत अभ्यास के बाद बीच में ही उसका शरीर छूट जाय तो इस अभ्यास से क्या लाभ होगा? इस अभ्यास में लगने से शास्त्रों में विधान किये हुए हवन-यज्ञ, बलि-वैश्वदेव आदि कर्मकाण्ड तथा देव-पूजन, व्रत-उपवास एवं तप आदि धार्मिक कृत्य, जो पारलौकिक सुख के साधन बताये जाते हैं, वे तो बन नहीं सकते, इसलिए उन सुखों से वंचित रहना पड़ेगा; और समत्व-योग में पूर्णता की प्राप्ति न होने के कारण इसका जो फल आपने कहा वह प्राप्त नहीं होगा; परिणाम यह होगा कि समत्व-योग के साधन में लगने वाला "धोबी का कुत्ता घर का न घाट का" की कहावत को चरितार्थ करता हुआ भ्रष्ट हो जायगा अर्थात् दोनों तरफ से जायगा, ऐसा प्रतीत होता है। इन शंकाओं का समाधान करते हुए भगवान् आगे कहते हैं कि यद्यपि यह अभ्यास कठिन अवश्य है, परन्तु प्रयत्न करने से इस जन्म में नहीं तो आगे के जन्मों में सिद्धि अवश्य मिलती है। इसके अभ्यास में लगने वाले की इस जन्म में अथवा अगले जन्मों में कभी अवनति नहीं होती, किन्तु वह उत्तरोत्तर उन्नति ही करता है। ...न्व, पुष्टि और तुष्टि के जितने भी साधन हैं, उन सबसे समत्व-योग श्रेष्ठ है, ...सी का अभ्यास करना चाहिए।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

उसकी क्या दशा होती है ? हे भगवान् ! (स्वर्गादि सुखों के देने वाले कर्मकाण्डादि में) अप्रतिष्ठित (और मन की चंचलता के कारण) ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में विमूढ़ (रहने से) क्या वह छिन्न-भिन्न (बिखरे हुए) बादल की तरह दोनों तरफ से भ्रष्ट होकर नष्ट नहीं हो जाता ? तात्पर्य यह कि समत्व-योग की प्राप्ति के लिए मन को एकाग्र करने के अभ्यास में लगे रहने के कारण वह समत्व-योग का अभ्यासी दूसरे लोगों की तरह कर्मकाण्ड, यज्ञानुष्ठान, बलि-वैश्वदेव, जप-तप, व्रत-उपवास, देव-पूजन आदि पारलौकिक सुखों के देने वाले शास्त्रीय साधन सम्पादन कर नहीं सका, और उक्त योगाभ्यास की पूर्णता न होने के कारण उसे आत्मानुभव हुआ नहीं—ऐसी दशा में क्या वह उक्त साधारण लोगों से अलग रह कर उसी तरह नष्ट नहीं हो जाता, जिस तरह एक बादल का टुकड़ा दूसरे बादलों से अलग होकर नष्ट हो जाता है (३७-३८) ? हे कृष्ण ! आप मेरे इस संशय को पूर्णतया काटने योग्य हो, आपके सिवाय इस संशय का काटने वाला दूसरा कोई नहीं मिल सकता। तात्पर्य यह कि जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ होता है, और जो स्वयं भय, स्वार्थ, पक्षपात, भ्रम, दुराग्रह और संशय से रहित, तत्त्वदर्शी एवं दयालु होता है, वही इस लोक तथा परलोक से सम्बन्ध रखने वाली उक्त शंका का ठीक-ठीक समाधान कर सकता है; और आपमें ये सभी गुण मौजूद हैं, इसलिए केवल आप ही में इस विषय का निश्चित निर्णय देने की योग्यता है, अतः आप मेरे इस संशय को कृपा करके काटिए (३९)। श्री भगवान् बोले कि हे पार्थ ! इस लोक और परलोक (दोनों) में उसका (कभी) विनाश नहीं होता; क्योंकि हे तात ! कल्याणकारक कर्म (इस समत्व-योग के अभ्यास) में लगे रहने वाले किसी भी मनुष्य की दुर्गति नहीं होती (४०)। पुण्य कर्म करने वाले पुरुषों को मिलने वाले (उच्च) लोकों को प्राप्त होकर तथा वहाँ बहुत वर्षों तक निवास करके फिर वह योग-भ्रष्ट पुरुष अर्थात् पूर्वोक्त समत्व-योग का अधूरा अभ्यासी, पवित्र श्रीमानों (सम्पत्तिशाली लोगों) के घर में जन्म लेता है (४१)। अथवा बुद्धिमान् समत्वयोगियों के कुल में ही जन्म लेता है, इस प्रकार का जन्म इस लोक में बड़ा ही दुर्लभ है (४२)। वहाँ (उसे) उस पूर्वजन्म की बुद्धि का संयोग प्राप्त होता है, अर्थात् इस जन्म में भी समत्व-योग के संस्कार उसकी बुद्धि में जम जाते हैं उनका वहाँ उदय होता है, और हे कुरुनन्दन (वहाँ भी) फिर वह उससे आगे समत्व-योग की पूर्ण सिद्धि के लिए यत्न करता है (४३)। पूर्वजन्म के उसी अभ्यास से वह स्वतः ही (उस समत्व योग की तरफ) खींचा जाता है, समत्व-योग का जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म अर्थात् कर्मकाण्डात्मक वेदों का उल्लंघन कर जाता है। तात्पर्य यह कि समत्व-योग के जिज्ञासु के लिए भी शास्त्रों में कहे

क्योंकि समत्व-योग का अभ्यास व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद बुद्धि से किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्यों की तरह नहीं है कि जिनसे अन्तःकरण में भेद-भावरूपी मलिनता बढ़ती रहती है और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों से द्वेष करने अथवा दूसरों को कष्ट देने के बुरे संस्कार उत्पन्न होते हैं, और जिनसे थोड़े समय के लिए नाशवान् अतः मिथ्या सुख प्रतीत होकर फिर उसका दुष्परिणाम होता है और सब हीन योनियों में जाना पड़ता है, जहाँ उन्नति करने की कोई योग्यता ही नहीं होती। समत्व-योग के अभ्यास में सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन को *लगाना होता है, जिससे व्यक्तित्व का भाव कम होकर अन्तःकरण का द्वैत-भाव रूपी* मैल साफ होता है, तथा इसमें किसी का अहित करने या किसी को क्लेश देने का भाव नहीं होता, इसलिए इसके अभ्यास करने वाले के मन में बुरे संस्कारों का संचय नहीं होता। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद-बुद्धि से किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों में शरीर को बहुत क्लेश तथा परिश्रम उठाना पड़ता है, वे कृत्य यदि सांगोपांग पूरे न हो जायँ तो उनका कोई फल नहीं होता; यदि उनमें किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तो उल्टा अनिष्ट होता है; *और यदि वे विधिपूर्वक पार पड़ भी जायँ तो उनका अदृष्ट फल कालान्तर में होता* है। परन्तु समत्व-योग के अभ्यास में न तो शरीर को क्लेश अथवा परिश्रम होता है, न इसमें त्रुटि रहने से कोई अनिष्ट ही होता है। इसका थोड़ा भी आचरण कभी निष्फल नहीं जाता, न इसके फल के लिए कालान्तर अथवा लोकान्तर अथवा देशान्तर अथवा पूर्णता ही की अपेक्षा रहती है; किन्तु जितना ही समत्व-योग का आचरण होता है उतना ही आत्मबल एवं उतनी ही सुख-शान्ति, इसी जन्म में ही नहीं किन्तु इसका आचरण करते हुए ही प्राप्त होती जाती है, और ज्यों-ज्यों इसमें उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, उसी के अनुसार आत्मबल और सुख-शान्ति बढ़ती जाती है। उन्नति करते-करते जब पूर्ण-रूप से सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की स्थिति हो जाती है, तब पूर्ण-ब्रह्म परमात्म-भाव की प्राप्ति हो जाती है। इस जन्म में इसके थोड़े से अभ्यास के बाद ही यदि किसी अभ्यासी का शरीर छूट जाय और विषय-सुख भोगने की वासना बनी रहे तो मरने के बाद उक्त अभ्यास के बल से वह उन वासनाओं के अनुरूप सुख भोगने के लिए दिव्य (सूक्ष्म) भोग भोगने के उपयुक्त–दिव्य (सूक्ष्म) लोकों में रह कर भोग भोगता है, अर्थात् मन में जैसी वासना अथवा संस्कार होते हैं उसी के अनुसार वह अपने लिए सुख के साधन रच कर सुख भोगता है, परन्तु उक्त सुख भोगते हुए भी पूर्व-जन्म वाले समत्व-योग के संस्कार जमा पड़े रहते हैं अतः जब बहुत समय तक भोग भोग लेता है, तब उक्त संस्कारों के प्रसाद से फिर मनुष्य लोक में श्रेष्ठाचारी धनी पुरुषों के घर में जन्म लेता है, जहाँ भौतिक सुखों की सामग्री और आध्यात्मिक

उन्नति अर्थात् समत्व-योग की उन्नति के साधन, दोनों मौजूद रहते हैं। और यदि इस जन्म में सुख-भोगों की वासना नहीं रहती है तो मरने के बाद दूसरा जन्म आत्मज्ञानी समत्वयोगियों के घर में होता है, जहाँ समत्व-योग के अभ्यास में उन्नति करने के सब साधन उपस्थित रहते हैं। समत्व-योग के अभ्यास के बिना मरने के बाद प्रथम तो मनुष्य देह मिलना ही कठिन है, और मनुष्य देह में भी उपरोक्त अच्छे आचरणों वाले धीमानों अथवा ज्ञानवान् समत्वयोगियों का संयोग होना तो अत्यन्त ही दुर्लभ होता है।

समत्व-योग के अभ्यासी का दूसरा जन्म चाहे उपरोक्त श्रेष्ठाचारी धनियों के घर में हो अथवा ज्ञानी समत्वयोगियों के कुल में, वहाँ भी अपने पूर्वजन्म के अभ्यास के संस्कारों की प्रबलता के कारण, वह समत्व-योग के अभ्यास ही में प्रयत्न-शील रहता हुआ उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहता है। इस तरह क्रम से उन्नति करता हुआ वह समत्व पाकर पूर्ण पद को पहुँच जाता है। सारांश यह कि समत्व-योग के अभ्यास में एक बार लग जाने पर मनुष्य का, इस लोक में अथवा परलोक में कहीं भी कभी पतन अथवा अवनति नहीं होती, किन्तु उत्तरोत्तर उन्नति ही होती है। इसलिए सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से सांसारिक व्यवहार करने के समत्व-योग के साथ व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्य अथवा कर्मकाण्ड की कोई तुलना नहीं है। समत्व-योग का सच्चा जिज्ञासु अर्थात् जिसके चित्त में इस विषय का बोध प्राप्त करने की सच्ची लगन लग जाती है, अथवा जो इस विषय के अध्ययन और अनुसंधान में लग जाता है, उसका हृदय भी इतना उदार हो जाता है कि वेदादि-शास्त्रों में विधान किये हुए लौकिक फल देने वाले कर्मकाण्डों की उसे कोई इच्छा नहीं रहती और न उसे उनकी आवश्यकता ही रहती है। भेद-भाव को बढ़ाने और दृढ़ करने वाले उन कर्मकाण्डात्मक शास्त्रों में वर्णित रोचक वचन (पुष्पिता वाणी, गी० अ० २ श्लो० ४२ से ४४) उसके मन को नहीं लुभाते, क्योंकि वह उन प्रलोभनों से ऊपर उठ जाता है; और जो इस समत्व-योग अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से जगत् के विविध व्यवहार करने के अभ्यास में लग जाता है वह तो तपस्वियों, कर्मकाण्डियों और ज्ञानियों आदि सबसे श्रेष्ठ हो जाता है अर्थात् जो राजसी और तामसी प्रकृति के लोग व्रत उपवास आदि में शरीर को कृश करने वाले तथा सर्दी-गरमी आदि के शारीरिक कष्ट सहने के अनेक प्रकार के तप करते हैं और जो लोग यज्ञ हवन पूजा, पाठ आदि कर्मकाण्ड में लगे रहते हैं एवं जो लोग अध्यात्म-ज्ञानविषयक कोरे शास्त्रार्थ और वाद-विवाद में लगे रहते हैं उन तपस्वियों, कर्मकाण्डियों और शुष्क

ज्ञानियों से समत्व-योग के आचरण का अभ्यास करने वाला योगी श्रेष्ठ होता है। समत्व-योग का अभ्यास करने वालों में भी जो सबके आत्मा = परमात्मा में मन लगा कर श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है, वह सबसे उत्तम है। इसका यह कारण है कि परमात्मा की सर्वव्यापकता के विश्वास पूर्वक उसकी उपासना करने से मन शीघ्र एकाग्र हो सकता है, क्योंकि मन जहाँ जावे, वहाँ ही परमात्मा का दर्शन करने से उसका भटकना बन्द होने में बहुत सुगमता होती है, और इस तरह अभ्यास के साथ-साथ परमात्मा की उपासना करते रहने के दुहरे साधन से समत्व-योग की सिद्धि बहुत जल्दी और सुगमता से होती है। इसलिए इस भक्ति और योग का दुहरा अभ्यास करने वाला सबसे उत्तम अभ्यासी होता है।

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

उसका स्वभाव है। उसे कोई न कोई अवलम्बन अवश्य चाहिए। यदि उसे एक, अव्यय, अपरिवर्तनशील, सबके आत्मा = परमात्मा के चिन्तन में लगाने का प्रयत्न न किया जाय तो वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले जगत् के परिवर्तनशील, अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाले नानात्व के भावों में आसक्त रहने के कारण एकाग्र नहीं हो सकता; इसलिए उसको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सबके आत्मा = परमात्मा की उपासना में लगाना चाहिए, अर्थात् यह चिन्तन करने का अभ्यास करना चाहिए कि जगत् सब परमात्मा का स्वरूप है और वह परमात्मा सारे जगत् में एक समान व्यापक है। इस तरह परमात्मा की उपासना के अवलम्बन से मन समत्व-योग के अभ्यास में सहज ही स्थिर हो जायगा और उस अभ्यास से यह निश्चित एवं दृढ़ ज्ञान हो जायगा कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं, वास्तव में जो कुछ है वह सब परमात्मा ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है (१)। यह विज्ञान सहित ज्ञान, अर्थात् प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर होने वाले स्थूल और सूक्ष्म जगत् के निरन्तर बदलने वाले भिन्नता के भावों में एक, अव्यक्त, अपरिवर्तनशील आत्मतत्त्व एक समान भरा हुआ है—यह तत्त्वज्ञान, मैं तुझे बताता हूँ जिसे जान लेने पर फिर यहाँ (संसार) में कुछ भी जानने के लिए बाकी नहीं रहता। तात्पर्य यह कि यह विश्व सबके आत्मा = परमात्मा ही के सगुण और निर्गुण, अथवा साकार और निराकार, अथवा जड़ और चेतन, अथवा प्रकृति और पुरुष-रूप द्वन्द्वों अथवा जोड़ों का बनाव है, जिसने इस रहस्य को अच्छी तरह जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया; फिर उसके लिए जगत् में वस्तुतः जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता, क्योंकि जगत् में जो भी कुछ है वह सब परमात्मा के इन युगल भावों का ही विस्तार है (२)। हजारों मनुष्यों में कोई विरला ही सिद्धि के लिए, अर्थात् सर्वात्मा = परमात्मा को यथार्थतया जानने-रूपी उक्त विज्ञान सहित ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न करता है; और उन यत्न करने वाले सिद्धों अर्थात् साधकों में कोई विरला ही मुझ परमात्मा को तत्त्वतः यानी यथार्थरूप से जानता है। तात्पर्य यह कि संसार में अधिकांश मनुष्य तो खाने, पीने, सोने, संतान उत्पन्न करने आदि विषयों तथा उन विषयों के साधनों की प्राप्ति के लिए दौड़-धूप करने ही में लगे रहते हैं, इनके सिवाय और कुछ भी विचार करने का उनके मन में संकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। यदि उनमें से कोई कुछ विचार करते हैं तो वे भी अधिकतर आधिभौतिक और आधिदैविक* विचारों तक ही रह जाते हैं, आध्यात्मिक* विचारों की

* आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक विचारों का खुलासा 'व्यावहारिक वेदान्त' प्रकरण में देखिए।

तरफ कोई विरले ही लगते हैं। जो लोग आध्यात्मिक विचार करने में लगते हैं, उनमें भी अधिकांश लोग आत्मा को जगत् से भिन्न मानते हैं और जगत् का तिरस्कार करके आत्मज्ञान की खोज में लगे रहते हैं। "एक में अनेक और अनेकों में एक" के विज्ञान सहित ज्ञान, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों भावों की एकता के तत्वज्ञान की पूर्णता को कोई विरला ही पहुँचता है (३)। पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु (हवा), आकाश (अवकाश अथवा पोल), मन, बुद्धि और अहङ्कार—इस प्रकार यह आठ भेदों वाली मेरी प्रकृति अलग है। यह (मेरी) अपरा प्रकृति है; और इससे दूसरी जीव-भाववाली मेरी परा प्रकृति जान, जिससे हे महाबाहो! यह जगत् धारण किया जाता है। ऐसा समझ कि इन (दोनों) प्रकृतियों से ही सब भूत-प्राणियों की उत्पत्ति होती है, अतः अखिल विश्व का प्रभव और प्रलय, अर्थात् आदि और अन्त मैं ही हूँ। तात्पर्य यह कि एक तरफ सबके आत्मा = परमात्मा की अपरा अथवा जड़ प्रकृति, सूक्ष्म और स्थूल पंच तत्व और उनके विस्तार—इन्द्रियाँ और उनके विषय आदि—एवं मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार-रूप से व्यक्त होती है, जिनसे पिण्ड (व्यष्टि शरीर) और ब्रह्माण्ड (समष्टि जगत्) के प्रतिक्षण परिवर्तनशील बनाव बनते हैं; और दूसरी तरफ सबके आत्मा = परमात्मा की परा अथवा चेतन प्रकृति पूर्वोक्त अपरा प्रकृति के सब सूक्ष्म और स्थूल भावों के अनन्त प्रकार के प्रतीत होने वाले बनावों के अन्दर उनके जीवनरूप से स्थित होकर सबको एकता के सूत्र में पिरोये हुए धारण करती है। इस तरह सबका आत्मा = परमात्मा ही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का वास्तविक आधार है। दूसरे शब्दों में यह विश्व सबके आत्मा = परमात्मा ही की कल्पना का खेल है (४-६)। हे धनञ्जय! मुझसे परे अर्थात् मुझसे वस्तुतः भिन्न कुछ भी नहीं है; सूत में पिरोये हुए मणियों की तरह यह सब मुझमें पिरोया हुआ है। तात्पर्य यह कि जिस तरह सूत के मणियों की माला गूंथी जाय तो माला का रूप और नाम बनने के पहले सब सूत होता है, और माला के बन जाने के बाद भी सूत के सिवाय और कुछ नहीं होता, और माला को फिर से उधेड़ी जाय तो भी सूत ही रहता है। मणिये अथवा माला किसी भी अवस्था में सूत के सिवाय और कुछ भी नहीं होते। यदि मणिये लकड़ी, पत्थर अथवा धातु के होते हैं, तो भी वे पृथ्वीतत्व के ही होते हैं और सूत भी पृथ्वी तत्व ही होता है। इसलिए तत्वतः वे सब एक ही वस्तु के अनेक रूप होते हैं। इसी तरह, भगवान् कहते हैं कि जगत् का जो भी कुछ बनाव है, वह वस्तुतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है; जो कुछ भी है, वह सब मेरे ही अनेक रूप हैं (७)। हे कौन्तेय! जल में रस मैं हूँ, सूर्य और चन्द्रमा में ज्योति (मैं) हूँ; सब वेदों में ओंकार मैं हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व मैं हूँ।

जो कामनाएँ की जाती हैं, चाहे वे शारीरिक- विषय भोग आदि की हों या पारमार्थिक कल्याण की, उनमें पृथक्ता का भाव भरा हुआ होता है और उनसे दूसरों की हानि होती है इसलिए वह राजस काम स्वाभाविक धर्म के विरुद्ध है (८-११)। और जो सात्विक और जो राजस तथा तामस भाव हैं, वे मुझ से ही हैं ऐसा जान; और यद्यपि वे मुझ में हैं परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् में जिन सत्व, रज और तम गुणों के तारतम्य से उत्पन्न अनन्त प्रकार की भिन्नताओं की प्रतीति होती है, वे तीनों गुण सबके आत्मा = परमात्मा ही की कल्पना हैं अर्थात् परमात्मा ही के संकल्प के खेल हैं। इसलिए परमात्मा ही उनका आधार और अवलम्ब है, परन्तु उनका आधार और अवलम्ब होता हुआ भी परमात्मा उनमें रुका हुआ एवं उन पर अवलम्बित नहीं है; क्योंकि यद्यपि कल्पना, कल्पना करने वाले पर अवलम्बित रहती है, परन्तु कल्पना करने वाला, अपनी कल्पना पर अवलम्बित नहीं रहता। इसलिए परमात्मा इन तीन गुणों के आधीन और इन पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु इनसे परे है और इनकी कमी-बेशी से उत्पन्न विकारों का उस पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। अपनी कल्पना से इनको सत्ता एवं स्फूर्ति-युक्त करता हुआ भी वह इनसे अलिप्त निर्विकार एवं सदा एक-सा रहता है (१२)। इन तीन गुणों के *(तारतम्य अर्थात् कमी-बेशी के)* भावों से यह सब जगत् मोहित हो रहा है, इसलिए इनसे परे मुझ निर्विकार को नहीं जानता; यह मेरी दैवी अर्थात् अलौकिक त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष मुझे ही भजते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं। तात्पर्य यह कि साधारण लोग सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा योग-माया के नाना नामों और नाना रूपों के बनाव में ही उलझे हुए रहते हैं, इसलिए इस बनाव के मूल आधार, इसके रचयिता सबके आत्मा = परमात्मा को नहीं जान सकते। जो माया के स्वामी महेश्वर यानी सबके आत्मा = परमात्मा की उपासना करते हैं, उनकी इस त्रिगुणात्मक माया और इसके फैलाव में आसक्ति नहीं रहती, अतः वे इससे ऊपर उठ जाते हैं; क्योंकि जो जिसकी दृढ़ता पूर्वक उपासना करता है, वह उसीको पाता है, अतः जो लोग माया और उसके कार्य की उपासना करते हैं, वे माया तक ही रहते हैं, और जो माया के परे, उसके स्वामी मायावी परमात्मा की उपासना करते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। जो किसी बाज़ीगर के अद्भुत खेल ही में मोहित रहते हैं, वे बाजीगर को नहीं जान सकते, परन्तु जो उस खेल को किसी बाजीगर अथवा खिलाड़ी की करामात होने का अनुमान करके उस खिलाड़ी को जानने का प्रयत्न करते हैं, वे उस खेल में आसक्ति न रख कर खिलाड़ी के पास पहुँच जाते हैं; फिर वह खेल उनको मोहित नहीं कर सकता (१३-१४)। जिनकी विचार-शक्ति माया से नष्ट हो गई है, ऐसे

होता है कि जो कुछ है सो सब परमात्मा ही है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है— इस निश्चय से सबके साथ निःस्वार्थ भाव से प्रेम करने रूपी परमात्मा की भक्ति करते हैं। यद्यपि पूर्वकथित कुकर्मों में लगे रहने वाले आसुरी प्रकृति के देहाभिमानी एवं स्वार्थी लोगों की अपेक्षा ये चारों प्रकार के भक्त उदार अथवा उत्तम हैं, क्योंकि ये अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए दूसरों की हानि नहीं करते, किन्तु दूसरों का उपकार करते हैं; और इनकी सबके आत्मा = परमात्मा में श्रद्धा होने के कारण ये उसकी उपासना करते हैं जिससे इनका देहाभिमान कम होता है और देह से संबंध रखने वाले पदार्थों में ममत्व का त्याग भी यथायोग्य अवश्य ही होता है, परन्तु इन चारों में ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका अन्तःकरण निरन्तर सबके एकत्व-भाव परमात्मा में ही लगा रहता है और उसको सर्वत्र परमात्मा ही दृष्टिगोचर होता है अर्थात् वह सबको परमात्मा ही का स्वरूप अनुभव करता है, अतः उसका द्वैत-भाव निवृत्त हो जाता है; फलतः उसको सब अपने आत्मीय जनों की तरह अत्यन्त प्यारे लगते हैं, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वह भी सबको प्यारा लगता है और उसकी स्थिति परमात्मा में हो जाती है (१६–१८)। बहुत जन्मों के अनन्तर ज्ञानवान् पुरुष, इस अनुभव के दृढ़ हो जाने पर कि "सब कुछ वासुदेव ही है", मुझमें मिल जाता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् ऐसे महान् आत्मा विरले ही होते हैं। तात्पर्य यह कि अनेक जन्मों में अभ्यास करते-करते ज्ञानवान् भक्त को जब पूरी तरह यह अनुभव हो जाता है कि "जो कुछ है सब परमात्मा ही है" तो उसे परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं भासता और तब वह स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाता है। परन्तु इस तरह सबकी एकता के परमात्म-भाव में स्थित होने वाला ज्ञानी भक्त कोई विरला ही होता है (१९)। (नाना प्रकार की) कामनाओं से विक्षिप्त बुद्धि वाले लोग, (उपासना के) जिस-जिस नियम में उनकी प्रकृति उन्हें प्रेरित करती है, उस-उस का अनुसरण करके, (मुझ से) भिन्न देवताओं की उपासना करते हैं। जो-जो (देव-भक्त) जिस-जिस रूप की श्रद्धा-पूर्वक आराधना करना चाहता है, उस उस (देव-भक्त) की श्रद्धा 'मैं' उस (देवता) ही में दृढ़ कर देता हूं। उस श्रद्धा से युक्त वह (देव भक्त) उस (देवता) की आराधना करता है और उससे उसकी वे कामनाएँ मेरे ही निर्दिष्ट किये हुए विधानानुसार पूर्ण होती हैं। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा = परमात्मा तो एक ही है परन्तु जिन लोगों की बुद्धि धन, पुत्र, कुटुम्ब, मान, मर्यादा आदि इहलौकिक पदार्थों, विषय-भोगों और स्वर्गादि पारलौकिक सुखों की अनेक प्रकार की कामनाओं में विक्षिप्त रहती है, वे उन कामनाओं की पूर्ति परमात्मा से भिन्न किन्हीं अदृष्ट शक्तियों यानी देवताओं से होने के भ्रम में पड़े हुए परमात्मा से भिन्न उन देवताओं की कल्पना करके अपनी अपनी स्वाभाविक रुचि

के अनुसार, उनके पूजन-अर्चन के नियम-उपनियम बना कर उनकी उपासना करते हैं; अर्थात् जिनकी जैसी प्रकृति होती है, उसी के अनुसार वे अपने अनुकूल गुणों की प्रधानता वाले देवता कल्पित कर लेते हैं, और जिस-तरह के आचरण अपने को अच्छे लगते हैं, तथा जो-जो खान-पान, रहन-सहन आदि नाना प्रकार के विषय अपने को प्यारे लगते हैं, वही आचरण और विषय उन देवताओं को अच्छे और प्यारे लगने का विश्वास करके उन आचरणों तथा विषयों की सामग्रियों द्वारा उन कल्पित देवताओं का अर्चन-पूजन करते हैं। जो जिस देवता की श्रद्धायुक्त उपासना करने लगता है, उसी में उसकी श्रद्धा दृढ़ हो जाती है, क्योंकि श्रद्धा मन से होती है और मन जिस विषय में लग जाता है, उसमें उसकी दृढ़ आसक्ति हो जाती है। उस अटल श्रद्धा के प्रसाद से ही उसकी कामनाओं की सिद्धि होती है। अपना-आप=आत्मा ही व्यष्टि के भाव से अनेक प्रकार की कामनाएँ करता है, आप ही मन रूप से देवताओं की कल्पना करके उनमें दृढ़ श्रद्धा करता है और आप ही अपनी श्रद्धा के प्रतिफल-स्वरूप उनका फल प्राप्त कर लेता है। सारांश यह कि यद्यपि सब-कुछ करने-कराने वाला अपना-आप—आत्मा ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई कुछ भी करने-कराने वाला नहीं है, परन्तु व्यष्टित्व के भाव में आसक्त अज्ञानी लोग सबके आत्मा=परमात्मा से भिन्न देवताओं को कामनाओं की पूर्ति करने वाला मानते हैं (२०-२२)। परन्तु उन अल्प-बुद्धि लोगों का वह (कामनाओं की पूर्ति-रूप) फल नाशवान् होता है; देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरी भक्ति करने वाले मुझ में आ मिलते हैं। तात्पर्य यह कि यद्यपि उपरोक्त देवताओं की उपासना के निमित्त को लेकर जो फल होता है, वह अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा के प्रसाद से ही होता है परन्तु उन मूर्ख लोगों की देवोपासना नाशवान् सांसारिक पदार्थों की कामनाओं को लेकर होती है, अतः उनका फल नाशवान् एवं दुःख-परिणाम वाले सांसारिक भोगों की प्राप्ति-रूप ही होता है। इसके अतिरिक्त उन देवोपासकों की गति उन देवताओं तक ही होती है, अर्थात् वे उन कल्पित रूपों में ही अटके रहते हैं; क्योंकि जिसका जिस विषय में मन लग जाता है वह उसी के अनुरूप हो जाता है। सबका आत्मा=परमात्मा, जो सब कल्पनाओं तथा सब रचनाओं का आधार और उनका स्वामी है, उसकी अनन्य-भाव से उपासना करने वाले परमात्मा में आ मिलते हैं, जिसमें सबका समावेश है (२३)। मूर्ख लोग मेरे अव्यय यानी सदा एक-सा रहने वाले अनुत्तम परम-भाव को न जान कर मुझ अव्यक्त को व्यक्ति-भावापन्न हुआ मानते हैं। तात्पर्य यह कि मैं (सबका आत्मा=परमात्मा) अज, अविनाशी, सर्वव्यापी, सब में एक समान तथा सदा एक-सा रहने वाला, देश,

काल एवं वस्तु-परिच्छेद से रहित, निर्विकार हूँ, और सब दृश्य-प्रपंच के अन्दर सद्-रूप से विद्यमान रहता हुआ भी मन, बुद्धि और इन्द्रियों के अगोचर हूँ; परन्तु बेसमझ लोग मुझ (परमात्मा) को उत्पत्ति-नाशवान् एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील *एक शरीर-विशेष ही मानते हैं; अथवा किसी लोक-विशेष, देश-विशेष अथवा स्थान-*विशेष में बैठा हुआ, किसी काल विशेष में व्यक्त अथवा प्रकट होकर सीमाबद्ध रहने वाला एक विशेष व्यक्ति मानते हैं। वे मूर्ख लोग मेरे वास्तविक स्वरूप—सब देश, सब काल, सब वस्तुओं और सब भावों में तथा सब व्यक्तियों में एक समान रहने वाले, सच्चिदानन्द-परब्रह्म, परिपूर्ण-भाव को नहीं जानते (२४)। मैं अपनी योग-माया से ढका हुआ, अर्थात् अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा रचे हुए आधिभौतिक, आधि-दैविक और आध्यात्मिक जगत् के नाना भांति के नाम-रूपात्मक बनावों से आच्छादित हुआ, सब लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता; (इसलिए) यह मूढ़ जनता, उत्पत्ति और विनाश से रहित मुझ (अनादि-अनन्त) को वस्तुतः नहीं जानती (२५)। हे अर्जुन! जो पहले हो चुके हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, उन सब भूत-प्राणियों को *मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी (यथार्थरूप से) नहीं जानता* (२६)। हे परंतप! हे भारत! संसार में सभी भूत-प्राणी इच्छा (राग) और द्वेष से उत्पन्न नाना प्रकार के द्वन्द्वों के मोह से मोहित हो रहे हैं (२७)। परन्तु जिन पुण्य-कर्म करने वाले पुरुषों के पापों का अन्त हो जाता है, वे द्वन्द्वों (परस्पर विरोधी भावों के जोड़ों) के मोह को छोड़ कर दृढ़ता पूर्वक मुझे भजते हैं (२८)। जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए जो मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को तथा सारे अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को भी जान लेते हैं (२९)। और वे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ सहित मुझको भी जान लेते हैं, तथा शरीर छूटते समय भी वे समाहित-चित्तवाले पुरुष मुझ परमात्मा को (सबके आत्मा-रूप से) जानते हैं (३०)। श्लोक २२ से ३० तक का तात्पर्य यह है कि साधारण लोग इन्द्रियों और मन में ही आसक्त रहते हैं, और इन्द्रियां तथा मन की योग्यता, उत्पत्ति और विनाशवान् तथा सुख-दुःख आदि नाना प्रकार के द्वन्द्वों अथवा भिन्नता के भावों से परिपूर्ण जगत् के परिवर्तनशील दृश्य अथवा बनाव ही को विषय करने की होती है, अतः वे इस बनाव की अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष करके द्वन्द्वों में उलझे रहते हैं। आत्मा अथवा परमात्मा को विषय करने की योग्यता इन्द्रियों और मन में नहीं होती, क्योंकि आत्मा अथवा परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और इन्द्रियां, मन आदि सबका कारण, सबका आधार, सबका प्रेरक और सबकी सत्ता एवं चेतनता-स्वरूप है, अर्थात् इन्द्रियों, मन आदि में जो सत्ता और चेतनता है, वह सब आत्मा की है और इनको अपने-अपने विषयों का जो ज्ञान होता है,

सूक्ष्म शक्तियाँ, अपरा प्रकृति अर्थात् परमात्मा की इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया का चर एवं जड़ माना जाने वाला भाव है। इस भाव को क्षेत्र भी कहते हैं (गी० अ० १३ श्लो० ४-६)। यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील, अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाला नामरूपात्मक भाव है। परमात्मा की इस अपरा प्रकृति में इन्द्रियों से प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले जगत् के सब स्थूल यानी आधिभौतिक पदार्थों और भावों का, तथा प्रत्येक पदार्थ एवं भाव के अन्दर रहने वाली उनकी सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियों का समावेश है। परमात्मा की दूसरी परा प्रकृति है, जो उसकी इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया का अचर एवं चेतन माना जाने वाला अध्यात्म-भाव है। यह परा प्रकृति अथवा चेतन माना जाने वाला अध्यात्म-भाव सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है, तथा अपरिवर्तनशील है, अर्थात् अपरा प्रकृति के नाना भावों-रूप जगत् के बदलते रहने पर भी यह परा प्रकृति रूप चेतन भाव ज्यों का त्यों रहता है। अपरा प्रकृति के नाना भावों में जो नियता, सत्यता, चेतनता और सुख रूपता आदि प्रतीत होती हैं, वे सब परमात्मा की इस परा प्रकृति अर्थात् अध्यात्म-भाव की हैं। यह परा प्रकृति उपरोक्त सब स्थूल यानी आधिभौतिक और सूक्ष्म यानी आधिदैविक जगत् में कारण-रूप से ओत-प्रोत पिरोयी हुई है और यह सारे जगत् का जीवन और सारे जगत् का आधार है। इस परा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं (गी० अ० १३ श्लो० १-२)।

जिस तरह समष्टि-आत्मा = परमात्मा अपनी इच्छा से एक से अनेक रूप होता है, वही स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्यक्ष देखने में आता है। प्रत्येक व्यक्ति पहले अकेला ही होता है, पर वह जब एक से अनेक होने की इच्छा करता है, तब नर मादा को और मादा नर को प्राप्त होकर दो होते हैं और फिर उनमे अनेक संतानों का फैलाव होता है। जो कोई इस तरह नर-मादा के संयोग का फैलाव नहीं करता, वह भी अनेकों के समूह अथवा समाज में रहना अवश्य चाहता है। एक से अनेक होने की यह इच्छा स्वाभाविक है। इस तरह आत्मा अथवा परमात्मा ही अपनी इच्छा-शक्ति अथवा दैवी माया से अपरा और परा प्रकृति, अथवा चर और अचर, अथवा जड़ और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष रूप होकर जगत् का फैलाव करता है। दूसरे शब्दों में सबका आत्मा = परमात्मा आप ही स्थावर और जंगम अथवा चर और अचर सृष्टि के अनन्त प्रकार के रूपों का बनाव करता है और आप ही उन सबमें चेतन रूप से प्रविष्ट होकर सबको सत्ता एवं स्फूर्ति युक्त करता है। जिस तरह माला के मणिये सूत के आधार पर घूमते रहते हैं, अथवा जिस तरह कुए में से पानी निकालने के अरहट में अनेक कलश रस्से में पिरोये हुए घूमते हैं,

कारण ही वे तपस्वी कहलाते हैं, इसलिए तपस्वियों में उनके एकत्व-भाव तप रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। सारी सृष्टि का सनातन कारण "मैं" हूँ, इसलिए सब भूत-प्राणियों में उनके कारण रूप एकत्व-भाव से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। बुद्धिमानों का अस्तित्व बुद्धि पर निर्भर है, अर्थात् बुद्धि होने से ही वे बुद्धिमान् कहलाते हैं; इसलिए बुद्धिमानों में उनके एकत्व-भाव बुद्धि रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। तेजस्वियों का अस्तित्व तेज पर निर्भर है, अर्थात् तेज के होने से ही वे तेजस्वी कहलाते हैं; अतः तेजस्वियों में उनके एकत्व-भाव तेज रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। बलवानों का अस्तित्व बल पर निर्भर है, अर्थात् बल होने से ही वे बलवान् कहलाते हैं; अतः बलवानों में उनके एकत्व-भाव बल रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा परिपूर्ण हूँ। और सब भूत-प्राणियों में सृष्टि के विस्तार की जो स्वाभाविक इच्छा अथवा काम होता है, उन सबकी स्वाभाविक इच्छा अथवा काम रूप से "मैं" आत्मा अथवा परमात्मा सबमें परिपूर्ण हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् के सभी पदार्थों का अस्तित्व सबके एकत्व-भाव पर निर्भर है, और वह एकत्व-भाव सबके अन्दर रहने वाला "मैं" सबका आत्मा = परमात्मा ही हूँ। नाना नामों और नाना रूपों में विभक्त चराचर जगत् मेरे एकत्व-भाव के आधार पर ही स्थित हो रहा है।

जिन स्थूल पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश-रूप पंच-महाभूतों का प्रत्येक *स्थूल पिण्ड, अर्थात् स्थावर अथवा जंगम शरीर होता है*, वे ही पंच-महाभूत सब शरीरों अथवा पिण्डों के समूह-रूप जगत् में होते हैं, इसलिए भौतिक दृष्टि से सब स्थूल पदार्थों में एकता है, और प्रत्येक स्थूल पिण्ड अथवा शरीर के अन्दर जो पंच-महाभूतों की सूक्ष्म तन्मात्राएँ, इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्ति रूप से रहती हैं, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं अन्य सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ होती हैं, जिनसे प्रत्येक शरीर के भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव तथा व्यवहार होते हैं, वे ही सूक्ष्म *आधिदैविक शक्तियाँ (जिनको देवता कहते हैं)*, सारे जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार की हलचल कर रही हैं, अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही आधिदैविक शक्तियाँ सूक्ष्म रूप से सब काम कर रही हैं। इसलिए आधिदैविक दृष्टि से भी सबकी एकता है। स्थूल पंच महाभूत और सूक्ष्म आधिदैविक शक्तियाँ अथवा देवता लोग परमात्मा की अपरा प्रकृति हैं; और परमात्मा की परा प्रकृति इन सबका जीवन अथवा अन्तरात्म-तत्त्व है। इसलिए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भाव *अतः एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक कल्पित भाव और रूप हैं।* तात्पर्य यह कि जगत् में सब प्रकार से सम्पूर्ण एकता है, और जो अनन्य प्रकार के

भेद प्रतीत होते हैं, उनका कारण सबके आत्मा अथवा परमात्मा की उक्त इच्छा, प्रकृति अथवा माया के सत्व, रज और तम गुणों का तारतम्य (कमी बेशी) यानी गुण-वैचित्र्य है; और जब कि ये तीन गुण भी सबके आत्मा = परमात्मा की इच्छा, कल्पना अथवा माया अथवा प्रकृति के भाव हैं, तो सबका आत्मा = परमात्मा ही वस्तुतः इन सबका आधार है। कल्पना अपने आधार—कल्पना करने वाले के आश्रित रहती है, कल्पना करने वाले से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं होता; परन्तु कल्पना करने वाला कल्पना के आश्रित नहीं होता, न वह किसी कल्पना में रुका हुआ ही रहता है। इसलिए यद्यपि परमात्मा इन त्रिगुणात्मक प्रकृति की कल्पित भिन्नताओं का आधार है, फिर भी वह इनके अन्दर रुका हुआ नहीं है। परमात्मा के किसी अंश में कल्पनाओं के उठने और लय होने के साथ-साथ गुण-वैचित्र्य के नाना प्रकार के बनाव बनते और बिगड़ते रहते हैं, परन्तु सबका एकत्व-भाव परमात्मा अपने-आपमें ज्यों का त्यों रहता है। उन कल्पित भिन्नता के बनावों के होने, मिटने तथा बदलने से सबके एकत्व-भाव परमात्मा में कोई अन्तर नहीं आता, न कोई विकार होता है। जिस तरह समुद्र में अनन्त लहरें उठती और मिटती रहती हैं, परन्तु सारी लहरों का एकत्व-भाव पानी ज्यों का त्यों रहता है; अथवा आकाश में हवा के अनेक रूप होते और मिटते रहते हैं, परन्तु आकाश सब दशाओं में ज्यों का त्यों रहता है; इसी तरह सबके एकत्व-भाव परमात्मा में त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनाव होने और मिटते रहते हैं, परन्तु परमात्मा ज्यों का त्यों रहता है।

इस प्रकार आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब भावों की एकता का [illegible] ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। [illegible]

परन्तु यह सबकी एकता का विज्ञान सहित ज्ञान इतना सूक्ष्म और गहन है कि इसका समझ में आना और इसमें मन की स्थिति होना अत्यन्त ही कठिन है। साधारण लोग अपने और अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण आदि में ही इतने निमग्न रहते हैं कि उक्त ज्ञान-विज्ञान के सूक्ष्म विचार के लिए न तो उन्हें अवकाश मिलता है और न उनकी उसमें प्रवृत्ति ही होती है। जिन प्रत्यक्ष-वादी लोगों का देह-अभिमान अत्यन्त बढ़ा हुआ और बहुत दृढ़ होता है, वे इन्द्रियगोचर भौतिक पदार्थों ही में आसक्त रहते हैं और इन्द्रियों से प्रतीत नहीं होने वाली सूक्ष्म वस्तुओं में विश्वास नहीं करते। वे इस बात को सुनना ही पसंद नहीं करते कि इस नाना-भावापन्न स्थूल जगत् के भीतर कोई एक सूक्ष्म एवं सम शक्ति भरी हुई है, जिससे सबका अस्तित्व बना हुआ है। वे तो यही मानते हैं कि जैसा हमको हमारी इन्द्रियों से प्रतीत होता है, वैसा ही वस्तुतः सब अलग-अलग है। इससे परे इस नानात्व को एक करने वाली कोई सूक्ष्म-शक्ति नहीं है। "मैं क्या हूँ", "यह जगत् क्या है", "मरना-जन्मना आदि परिवर्तन क्यों होते हैं", "जगत् और शरीर जैसे दीखते हैं वैसे ही हैं अथवा इनमें और भी कोई अदृष्ट तत्त्व है"? इत्यादि विषयों का अनुसंधान करने की जिज्ञासा उनके मन में उत्पन्न ही नहीं होती।

जिन थोड़े से लोगों को इस विषय की जिज्ञासा होती है, उनमें से कई लोग तो भौतिक अनुसंधान से आगे बढ़ना नहीं चाहते, अर्थात् इन्द्रियगोचर पदार्थों का भौतिक विश्लेषण करके उनके मौलिक तत्त्वों की खोज करने के भौतिक विज्ञान तक ही रहते हैं; और भौतिक तत्त्वों के अनेक होने के कारण वे इस बात को नहीं मानते कि उनमें वास्तविक एकता हो सकती है। वे लोग स्थूल शरीरों को सुख देने वाली भौतिक उन्नति तो करते हैं, परन्तु सबकी एकता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए वे आध्यात्मिक उन्नति करने में असमर्थ रहते हैं।

जो लोग उपरोक्त आधिभौतिकता से आगे बढ़कर आधिदैविकता में विश्वास करते हैं, उनका देह अभिमान कुछ कम हो जाता है और वे इन्द्रियों से प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाले अनन्त प्रकार के सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति नाशवान तथा प्रतिक्षण परिवर्तन-शील होने के कारण सत्य नहीं मानते किन्तु वे सत्ता विज्ञान को सत्य मानते हैं और इसी पर विचार रहते हैं। भिन्न भिन्न आत्मा व मन के संकल्प और स्वभाव भिन्न भिन्न होते हैं और बुद्धि के विचार भी भिन्न भिन्न होते हैं तथा कर्मों के भोग भी पृथक् पृथक् होते हैं इसलिए सबकी एकता का सिद्धान्त उनकी समझ में भी नहीं बैठता। उनके मत में एक जीव दूसरे से अलग और बिल्कुल भिन्न भिन्न है और जगत् के रचयिता के स्थूल रूप के अदृश्य होने पर भी उसमें भी सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, व उनकी स्थूल

आसक्त तो रहता ही है, वह उसका स्वाभाविक धर्म है; परन्तु भिन्नता के भावों में आसक्ति रखना हानिकर है, क्योंकि वे भिन्नता के भाव कल्पित एवं परिवर्तनशील होने के कारण झूठे यानी मिथ्या हैं और मिथ्या पदार्थों में आसक्ति रखने से धोखा होता है। अस्तु, पृथक्ता के भावों से मन को हटाकर उसे सबके एकत्व-भाव = परमात्मा में लगाना चाहिए; अर्थात् मन में इस बात का विश्वास करना चाहिए कि एक ही परमात्मा सब चराचर जगत् में समान भाव से व्यापक है और यह जगत् एक ही परमात्मा के अनन्त रूप हैं—इस विश्वास से परमात्मा की एकता अथवा सर्वव्यापकता का चिन्तन करते रहना चाहिए। जब एक ही परमात्मा की सर्वव्यापकता का दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब किसी भी भूत-प्राणी से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि के भाव नहीं रहते, क्योंकि सबको एक ही परमात्मा का स्वरूप जानने से परमात्मा के साथ ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि हो नहीं सकते, अतः सबके साथ प्रेम* का बर्ताव होने लगता है। यही परमात्मा की सच्ची उपासना है। इस तरह सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना का अभ्यास करते-करते सबकी एकता का ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और अन्त में स्वयं अपने साथ सबका अभेद-ज्ञान होकर सर्वात्म-भाव में स्थिति हो जाती है, अर्थात् इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे अपने आप = आत्मा का अनुभव होकर अखिल विश्व अपना ही स्वरूप प्रतीत होने लगता है। परन्तु जिनका मन सांसारिक पदार्थों और विषय-भोगों अथवा स्वर्ग, वैकुंठ अथवा मुक्ति को प्राप्त करने की नाना प्रकार की कामनाओं ही में उलझा रहता है, वे लोग उन कामनाओं की पूर्ति के लिए परमात्मा की भेदोपासना करते हैं, यानी परमात्मा को कोई विशेष व्यक्ति मान कर तथा उसके साथ व्यक्तित्व की उपाधियाँ लगाकर, एवं स्वयं दीन, दास अथवा भिखारी बन कर, गरज़-खुशामद से अथवा पदार्थों द्वारा पूजन-अर्चन से उसे प्रसन्न करके अपनी उक्त कामनाओं की पूर्ति उससे करवाना चाहते हैं;‡ अथवा परमात्मा से भिन्न देवताओं की कल्पना करके उनकी उपासना से अपनी उक्त कामनाओं की सिद्धि की आशा करके ये लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार नाना प्रकार की सामग्रियों द्वारा उन देवताओं का अर्चन-पूजन करते हैं। जो जिस कल्पित देवता की उपासना में श्रद्धा रखता है, वह एक प्रकार से उस देवता का पशु हो जाता है, और जिस प्रकार मनुष्य अपने पशु को अपने कब्ज़े से छोड़ना नहीं चाहता, उसी तरह वे कल्पित देवता भी अपने अन्ध-श्रद्धालु उपासक रूपी पशु को छोड़ना नहीं चाहते,

* प्रेम के बर्ताव का स्पष्टीकरण आगे बारहवें अध्याय में देखिए।

‡ यथार्थ और अयथार्थ उपासना के भेद का विशेष स्पष्टीकरण नवमें अध्याय में देखिए।

जाती। इस उपासक का ध्यान अपने माने हुए इष्ट देवता ही में सदा उलझा रहता है। अतः कामनाओं की सिद्धि के लिए उपासना करने वाले इसी तरह गोते खाते रहते हैं। इनके पृथक्ता के भाव और दूसरों के साथ राग-द्वेष आदि कभी नहीं मिटते। तात्पर्य यह कि जो लोग इन कामनाओं से रहित होकर परोपकार अथवा लोक-सेवा के काम करते हैं, उन्हीं के मन के पृथक्ता के भाव और राग-द्वेष आदि शनैः शनैः कम होते रहते हैं और उन्हीं का मन परमात्मा की यथार्थ उपासना में लगता है, जिसके प्रसाद से वे समय पाकर परमात्मा के नाना भावों की एकता का अनुभव करके स्वयं परमात्म-भाव की प्राप्ति कर लेते हैं, और यह अनुभव उनको अन्त समय में भी बना रहता है, जिससे वे फिर परवशता से जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आते।

॥ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥

आठवाँ अध्याय

सातवें अध्याय में भगवान् ने भक्ति अथवा उपासना के विधान में अपनी सर्वरूपता का वर्णन किया, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक एकता का विज्ञान सहित ज्ञान कहा; और उसी प्रसंग में अध्याय के अन्त में अपने अनेक भावों अर्थात् ब्रह्म-भाव, अध्यात्म-भाव, कर्म-भाव, अधिभूत-भाव, अधिदैव-भाव और अधियज्ञ-भाव का संक्षेप से उल्लेख करके, फिर मनुष्य के मरने के समय की स्थिति का भी कुछ उल्लेख किया था। अब अर्जुन के पूछने पर इस अध्याय में भगवान्, पहले अपने उन भावों का खुलासा करके, फिर मनुष्य के मरने के बाद उसकी क्या दशा होती है, इस विषय की विस्तृत व्याख्या करते हैं; क्योंकि पारलौकिक विज्ञान के बिना केवल इस लोक के विज्ञान सहित ज्ञान का विवेचन अधूरा ही रह जाता; इसलिए इस विषय का अच्छी तरह खुलासा इस प्रकरण में होना आवश्यक था। इसी प्रसंग में भगवान् जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का रहस्य भी संक्षेप से कहते हैं।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्
है ? कर्म क्या है ? और अधिभूत किसे कहते हैं ? (तथा) अधिदैव क्या क
जाता है (१) ? हे मधुसूदन ! यहाँ इस देह में अधियज्ञ कौन किस प्रकार है
और समाहित-चित्तवाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार से जाने ज
हो, अर्थात् जिनका मन आत्मा अथवा परमात्मा में लग जाता है, वे शरीर छ
समय आप (परमात्मा) को कैसा जानते हैं (२) ? श्री भगवान् बोले कि (उत्पत्
नाश, वृद्धि, ह्रास आदि विकारों से रहित, एवं निरन्तर बदलने वाली प्रकृति से प
सदा एक-सा रहने वाला) परम अक्षर भाव ब्रह्म है; स्वभाव अर्थात् प्रत्येक वस्तु
अपने-आप का भाव अथवा हरएक प्राणी के शरीर में "मैं" रूप में रहने वा
व्यष्टि आत्म-भाव अथवा जीव-भाव अध्यात्म कहा जाता है; भूत-भाव के उद्
करने वाले विसर्ग, अर्थात् स्थावर-जंगम रूप जगत् के अनन्त प्रकार के भावों
उत्पत्ति, पालन और संहार रूप सृष्टि-व्यापार का नाम कर्म है (३) । क्षर अर्थ
उपजने, मिटने, घटने, बढ़ने वाला निरन्तर परिवर्तनशील भाव अधिभूत है;
पुरुष अर्थात् प्रत्येक शरीर और जगत् के व्यापारों को धारण करने वाली, स
आत्मा = परमात्मा की सूक्ष्म शक्तियों अथवा विभूतियों के रूप में प्रकट होने वा
देव-भाव अधिदैव है, (और) हे देहधारियों में श्रेष्ठ ! इस देह में अधियज्ञ (उपास्
"मैं" ही हूँ, अर्थात् हाड़, मांस, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों के पिण्ड-रूप
देह को पवित्र करने वाला तथा इसका धारण-पोषण करने वाला, "मैं" रूप से प्रत्
देह में स्थित, सबका परम प्यारा अन्तरात्मा ही परम वन्दनीय एवं परम उपा
अधियज्ञ है (४) । और जो अन्तकाल में केवल मुझे ही स्मरण करता हुआ श

छोड़ कर जाता है, वह मेरे भाव को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है।
यह कि अर्जुन ने पूछा था कि समाहित-चित्त वाला पुरुष अन्त समय में आपको
प्रकार से जानता है; उसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि अन्त समय में
सब विकारवान् शरीरों की आसक्ति से हट कर केवल मेरे चिन्तन में लगा रहता
वह मुझ सबके आत्मा में मिल कर परमात्मा-स्वरूप ही हो जाता है; अतः उ
लिए मुझे जानने का प्रश्न ही नहीं रहता; जानना वहाँ होता है जहाँ कोई दू
होता है; जब अपना ही स्वरूप हो जाय तो कौन किसको जाने (५)! हे कौन्तेय
जो अन्त समय में जिस किसी भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता
वह सदा उस भाव से भावित होने से, उसी को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि
मनुष्य का मन जिन-जिन भावों अथवा पदार्थों में सदा रुचि से लगा रहता है,
उन्हीं के संस्कार उसके चित्त पर वासना-रूप से अंकित होते रहते हैं और मरते
समय उन्हीं संस्कारों अथवा वासनाओं की स्फूर्ति हो जाती है; फिर मरने के
अनन्तर उन्हीं संस्कारों अथवा वासनाओं के अनुसार उसकी गति होती है अर्थात्
उन्हीं संस्कारों अथवा वासनाओं के अनुसार उसका परलोक बनता है और वहाँ
वासनामय शरीर से वह भोग भोगता है; और परमात्मा में मन लगा रहे तो
परमात्मा-स्वरूप हो जाता है (६)। इसलिए तू सब काल में मेरा स्मरण करता
रह और युद्ध भी कर; मन और बुद्धि को मुझ में लगा देने से तू निःसन्देह मुझ
ही को प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि मन और बुद्धि को सबके एकत्व-भाव परमात्मा में
लगाये रख कर अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करते रहने से मनुष्य
परमात्म-स्वरूप हो जाता है (७)। हे पार्थ! अभ्यास-योग से युक्त होकर, अर्थात्
मुझ परमात्मा का सदा स्मरण रखता हुआ सांसारिक व्यवहार करने के अभ्यास में
निरन्तर लगा रह कर, तथा चित्त को दूसरी तरफ न जाने देकर, दिव्य परम पुरुष
(परमात्मा) का चिन्तन करते रहने से अर्थात् सब-कुछ परमात्म-स्वरूप समझने से
मनुष्य (उसे ही) प्राप्त होता है (८)। जो मनुष्य मृत्यु के समय भक्ति से युक्त
होकर, अथवा योगाभ्यास के बल से मन को निश्चल करके, दोनों भौंहों के बीच
में प्राण वायु को अच्छी तरह ठहरा कर कवि अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुराण
अर्थात् सबसे प्राचीन, अनुशासन करने वाले अर्थात् सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी
सूक्ष्म सबके धारण करने वाले अचिन्त्य रूप अर्थात् मन के अगोचर स्वरूप वाले
अन्धकार अर्थात् अज्ञान से परे आदित्यवर्ण अर्थात् प्रकाशस्वरूप (परमात्मा) का
चिन्तन करता है वह उस दिव्य परम-पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त होता है (९-१०)।
द के जानने वाले जिसे अक्षर कहते हैं, वीतराग अर्थात् आसक्ति-रहित यति जिसमें
वेश करते हैं (और) जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य-व्रत का आचरण करते हैं वह

पद यानी परमात्म-भाव में तुझे संक्षेप से बतलाता हूँ (११)। (इन्द्रियरूपी) सब द्वारों को रोक कर, मनको हृदय में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में ठहरा कर, योग-धारणा में स्थित हुआ, (और) "ॐ" इस एकाक्षर ब्रह्म के उच्चारण यानी जाप-पूर्वक मुझ परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो शरीर छोड़ता है, उसे परमगति प्राप्त होती है (१२-१३)। हे पार्थ! जो निरंतर अनन्य-भाव से मेरा नित्य-प्रति स्मरण करता रहता है, उस नित्य युक्त अर्थात् सदा एकत्व-भाव में जुड़े हुए योगी को मैं सुलभ अर्थात् सहज ही प्राप्त हूँ (१४)। मुझे प्राप्त होकर महात्मा लोग दुःखालय अर्थात् जन्मने, मरने, बुढ़ापे और रोग आदि नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए, (एवं) अशाश्वत अर्थात् क्षण-भंगुर (निरन्तर बदलते रहने वाले) पुनर्जन्म (दूसरे शरीर) को नहीं पाते, यानी फिरसे किसी योनि में नहीं आते; क्योंकि उन्हें परम सिद्धि मिल जाती है अर्थात् वे मुझ परमात्मा में मिल जाते हैं (१५)। हे अर्जुन! ब्रह्म-लोक-पर्यन्त (स्वर्गादि सारे) लोक पुनरावर्तनशील हैं, अर्थात् सबसे ऊँचा जो ब्रह्मलोक है वहाँ गये हुओं को भी कभी न कभी लौट कर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझ (परमात्मा) में मिल जाने से फिर जन्म नहीं होता (१६)। जो अहो-रात्र के ज्ञाता, अर्थात् काल-विज्ञान के जानने वाले पुरुष हैं, वे हजार युग-पर्यन्त ब्रह्मा का जो दिन है और हजार युगों की (ब्रह्मा की) जो रात है उसके रहस्य को जानते हैं, अर्थात् काल विज्ञान के पण्डित—ज्योतिर्विद् लोगों को विदित है कि ब्रह्मा का दिन हजार युगों का और रात भी हजार युगों की होती है (१७)। (ब्रह्मा के) दिन के आने पर अव्यक्त (कारण प्रकृति) से, सब व्यक्तियाँ (स्थावर-जंगम सृष्टि) प्रकट होती हैं; और रात के आने पर उसी अव्यक्त संज्ञावाली (कारण-प्रकृति) में सबका प्रलय हो जाता है। इस तरह, हे पार्थ! वही यह भूत-प्राणियों का समुदाय बार-बार हो-होकर रात के आने पर विवशता पूर्वक (नियत रूप से) लय होता है, और दिन होने पर प्रकट होता रहता है। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा का समष्टि-संकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति, अव्यक्त-भाव-रूप सुषुप्ति अवस्था से उठ कर व्यक्त-भाव रूप स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में आती है, यानी कारण-भाव से कार्य-भाव होती है तब उससे नाना भावों वाली सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि, मकड़ी के तार अथवा आतिशबाज़ी के दिखाव की तरह प्रकट हो जाती है; और जब समष्टि संकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति पुनः अव्यक्त भाव-रूप सुषुप्ति अवस्था में जाती है, तब नाना भावों वाली सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि का उस अव्यक्त (कारण-भाव) में फिर लय हो जाता है। ब्रह्मा, प्रकृति, स्वभाव, माया, कारण आदि अनेक नाम सबके आत्मा = परमात्मा के समष्टि संकल्प ही के हैं। जिस तरह समष्टि जगत् अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और लय

पद यानी परमात्म-भाव मैं तुझे संक्षेप से बतलाता हूँ (११)। (इन्द्रियरूपी) सब द्वारों को रोक कर, मनको हृदय में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में ठहरा कर, योग धारणा में स्थित हुआ, (और) "ॐ" इस एकाक्षर ब्रह्म के उच्चारण यानी जाप-पूर्वक मुझ परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो शरीर छोड़ता है, उसे परमगति प्राप्त होती है (१२-१३)। हे पार्थ! जो निरंतर अनन्य-भाव से मेरा नित्य-प्रति स्मरण करता रहता है, उस नित्य युक्त अर्थात् सदा एकत्व-भाव में जुड़े हुए योगी को मैं सुलभ अर्थात् सहज ही प्राप्त हूँ (१४)। मुझे प्राप्त होकर महात्मा लोग दुःखालय अर्थात् जन्मने, मरने, बुढ़ापे और रोग आदि नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए, (एवं) अशाश्वत अर्थात् क्षण-भंगुर (निरन्तर बदलते रहने वाले) पुनर्जन्म (दूसरे शरीर) को नहीं पाते, यानी फिर वे किसी योनि में नहीं आते; क्योंकि उन्हें परम सिद्धि मिल जाती है अर्थात् वे मुझ परमात्मा में मिल जाते हैं (१५)। हे अर्जुन! ब्रह्म-लोक-पर्यन्त (स्वर्गादि सारे) लोक पुनरावर्तनशील हैं, अर्थात् सबसे ऊँचा जो ब्रह्मलोक है वहाँ गये हुओं को भी कभी न कभी लौट कर इस लोक में जन्म लेना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझ (परमात्मा) में मिल जाने से फिर जन्म नहीं होता (१६)। जो अहो-रात्र के ज्ञाता, अर्थात् काल-विज्ञान के जानने वाले पुरुष हैं, वे हजार युग-पर्यन्त ब्रह्मा का जो दिन है और हजार युगों की (ब्रह्मा की) जो रात है उसके रहस्य को जानते हैं; अर्थात् काल-विज्ञान के पण्डित—ज्योतिर्विद् लोगों को विदित है कि ब्रह्मा का दिन हजार युगों का और रात भी हजार युगों की होती है (१७)। (ब्रह्मा के) दिन के आने पर अव्यक्त (कारण-प्रकृति) से, सब व्यक्तियाँ (स्थावर-जंगम सृष्टि) प्रकट होती हैं; और रात के आने पर उसी अव्यक्त संज्ञावाली (कारण-प्रकृति) में सबका प्रलय हो जाता है। इस तरह, हे पार्थ! वही यह भूत-प्राणियों का समुदाय बार-बार हो-होकर रात के आने पर विवशता पूर्वक (नियत रूप से) लय होता है, और दिन होने पर प्रकट होता रहता है। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा का समष्टि-संकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति, अव्यक्त-भाव-रूप सुषुप्ति अवस्था से उठ कर व्यक्त-भाव रूप स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में आती है, यानी कारण-भाव से कार्य-भाव होती है तब उससे नाना भावों वाली सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि, मकड़ी के तार अथवा बाइस्कोप के दिखाव की तरह प्रकट हो जाती है; और जब समष्टि संकल्प रूप ब्रह्मा अथवा प्रकृति पुनः अव्यक्त भाव-रूप सुषुप्ति अवस्था में जाती है, तब नाना भावों वाली सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि का उस अव्यक्त (कारण-भाव) में फिर लय हो जाता है। ब्रह्मा, प्रकृति, स्वभाव, माया, कारण आदि अनेक नाम सबके आत्मा = परमात्मा के समष्टि संकल्प ही के हैं। जिस तरह समष्टि जगत् अथवा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और लय

वर्णन करते हुए भगवान् ने सातवें अध्याय में विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण किया, अर्थात् इस नाना-भावापन्न जगत् को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अपना अपने-आपके अनेक रूप बताया। उसी विज्ञान सहित ज्ञान का विशेष खुलासा अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में फिर से करते हुए भगवान् (व्यष्टि) शरीर की मृत्यु और पुनर्जन्म के वर्णन के सिलसिले में (समष्टि) जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का विज्ञान भी कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि ब्रह्म-भाव, जीव-भाव, कर्म-भाव, भौतिक जगत्-भाव, सूक्ष्म देव-भाव आदि जितने भाव हैं, वे सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप "मेरे" अनेक भाव हैं, और *परमात्मा-स्वरूप "मैं", जो सबका अपना आप है,* वह सब शरीरों में "अहं" अथवा "मैं" रूप से विद्यमान है। वह "अहं" अथवा "मैं" रूप से सब शरीरों में रहने वाला परमात्मा ही सब नाशवान् नाम-रूपात्मक भावों अथवा पदार्थों का अविनाशी आधार, सबका अवलम्ब, सबको सत्ता एवं स्फूर्ति देने-वाला है, अर्थात् उसीसे सबका अस्तित्व और सबकी हलचल होती है—वही सबका अस्तित्व है। जब "मैं" अथवा "अपना-आप" होता है, तब ही दूसरों की स्थिति होती है—"मैं" अथवा "अपने-आप" के बिना अन्य कुछ भी नहीं होता। "मैं" रूप से शरीर में रहने वाला, सबका अन्तरात्मा, सबका "अपना-आप" वस्तुतः परमात्मा है। अतः वह सबका अपना-आप—परम पवित्र परमात्मा ही जानने, पूजने और उपासना करने योग्य है, और वही सबका प्यारा और सबकी अन्तिम गति है। जो व्यक्ति मरण-काल पर्यन्त अपने वास्तविक स्वरूप परमात्म-भाव का इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता रहता है, उसका जीव-भाव मिट जाता है और परमात्म-भाव में उसकी दृढ़ स्थिति हो जाती है। यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि इस शरीर के रहते भी मनुष्य की जिस विषय में निरन्तर लगन लगी रहती है, उसी को वह प्राप्त होता है। अतः इस शरीर को छोड़ने समय भी मन जिन विषयों में लगा रहता है और उसमें जो वासनाएँ रहती हैं, उन्हीं के अनुसार मरने के बाद वह उसी तरह का बनाव अपने लिए आगे जुटा लेता है, और उन्हीं के अनुसार वासनामय शरीर रचकर नाना प्रकार के कर्म करता और भोग भोगता है, परन्तु मरण समय मन उन्हीं विषयों में लगा रहता है जिनका अभ्यास जीवन काल में अधिक रहता है। यदि जीवन काल में मन में अधिकतर बुरी भावनाएँ उठती रहती हैं, बुरी संगति और बुरे आचरण होते रहते हैं तथा दूसरों की बुराई करने की प्रवृत्ति रहती है तो मरते समय चित्त शान्त नहीं रहता और अच्छी वासनाओं का उदय नहीं हो सकता किन्तु बुरे संकल्प और बुरी वासनाएँ ही उत्पन्न होती हैं। यदि जीवन काल में मन में शुभ संकल्प उठते रहते हैं अच्छी संगति और अच्छे कामों में प्रवृत्ति

सूक्ष्म और कारण शरीर, अथवा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत, अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान काल, अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, अथवा कर्ता कर्म और करण आदि त्रिपुटियों के एकत्व-भाव का वाचक है, इसलिए यह शब्द सच्चिदानन्द परमात्मा का वाचक है। अतः "ओंकार" के इस सर्वभूतात्मैक्य-भाव के अर्थ का चिन्तन करते हुए सदा इसका जाप करते रहने से अन्त समय में भी सबके एकत्व-भाव = परमात्मा ही का चिन्तन अथवा ध्यान बना रहता है, जिससे सब भेद-भाव जन्य उपाधियाँ मिट कर परम-पद परमात्म-भाव में स्थिति हो जाती है। जो इस तरह सदा अनन्य-भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं, अर्थात् जिनका अपने सहित सबको परमात्मा-स्वरूप ही चिन्तन किया करते हैं, वे स्वयं परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाते हैं और उस भाव को प्राप्त होने पर फिर उन्हें विवशता पूर्वक दुःख-रूप एवं क्षणिक नश्वर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता।

सबके एकत्व-भाव यानी सबके आत्मा = परमात्मा की प्राप्ति के सिवाय भेद-भाव की उपासना, अथवा धार्मिक क्रियाओं, अथवा शुभ कर्मों, अथवा अन्य साधनों से प्राप्त होने वाले ब्रह्म-लोक से लेकर इन्द्र-लोक, वरुण-लोक, सूर्य-लोक, गन्धर्व-लोक, पितृ-लोक आदि जितने भी ऊँचे लोक शास्त्रों में वर्णन किये गये हैं, वे सभी आवागमनशील हैं, अर्थात् उन सबमें पृथक्ता के भाव बने रहते हैं, जिससे वहाँ गये हुओं को भी समय पाकर लौटना पड़ता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य-भाव से ऊँचे माने जाने वाले इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देव भाव, पितृ भाव, यक्ष भाव, गन्धर्व-भाव आदि जितने ऊँचे पद हैं, उनको, वासनामय सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने पर भी मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु विवशता पूर्वक लौट कर इस मनुष्य-देह में आना पड़ता है; क्योंकि उन सब भावों में पृथक् व्यक्तित्व का भेद बना रहता है, और जहाँ व्यक्तित्व का भेद-भाव रहता है, वहाँ आना-जाना, उत्पत्ति-नाश आदि द्वन्द्व भी बने रहते हैं। अतः जब उन उच्च भावों को प्राप्त कराने वाले पुण्य कर्मों के संस्कार क्षीण हो जाते हैं, तब उस वासनामय सूक्ष्म शरीर को फिर से मनुष्य-शरीर धारण करना पड़ता है और फिर यहाँ पर जैसे कर्म किये जाते हैं और उनसे जैसे संस्कार बनते हैं, उन्हीं के अनुसार आगे के जन्म प्राप्त होते हैं। यह मनुष्य-देह ही सब तरफ जाने के लिए जंक्शन-स्टेशन (Junction-Station) है। सब तरफ जाने वाली गाड़ियाँ इसी स्टेशन पर मिलती हैं। इस मनुष्य-देह में ही जीवात्मा अपना भविष्य निर्माण कर सकता है और उन्नत अथवा अवनत गति का साधन कर सकता है। जो मनुष्य, इस देह में सबके अपने-आप = आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव कर लेता है, उस

कार्यों का कारण, सबका आत्मा = परमात्मा यानी सबका वास्तविक अपना-आप, सब व्यक्त पदार्थों के लय अथवा शान्त हो जाने पर भी ज्यों का त्यों बना रहता है। दूसरे शब्दों में वह अविनाशी परमात्म-तत्त्व अथवा पुरुषोत्तम—जो सबका आदि कारण, सबका आधार और सबकी असलियत अथवा सबकी सत्ता है और जिसमें सब सृष्टि उत्पन्न हो-होकर लय होती रहती है—सब अवस्थाओं में ज्यों का त्यों एक-सा विद्यमान रहता है; उसमें न कोई आना है न कोई जाना, न उत्पत्ति है न नाश, न वृद्धि है न ह्रास; वह परम-पद पूर्वोक्त अनन्य भाव की उपासना करते रहने से, अर्थात् अपने सहित सबको परमात्म-स्वरूप चिन्तन करते रहने से प्राप्त होता है।

+ + +

अब भगवान् ज्ञानियों और कर्मकाण्डियों को प्राप्त होने वाली शुक्ल और कृष्ण गतियों का, अर्थात् मरने के उपरान्त देवयान और पितृयान मार्गों से आने-जाने के जो शास्त्रों में वर्णन हैं, उनका सरसरी तौर से उल्लेख करके अन्त में बतलाते हैं कि सबके साथ अपनी एकता के अनुभव युक्त साम्य-भाव से संसार के व्यवहार करने वाला समत्वयोगी इन दो गतियों के रहस्य को जान कर इन मार्गों की उलझन में नहीं पड़ता, किन्तु वह इनसे ऊपर रहता है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

तत्काल ही प्राप्त हो जाती है—किसी समय-विशेष, स्थान-विशेष अथवा अवस्था की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए यह नकद धर्म है; ज्यों ही इसका आचरण किया कि शान्ति, पुष्टि और तुष्टि सब उपस्थित होने लग जाती हैं। यह ब्रह्म-विद्या धर्मरूप है, अर्थात् साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मज़हबों की तरह यह कोई माना हुआ अथवा स्वीकार किया हुआ अथवा पीछे से लगाया हुआ आगन्तुक धर्म नहीं है, किन्तु यह सबका स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि सबका एकत्व-भाव सबके लिए स्वाभाविक है। संसार में जितने भी धर्म भूत काल में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, प्रकारान्तर से सब एक ही ठिकाने के पथिक हैं, सभी अवधा अन्तिम साध्य सबकी एकता के भाव की स्थिति है, अतः चाहे कोई किसी भी मत अथवा सम्प्रदाय का अवलम्बन करे, सबकी अन्तिम गति और सबका समावेश इसी में होता है; इसलिए सब धर्मों का मूल-धर्म यह ब्रह्म-विद्या ही है। इस ब्रह्म विद्या का आचरण सुख-साध्य है, क्योंकि इसके आचरण करने में किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम अथवा कष्ट अथवा मानसिक विक्षेप आदि नहीं होते, न इसमें कोई द्रव्य का व्यय होता है, न किसी सामग्री के जुटाने की अपेक्षा रहती है, और न किसी पर निर्भर रहने अथवा किसी के अवलम्बन की आवश्यकता होती है। यह केवल समझने का विषय है। एक बार श्रद्धा करके इस रहस्य को अच्छी तरह समझ लेने पर फिर इसका आचरण सुगमता से—सुखपूर्वक हो सकता है। और यह ब्रह्म-विद्या अविनाशी है, क्योंकि इसका वस्तुतः कभी नाश नहीं होता।

यद्यपि यह ब्रह्म-विद्या राज-विद्या है, इस कारण इस पर सबका अधिकार है, यह धर्म-रूप, उत्तम, प्रत्यक्ष लाभ देने वाली और सुख-साध्य है; परन्तु केवल आधिभौतिकता* अथवा केवल आधिदैविकता* अथवा केवल आध्यात्मिकता* में ही आसक्त रहने वाले मनुष्यों को यह ब्रह्म विद्या प्राप्त नहीं हो सकती; क्योंकि वे लोग अपने-अपने माने हुए सिद्धान्त के मतों में इतना अन्ध विश्वास रखते हैं कि उनकी बुद्धि में स्वतन्त्र विचार करने के लिए स्थान ही नहीं रहता; अत: वे [illegible] इस [illegible] रहस्य को समझ नहीं सकते और जिन लोगों को इन विषयों का [illegible] अनुभव होता है [illegible] श्रद्धा नहीं रखते, अतः [illegible] इनको [illegible] [illegible] ब्रह्म विद्या में [illegible] दृष्टि करके अर्थात् इसको [illegible] है इसलिए इसका मोह अथवा अज्ञान [illegible] और [illegible] के कारण इनको नहीं शान्ति पुष्टि और तुष्टि [illegible] नहीं होती किन्तु [illegible] जन्म मरण के चक्कर में

* इन [illegible] मुक्ति के स्पष्टीकरण में देखिए।

पर उनके बाहरी रूपों के दिखाव तक ही दृष्टि रखने से सबके एकत्व-भाव = जल का ध्यान नहीं रहता; किन्तु लहर, बुदबुदों और बर्फ की पृथक्ता ही प्रतीत होती है; इसी तरह पिण्ड की दृष्टि से यद्यपि आत्मा अथवा जीवात्मा "मैं" रूप से सारे शरीर में व्याप्त एवं परिपूर्ण है—आत्मा ही शरीर का अस्तित्व है—परन्तु, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर ही दृष्टि रखने से सब अंगों के एकत्व-भाव = आत्मा अथवा जीवात्मा की प्रतीति नहीं होती; और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से नाना-नामरूप जगत् में सबका आत्मा = परमात्मा समष्टि "मैं" रूप से सर्वत्र व्याप्त एवं परिपूर्ण है और वास्तव में सब-कुछ परमात्मा ही है, परन्तु जगत् के भिन्न-भिन्न बनावों पर ही दृष्टि रखने से सारे जगत् के एकत्व-भाव = परमात्मा की प्रतीति नहीं होती, किन्तु जगत् के पदार्थों की पृथक्ता ही सच्ची प्रतीत होती है, और साधारणतया लोगों की दृष्टि शरीर और जगत् की पृथक्ता पर ही रहती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि परमात्मा-स्वरूप "मैंने" अव्यक्त अथवा अप्रकट रूप से जगत् को व्याप्त कर रखा है; और यद्यपि जगत् का आधार सबका आत्मा = परमात्मा-स्वरूप "मैं" हूँ, अर्थात् परमात्मा-स्वरूप "मुझ" से ही जगत् का अस्तित्व है, परन्तु "मेरा" अस्तित्व जगत् पर निर्भर नहीं है, इसलिए जगत् "मेरा" आधार नहीं है। जिस तरह जादू का खेल करने वाला जादूगर किसी खेल-विशेष में ही परिमित नहीं रहता; और यद्यपि खेल का अस्तित्व जादूगर पर निर्भर होता है, परन्तु जादूगर का अस्तित्व खेल पर निर्भर नहीं होता—खेल करने और न करने पर भी जादूगर का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहता है; उसी तरह सबका आत्मा = परमात्मा जगत् के अनेक प्रकार के खेल करता हुआ भी उनमें परिमित नहीं होता; और यद्यपि जगत् का अस्तित्व परमात्मा पर निर्भर है, परन्तु परमात्मा का अस्तित्व जगत् पर निर्भर नहीं है—जगत् के रहने और न रहने पर तथा उसके निरन्तर बदलते रहने पर भी आत्मा अथवा परमात्मा ज्यों का त्यों बना रहता है। और यदि गहरे विचार से देखा जाय तो वस्तुतः परमात्मा में जगत् की स्थिति भी नहीं है, क्योंकि परमात्मा से भिन्न जगत् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है कि जिसकी स्थिति परमात्मा में होवे। जहाँ दो पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, वहीं आधार-आधेय भाव या व्याप्य-व्यापक भाव अर्थात् एक दूसरे का आधार अथवा एक दूसरे में व्याप्त होना बन सकता है। पर जहाँ एक ही वस्तु के अनेक रूप होते हैं, वहाँ आधार-आधेयादि भाव वास्तव में बन नहीं सकते, किन्तु केवल समझाने के अभिप्राय से कथन मात्र के लिए वे कल्पित किये जाते हैं। जिस तरह जादूगर अपने जादू के खेल में अनेक प्रकार के अद्भुत चमत्कार दिखाता है और उन चमत्कारों की दृष्टि से जादूगर उनका आधार कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वे चमत्कार जादूगर से भिन्न नहीं होते, किन्तु जादूगर के ही रूप

इस संपूर्ण भूत-समुदाय को बार-बार रचता हूँ (८)। और हे धनंजय! उन (सृष्टि की रचना, संहार एवं धारण आदि) कर्मों में उदासीन की तरह अनासक्त रहने वाले मुझको वे कर्म नहीं बांधते (९)। हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षता से प्रकृति स्थावर-जंगम सृष्टि का निर्माण करती है, इस कारण से जगत् विविध प्रकार से प्रवर्तित होता रहता है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्कर चलता रहता है (१०)। श्लोक ७ से १० तक का तात्पर्य यह है कि यह जगत् सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प का खेल मात्र है। जब सबके आत्मा = परमात्मा का संकल्प अथवा इच्छा होती है तब उस समष्टि इच्छा रूपी योग-माया अथवा प्रकृति के अद्भुत एवं अलौकिक चमत्कार से जगत् के नाना प्रकार के बनाव बनते हैं, जिसे कल्प का आदि कहते हैं; और जब इच्छा अथवा संकल्प नहीं होता, तब वे बनाव मिट जाते हैं, उसे कल्प का क्षय या अन्त कहते हैं। जिस तरह का संकल्प होता है, उसी के अनुसार अनन्त प्रकार के बनाव बनते हैं और मिट जाते हैं। यद्यपि यह सब बनने और मिटने के परिवर्तन सबके आत्मा = परमात्मा की समष्टि इच्छा रूपी अलौकिक माया-शक्ति से ही होते हैं, परन्तु सबका आत्मा = परमात्मा वस्तुतः इन बनावों में नहीं उलझता, न इनके बनने-बिगड़ने से वस्तुतः उसका कुछ बनता-बिगड़ता ही है। इन परिवर्तनों से आत्मा अथवा परमात्मा में कोई विकार नहीं होता, क्योंकि यह सब उसकी कल्पना मात्र ही होते हैं—वस्तुतः कुछ बनता-बिगड़ता है नहीं। जिस तरह स्वप्न के अनेक प्रकार के दृश्य स्वप्न-द्रष्टा की कल्पना मात्र होते हैं, स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न स्वप्न वस्तुतः कुछ नहीं होते; उसी तरह जगत्-प्रपंच आत्मा अथवा परमात्मा की कल्पना का दृश्य-मात्र है—आत्मा अथवा परमात्मा से पृथक् जगत् कुछ है नहीं; इसलिए वह सबका आधार होता हुआ भी वास्तव में निर्विकार रहता है (७ से १०)।

स्पष्टीकरण—समत्व-योग के अभ्यास में मन को ठहराने के लिए स्थिरो-पासना के विषय में ईश्वर अथवा परमात्मा का स्वरूप वर्णन करने के विज्ञान-सहित ज्ञान का सातवें अध्याय से [illegible] [illegible]

भी नहीं देखे जा सकते, और न बुद्धि से यह जाना जा सकता है कि वह अमुक गुण, अमुक रूप, अमुक आकार और अमुक नाप-तोल वाला है। इतना होने पर भी यह अनुभव सबको बराबर होता है कि "मैं" हूं; मन, बुद्धि, आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियों एवं सब अंगों का समूह=शरीर "मेरा" है, सब इन्द्रियों, सब अंगों और इन सबके समूह=शरीर को धारण करने वाला "मैं" हूं; सब इन्द्रियां और शरीर के सारे व्यवहार "मेरी" सत्ता से होते हैं, और "मैं" ही उनको स्फूर्ति-युक्त करता हूं, अर्थात् उन सबका प्रेरक और संचालक "मैं" हूं; इन्द्रियों और शरीरों के भिन्न-भिन्न अंगों के अनेक होने पर भी "मैं" इन सबका प्रेरक और सबका आधार एक ही हूं; जो "मैं" आंखों से देखने वाला हूं, वही कानों से सुनने वाला हूं, वही हाथों से काम करने वाला, वही मन से संकल्प करने वाला और वही बुद्धि से विचार करने वाला हूं; अतः सबकी एकता "मुझ" में होती है—शरीर के रोम-रोम में "मैं" व्याप रहा हूं। थोड़ा विचार करने पर यह भी निश्चय होता है कि "मेरे" बिना सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियों, और इन सबके समूह=शरीर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, और यदि इन सबका अस्तित्व "मेरे" बिना सिद्ध नहीं होता—जब "मैं" होता हूं, तभी ये होते हैं—परन्तु "मैं" स्वतःसिद्ध हूं और इनके बिना भी रहता हूं; गहरी नींद में मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवं शरीर के सभी व्यापार बन्द हो जाते हैं और इनके अस्तित्व की प्रतीति भी नहीं होती, पर "मैं" तो ज्यों का त्यों बना रहता हूं; और शरीर का अन्त होने पर जब इन सबका नाश हो जाता है तो उसके साथ "मेरा" नाश नहीं होता; इन्द्रियों और शरीरों के परिवर्तन होते रहते हैं—बाल्यावस्था में वे बहुत छोटे होते हैं, जवानी में बड़े हो जाते हैं और बुढ़ापे में क्षीण होकर, मरने पर नष्ट हो जाते हैं, और फिर कोई नया शरीर बनता है तब फिर नये बन जाते हैं; परन्तु "मैं" सब दशाओं में वही बना रहता हूं; अतः "मेरे" बिना इन्द्रियों और शरीर का अस्तित्व ही नहीं है। तब अधिक गहरा विचार करने पर यह स्वतः सिद्ध होता है कि वास्तव में सब-कुछ "मैं" ही हूं, "मेरे" सिवाय और कुछ भी नहीं है; शरीर के छोटे-बड़े अंगों की जो भिन्नता है वे सब "मेरे" ही कल्पित रूप हैं; "मैं" जब कल्पना अथवा इच्छा करता हूं तब भिन्न-भिन्न सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियों तथा भिन्न-भिन्न अंगों के रूप में प्रकट होता हूं और जब इच्छा अथवा कल्पना को समेटता हूं तब इन सबको अपने में लय कर लेता हूं; [illegible] इच्छा अथवा कल्पना न [illegible] होते हैं और इन अंगों के अनुसार [illegible] होते हैं और जब कि इच्छा अथवा कल्पना "मैं" ही करता हूं तो [illegible] "मैं" ही बनता हूं, अतः [illegible] होने वाला "मैं" सिवाय दूसरा कोई नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि यह सब "मैं" ही बना हूं। जिस तरह मिट्टी के अनेक बर्तन और खिलौने अमुक मिट्टी ही होते हैं—मिट्टी के

सिवाय बर्तन और खिलौने कुछ भी नहीं होते, उसी तरह वास्तव में सब-कुछ "मैं" ही हूँ—"मेरे" सिवाय और कुछ नहीं है, और जिस तरह खिलौनों के बनने और बिगड़ने के विकारों से मिट्टी का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं—वह ज्यों की त्यों रहती है, उसी तरह इन रूपों के बनने-बिगड़ने तथा इनमें परिवर्तन होने से "मेरा" कुछ भी बनता-बिगड़ता अथवा परिवर्तन नहीं होता; कल्पित बनावों के विकार भी कल्पित होते हैं— वे सत्य वस्तु पर प्रभाव नहीं डाल सकते, "मैं" अपना-आप सदा एक-सा रहने वाला अतः सत्य हूँ, और शरीर के अंग सदा बदलते रहने वाले कल्पित हैं।

उपरोक्त व्याख्या प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न आत्मा अथवा जीवात्मा और शरीर के संबंध की है। यदि कोई भी व्यक्ति "मैं" रूप से अनुभव होने वाले अपने वास्तविक आप यानी आत्मा, और मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म इन्द्रियों, तथा आँख, नाक, कान आदि स्थूल इन्द्रियों, एवं नाना अंगों के समूह = शरीर के संबंध में गंभीरता पूर्वक विचार करे तो उपरोक्त तथ्य स्वतः ही सिद्ध होते हैं। इसी विचार-धारा को आगे बढ़ाई जाय तो यह निश्चय हो जायगा कि जो व्यवस्था छोटे रूप में प्रत्येक देहधारी जीवात्मा और शरीर के संबंध की ऊपर कही है, वही बृहद्-रूप में समष्टि-आत्मा = परमात्मा और जगत् अथवा ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में हूबहू घटती है। प्रत्येक पिण्ड अथवा शरीर एक छोटा-सा ब्रह्माण्ड ही है, अर्थात् पिण्ड का एक छोटा-सा—अणु के मान का—नमूना (model) समझना चाहिए; और जो संबंध शरीर और जीवात्मा का ऊपर बताया गया है, वही सम्बन्ध जगत् और परमात्मा का समझना चाहिए। जिस तरह प्रत्येक शरीर में प्रत्येक व्यक्ति को अपना-आप = आत्मा "मैं" रूप से अनुभव होता है, उसी "मैं" शब्द से भगवान् श्रीकृष्ण सारे ब्रह्माण्ड अथवा जगत् के समष्टि अपने-आप, सबके आत्मा को जगत् के अन्दर अनुभव कराते हैं, और जो व्यवस्था व्यष्टि शरीर की ऊपर कही गई है, उसी प्रकार की व्यवस्था भगवान् सारे जगत् की बताते हैं। जो आत्मा व्यष्टि शरीर का व्यष्टि-भाव से है, वही आत्मा समष्टि जगत् का समष्टि-भाव से है, और व्यष्टि-भाव से जो पृथक-पृथक् शरीर हैं, उन्हीं का समुदाय समष्टि-भाव-रूप जगत् है। वास्तव में प्रत्येक शरीर के रोम-रोम में "मैं" रूप से रहने वाला व्यष्टि अपना-आप अथवा व्यष्टि आत्मा और भगवान् श्रीकृष्ण का "मैं" रूप में कहा हुआ सारे ब्रह्माण्ड के अणु अणु में व्यापक समष्टि आत्मा = परमात्मा एक ही है। इस रहस्य को स्पष्ट करने के लिए आगे ११ वें अध्याय में भगवान ने अर्जुन को इसी शरीर में अखिल विश्व का दर्शन करा कर उसका अज्ञान मिटाया है। अतः परमात्मा और जगत् सबधी ज्ञान-विज्ञान के रहस्य

को समझने के लिए "मैं" रूप से सर्वत्र अनुभव होने वाले अपने-आप और शरीर के संबंध पर ही विचार करना चाहिए—कहीं बाहर अथवा दूर खोजने की आवश्यकता नहीं है।

इस विज्ञान-सहित-ज्ञान का विशेष विवेचन आगे तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों में विस्तार से किया है।

× × ×

ईश्वरोपासना के लिए भगवान् ने अपना, यानी सबके आत्मा = परमात्मा का स्वरूप बताने में सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान का सूक्ष्म एवं गंभीर रहस्य कहा। अब भगवान् अयथार्थ अर्थात् झूठी और यथार्थ अर्थात् सच्ची उपासना का भेद बताते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८ ॥

सिवाय बर्तन और खिलौने कुछ भी नहीं होते, उसी तरह वास्तव में सब-कुछ "मैं" ही हूँ—"मेरे" सिवाय और कुछ नहीं है, और जिस तरह खिलौनों के बनने और बिगड़ने के विकारों से मिट्टी का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं—वह ज्यों की त्यों रहती है, उसी तरह इन रूपों के बनने-बिगड़ने तथा इनमें परिवर्तन होने से "मेरा" कुछ भी बनता-बिगड़ता अथवा परिवर्तन नहीं होता; कल्पित पदार्थों के विकार भी कल्पित होते हैं— वे सत्य वस्तु पर प्रभाव नहीं डाल सकते, "मैं" अपना-आप सदा एक-सा रहने वाला अतः सत्य हूँ, और शरीर के अंग सदा बदलते रहने वाले कल्पित हैं।

उपरोक्त व्याख्या प्रत्येक व्यष्टि-अपना-आप आत्मा अथवा जीवात्मा और शरीर के संबंध की है। यदि कोई भी व्यक्ति "मैं" रूप से अनुभव होने वाले अपने वास्तविक आप यानी आत्मा, और मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म इन्द्रियों, तथा आँख, नाक, कान आदि स्थूल इन्द्रियों, एवं नाना अंगों के समूह = शरीर के संबंध में गंभीरता पूर्वक विचार करे तो उपरोक्त तथ्य स्वतः ही सिद्ध होते हैं। इसी विचार धारा को आगे बढ़ाई जाय तो यह निश्चय हो जायगा कि जो व्यवस्था छोटे रूप में प्रत्येक देहधारी जीवात्मा और शरीर के संबंध की ऊपर कही है, वही बृहद् रूप में समष्टि-आत्मा = परमात्मा और जगत् अथवा ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में हूबहू घटती है। प्रत्येक पिण्ड अथवा शरीर एक छोटा-सा ब्रह्माण्ड ही है, अर्थात् पिण्ड को एक छोटा-सा—अणु के मान का—नमूना (model) समझना चाहिए और जो संबंध शरीर और जीवात्मा का ऊपर बताया गया है, वही सम्बन्ध जगत और परमात्मा का समझना चाहिए। जिस तरह प्रत्येक शरीर में प्रत्येक व्यक्ति को अपना-आप = आत्मा "मैं" रूप से अनुभव होता है, उसी "मैं" शब्द से भगवान् श्रीकृष्ण सारे ब्रह्माण्ड अथवा जगत के समष्टि अपने-आप, सबके आत्मा को जगत के अन्दर अनुभव कराते हैं और जो व्यवस्था व्यष्टि शरीर की ऊपर कही गई है उसी प्रकार की व्यवस्था [illegible] सारे जगत की बताते हैं [illegible] आत्मा व्यष्टि शरीर का व्यष्टि [illegible] है वही [illegible] समष्टि जगत का समष्टि [illegible] है और व्यष्टि [illegible] इन्हीं का समुदाय समष्टि [illegible] जगत है [illegible]
[illegible]

को समझने के लिए "मैं" रूप से सर्वत्र अनुभव होने वाले अपने-आप और शरीर के संबंध पर ही विचार करना चाहिए—कहीं बाहर अथवा दूर खोजने की आवश्यकता नहीं है।

इस विज्ञान-सहित-ज्ञान का विशेष विवेचन आगे तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें अध्यायों में विस्तार से किया है।

× × ×

ईश्वरोपासना के लिए भगवान् ने अपना, यानी सबके आत्मा = परमात्मा का स्वरूप बताने में सबकी एकता के विज्ञान-सहित ज्ञान का सूक्ष्म एवं गंभीर रहस्य कहा। अब भगवान् अयथार्थ अर्थात् झूठी और यथार्थ अर्थात् सच्ची उपासना का भेद बताते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ १२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ १८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

अर्थ—[illegible]

शरीरों से परे, सब शरीरों के भिन्न-भिन्न अंगों और रोम-रोम में व्यापक, एवं इन सब शरीरों को धारण करने वाली एक ही महान् शक्ति के विषय में वे ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकते। इसलिए जिस तरह अज्ञानवश वे अपने को दूसरों से अलग एक तुच्छ व्यक्ति अथवा विशेषतायुक्त मनुष्य-देह मानते हैं, उसी तरह सबके आत्मा = परमात्मा को भी जगत् से अलग एक मनुष्य-आकृति वाला कोई विशेष ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति ही मानते हैं। अतः मनुष्य-देह में होने वाले स्वाभाविक गुणों और दोषों, विशेषताओं और त्रुटियों की सबके आत्मा = परमात्मा में कल्पना करके, उस सर्वात्म को अल्पात्म, महान् को तुच्छ, एक को अनेक, सम को विषम और अविकारी को विकारी आदि विरुद्ध भावों वाला मान कर उसका तिरस्कार करते हैं (११)।

(वे) झूठी आशाएँ रखने वाले, फिजूल कर्म करने वाले, (तथा) मिथ्या (विपरीत) ज्ञान वाले बेसमझ लोग राक्षसी और आसुरी तामसी प्रकृति का ही आश्रय किये रहते हैं। तात्पर्य यह कि इन तामसी उपासकों के दो भेद हैं—एक तो राक्षसी प्रकृति के हैं, जो शरीर और जगत् के अन्दर आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व नहीं मानते किन्तु स्थूल शरीरों ही को सब-कुछ मानते हैं, अतः वे लोग केवल शरीरों ही के उपासक होते हैं, और दूसरे आसुरी प्रकृति के लोग हैं, जो शरीरों के अतिरिक्त जीवात्माओं को तथा सब जीवात्माओं और सारे जगत् के स्वामी परमात्मा अथवा ईश्वर को मानते तो हैं, पर जैसा मानना चाहिए वैसा यथार्थ रूप से नहीं मानते, किन्तु परमात्मा के सच्चिदानन्द-स्वरूप एवं सर्वात्म-भाव की उपेक्षा करके, उसे किसी विशेष लोक अथवा विशेष देश में रहने वाला, विशेष काल में होने वाला तथा विशेष गुणों वाले शरीर ही में परिमित अथवा सीमाबद्ध मान कर, किसी व्यक्ति-विशेष अथवा किसी नाम-विशेष, अथवा किसी रूप-विशेष, अथवा किसी गुरु-विशेष, अथवा किसी वेश-विशेष अथवा किसी उपाधि-विशेष की उपासना करने में ही लगे रहते हैं, अथवा उसे शरीर और जगत् सबसे सर्वथा अलग निर्गुण-निराकार भेद वाला मान कर उस निराकार की भेद-उपासना करते हैं। इस प्रकार के धार्मिक लोगों की उपासना के अगणित भेद होते हैं और इनके अगणित सम्प्रदाय होते हैं। ये लोग [illegible] की एकता और सर्वात्मभाव का उल्लंघन करके अपने-अपने सम्प्रदाय के लिए दूसरे सम्प्रदायों के लोगों का तिरस्कार करते हैं, उनसे वे द्वेष करते हैं, कलह [illegible] हैं और उनको कष्ट देते हैं। इस तरह [illegible] वस्तु-परिच्छेद [illegible] सब लोग आसुरी प्रकृति के होते हैं। [illegible]

आशा को लिये हुए ही करते हैं, परन्तु उन झूठी उपासनाओं का फल नाशवान् होता है, अतः उनकी आशाएँ फिजूल ही होती हैं; और उनके कर्मों से वास्तव में किसी का कुछ हित नहीं होता, इसलिए वे भी निरर्थक होते हैं। जो मनुष्य-देह प्राप्त कर अपने-आपके वास्तविक स्वरूप यानी सबके एकत्व-भाव = परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके, पृथक्ता के भावों को ही दृढ़ बनाये रखने वाली चेष्टाओं में लगे रहते हैं, और उनसे केवल व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की आशा रखते हैं, उन मूर्खों की सभी चेष्टाएँ ही नहीं, प्रत्युत उनका मनुष्य-जन्म ही निरर्थक होता है (१२)। परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृति का आश्रय करने वाले महात्मा लोग, यानी विवेकी सज्जन पुरुष मुझ (सबके आत्मा = परमात्मा) को विश्व का आदि और सब विकारों से रहित जान कर अनन्य-भाव से (अभेद) उपासना करते हैं। तात्पर्य यह कि सत्त्वगुण-प्रधान दैवी प्रकृति के विचारशील महापुरुष ऊपर कहे हुए आसुरी प्रकृतिवाले लोगों की तरह अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी व्यक्ति-विशेष अथवा उपाधि-विशेष की भेद-उपासना नहीं करते, किन्तु अपने सहित सब चराचर सृष्टि में एक आत्मा अथवा परमात्मा को समान-भाव से व्यापक जान कर सबके साथ एकत्व-भाव के प्रेम करने रूपी परमात्मा की अभेद-उपासना करते हैं (१३)। दृढ़-व्रत होकर यत्न करते हुए निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं और भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हैं; और सबकी एकता के साम्य-भाव में मन लगा कर सदा मेरी उपासना करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष सदा नियमित रूप से सबके आत्मा = परमात्मा के अज, अविनाशी, अविकारी, सर्वव्यापक, सम, सर्वाधार, सर्वभूत-महेश्वर, सच्चिदानन्द आदि भावों का कीर्तन करते रहते हैं; तथा सब लोगों को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप जान कर अत्यन्त प्रेम और विनीत भाव से सबको नमस्कार करते हैं और इस प्रकार समत्व-योग का आचरण करते हुए अनन्य-भाव की उपासना में लगे रहते हैं (१४)। और कई लोग ज्ञान-यज्ञ से अर्थात् तात्त्विक विचारों द्वारा भी मेरा यजन पूजन करते हुए, (अपने साथ मेरी एकता के) अभेद-भाव से, अथवा (पृथक्ता के) भेद-भाव से, बहुत प्रकार से मेरे विश्वरूप की उपासना करते हैं। तात्पर्य यह कि जो दार्शनिक लोग तत्त्वज्ञान में लगे हुए हैं उनमें से कई लोग सर्वत्र एकत्व-भाव के अद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं और कई पृथक्ता के द्वैत अथवा भेद सिद्धान्त को मानते हैं और अपनी-अपनी भावना के अनुसार उपासना करते हैं परन्तु "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाला सबके आत्मा = परमात्मा ही द्वैत और अद्वैत सबकी सिद्धि करने वाला हूँ, सबके आधार होने के कारण वे सब प्रकारान्तर से सर्वात्मा = परमात्मा रूपी मेरी ही उपासना करते हैं (१५)। क्रतु अर्थात् श्रौत

यज्ञ "मैं" हूँ; यज्ञ, अर्थात् स्मार्त यज्ञ "मैं" हूँ; स्वधा, अर्थात् पितरों को निमित्त करके दिया जाने वाला अन्न अथवा पिण्डादि "मैं" हूँ; औषध, अर्थात् वनस्पतियाँ "मैं" हूँ; मन्त्र, अर्थात् जिन मन्त्रों का उच्चारण करके हवन-यज्ञादि किये जाते हैं, वे मन्त्र "मैं" हूँ; आज्य, अर्थात् होमे जाने वाले घृतादिक पदार्थ "मैं" ही हूँ; अग्नि "मैं" हूँ, (एवं) हवन "मैं" हूँ (१६)। इस जगत् का पिता, माता, धाता और पितामह "मैं" हूँ, अर्थात् पुरुषस्वरूप परा प्रकृति (गी० अ० ७ श्लो० ५) अथवा क्षेत्रज्ञ (गी० अ० १३ श्लो० २), प्रकृतिस्वरूप अपरा प्रकृति (गी० अ० ७ श्लो० ४) अथवा क्षेत्र (गी० अ० १३ श्लो० १-२), और इन दोनों का आधार अथवा एकत्व-भाव = परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम (गी० अ० १३ श्लो० २२, अ० १५ श्लो० १७-१८) "मैं" ही हूँ; वेद्य, अर्थात् यथार्थतया जानने योग्य, सबका मूलतत्त्व—सबका अपना-आप (गी० अ० १३ श्लो० १२-१७) (मैं हूँ); पवित्र, अर्थात् शुद्ध, निर्मल, निर्विकार एवं सबको पवित्र करने वाला (मैं हूँ); ओंकार, अर्थात् सबकी एकता का बोधक एकाक्षर ब्रह्म "ॐ" (मैं हूँ); ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद आदि को लेकर सब शास्त्र भी (मैं ही) हूँ (१७)। गति, अर्थात् सबकी हलचल (क्रियाशीलता), अथवा सबकी अन्तिम गति (मैं हूँ); भर्ता, अर्थात् सबका भरण-पोषण करने वाला (मैं हूँ); प्रभु, अर्थात् पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, इन्द्रिय, प्राण आदि शरीर के सब अंग "मेरे हैं" इस तरह शरीर के स्वामित्व का अनुभव करने वाला, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से अखिल विश्व "मेरा है"—सबका स्वामी "मैं" परमात्मा हूँ, इस तरह ब्रह्माण्ड के स्वामीभाव का अनुभव करने वाला (मैं हूँ); साक्षी, अर्थात् पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण आदि की सारी चेष्टाओं को जानने वाला जीवात्मा, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सब चराचर सृष्टि की विविध प्रकार की हलचल का द्रष्टा परमात्मा (मैं हूँ); निवास (मैं हूँ), अर्थात् सब भूत-प्राणी "मुझ में" ही रहते हैं; शरण अर्थात् सबका रक्षक (मैं हूँ), सुहृद् अर्थात् सबका स्वाभाविक प्यारा (मैं हूँ); प्रभव (मैं हूँ) अर्थात् सबकी उत्पत्ति मुझ परमात्मा से होती है; प्रलय (मैं हूँ) अर्थात् सबका लय "मुझ में" होता है; स्थान (मैं हूँ) अर्थात् सबकी स्थिति "मुझ में" है; निधान (मैं हूँ) अर्थात् सबका समावेश "मुझ में" होता है और अव्यय बीज अर्थात् सबका अविनाशी एवं अविकारी कारण (मैं हूँ) (१८)। "मैं" तपाता हूँ, "मैं" वर्षा को रोकता और छोड़ता हूँ अर्थात् "मैं" ही सूर्य रूप से तपाता हुआ जल को खींच कर आकाश में इकट्ठा करता हूँ, और "मैं" ही उसे बरसाता हूँ और [illegible] अमृत और मृत्यु [illegible] "मैं" ही हूँ और [illegible] "मैं" ही हूँ अर्थात् मैं ही [illegible] हूँ [illegible] मैं ही [illegible] हूँ (१९)।

श्लोक १६ से १९ तक का तात्पर्य यह है कि जगत् में जो भी कुछ इष्ट अथवा अदृष्ट वस्तु है, एवं उपासना के लिए जो भी कुछ हवन-यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन, वेदाध्ययन, पाठ-पूजा, ध्यान, जप आदि किये जाते हैं, तथा जो कुछ कहने-सुनने और विचारने में आ सकता है, वह सब "मैं" रूप से सबको अनुभव होने वाला, सबका अपना-आप, सबका आत्मा = परमात्मा ही है। अतः चाहे कोई एकत्व-भाव से उपासना करे या पृथकता के भाव से करे—सब परमात्मा ही की उपासना होती है; परन्तु उपासना करने में, करने वाले के अन्तःकरण में जैसा भाव होता है, वैसा ही उपासना का स्वरूप होता है और वैसा ही उसका परिणाम होता है, यह बात आगे के श्लोकों में कहते हैं (१६ से १९)। त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम इन तीन वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्म करने वाले एवं सोमरस पीने वाले पुण्य यज्ञों द्वारा मेरा पूजन करके (स्वर्ग-प्राप्ति के बाधक जो पाप हैं उन) पापों से शुद्ध होकर स्वर्ग-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। वे अपने पुण्यों के फल-स्वरूप इन्द्र-लोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य (सूक्ष्म) भोगों को भोगते हैं। वे उस विशाल स्वर्ग-लोक का उपभोग करके, पुण्य के क्षीण होने पर मृत्यु-लोक में आते हैं। इस तरह वेदत्रयी में विधान किये हुए धार्मिक कर्मकाण्ड करने वाले कामना-परायण लोग (अपनी भावना के फल-स्वरूप) आवागमन के चक्कर में घूमते रहते हैं (२०-२१)। परन्तु जो लोग अनन्य-भाव से मेरा चिन्तन करते हुए निष्काम-उपासना करते हैं, उन (मेरी अनन्य-भाव की उपासना में) सदा लगे रहने वाले, भक्तों का योग अर्थात् अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति, और क्षेम अर्थात् प्राप्त पदार्थों की रक्षा, मैं (सबका आत्मा = परमात्मा) किया करता हूँ। तात्पर्य यह कि इससे पहले के दो श्लोकों में यह कहा है कि वैदिक हवन यज्ञ आदि काम्य कर्म करने वालों को उनकी भावना के अनुसार स्वर्गादि लोकों के भोग प्राप्त होते हैं, तब यह आशंका हो सकती है कि उक्त कर्मकाण्ड न करने वाले, परमात्मा के अनन्य भाव के उपासकों को भोग्य पदार्थ प्राप्त नहीं होते होंगे? इस आशंका का निवारण करने के लिए भगवान् कहते हैं कि जो सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मुझे ही सब-कुछ मान कर अनन्य-भाव से मेरी उपासना करते हैं, अर्थात् सारे विश्व को परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप समझ कर सबके साथ एकता के साम्य-भाव का बर्ताव करते हैं, उनकी सब इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति सारे जगत् में व्याप्त "मैं" परमात्मा किया करता हूँ, दूसरे शब्दों में सबके साथ एकता के भाव में जुड़े हुए उन भक्तों के इच्छित पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षा में "मेरा" व्यापक स्वरूप—सारा जगत सहायक होता है (२२)। जो भक्त लोग श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओं का पूजन करते हैं वे भी हे कौन्तेय ! मेरा ही पूजन करते

सब जीवात्माओं को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रहने वाले अत्यन्त तुच्छ प्राणी मान कर आपस में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि करते हैं; और ईश्वर को सबसे अलग, आसमान में, अथवा समुद्र में, अथवा किसी अन्य स्थान में या किसी लोक-विशेष अथवा देश-विशेष में रहने वाला, अतुल शक्ति एवं अपार वैभव-सम्पन्न, तथा विशेष गुणों से युक्त एक महान् व्यक्ति मानते हैं; और जिस तरह एक सम्राट् अथवा राजा अपनी प्रजा पर शासन करता है, और अपने बनाये हुए कानूनों को मानने वाले पुरुषों की रक्षा करता है, एवं उनका उल्लङ्घन करने वालों को दंड देता है; उसी तरह उनकी समझ में ईश्वर भी सब जीवों के अच्छे-बुरे कर्मों का हिसाब रख कर उनका यथायोग्य फल देता है; और जिस तरह एक स्वेच्छाचारी राजा को भोग, विलास, खेल, तमाशे, भेंट, पूजा, चापलूसी एवं खुशामद आदि प्यारी लगती हैं, और दूसरों पर अपना आतंक जमाने से उसे प्रसन्नता होती है, अपनी भेंट-पूजा तथा खुशामद करने वालों पर वह कृपा रखता है, उन्हें पुरस्कार देता है और उनके अपराध क्षमा कर देता है, एवं जो उसकी सत्ता नहीं मानते अथवा उसकी खुशामद नहीं करते, उन पर वह क्रुद्ध होता है और उनको दण्ड देता है; उसी तरह उनके मतानुसार उनका ईश्वर भी खेल, तमाशों एवं भोग-विलास आदि की सामग्रियों तथा बलिदान-कुर्बानियों से रीझता है, एवं भेंट-पूजा तथा खुशामद और चापलूसी, करने वालों पर प्रसन्न होता है और उनको धन-सम्पत्ति, अधिकार, बल, वैभव, स्त्री पुत्र, जमीन, जायदाद, मान, प्रतिष्ठा आदि नाना प्रकार के भौतिक सुखों के साधन देता है, और मरने के बाद उन्हें स्वर्ग में भेज देता है, तथा उनके सब पापों को माफ कर देता है; और जो उनके माने हुए ईश्वर को नहीं मानते तथा उन्हीं की तरह उसका भजन-स्मरण, स्तुति आदि नहीं करते, उन पर वह क्रुद्ध होकर उनका सर्वनाश कर देता है। इस तरह सब प्रकार के तुच्छ मानवी भावों का अपने कल्पित ईश्वर में आरोप करके उसको बहुत ओछा अल्पज्ञ स्वार्थी और अभिमानी व्यक्ति बना देते हैं, और उसको प्रसन्न करने के अभिप्राय से उसके उन भावों की स्तुति तथा भजन-स्मरण आदि से उसकी खुशामद रूप उपासना करते हैं। सारांश यह कि तमोगुण प्रधान आसुरी प्रकृति के लोग ईश्वर को एक राजस-तामस तथा तुच्छ मनुष्य स्वभाव वाला व्यक्ति मान कर राजस-तामस भावों से अनेक प्रकार की उपासनाएँ करते हैं, जिससे अगणित धार्मिक अर्थात् मजहबी सम्प्रदाय बन जाते हैं और उन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न कर्मकाण्ड एवं भिन्न भिन्न रीति रिवाज होते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी अपने अपने सम्प्रदाय के इष्ट देव को विधि कर्मकाण्ड और रीति-रिवाज आदि को दूसरे सम्प्रदायों से उत्तम मानते हैं और दूसरों को अपने से निकृष्ट मान कर उनकी निन्दा करते हैं और इस तरह परस्पर में द्वेष करके आपस

करण वाले (भक्त) की भक्ति सहित समर्पित उस भेंट को मैं स्वीकार करता हूँ। तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा को बहुमूल्य और बढ़िया भोग्य पदार्थों में कोई प्रीति नहीं होती, और साधारण वस्तुओं में कोई अप्रीति नहीं होती, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ परमात्मा ही की कल्पना के बनाए हैं; इसलिए उसे प्रसन्न करने के लिए बहुमूल्य पदार्थों की भेंट की आवश्यकता नहीं है। आत्मा अथवा परमात्मा सबमें एक समान है—इस एकत्व-भाव को भूल कर परस्पर में द्वेष उत्पन्न करके जो लड़ाई-झगड़े और छीना-झपटी आदि किये जाते हैं, उन्हें मिटा कर सबके साथ एकता के प्रेमपूर्वक एक-दूसरे की यथायोग्य सेवा करना ही परमात्मा की सच्ची उपासना है; और वह प्रेम-भाव की सेवा अनायास ही उपलब्ध होने वाले साधारण पदार्थों द्वारा जैसी हो सकती है, वैसी बहुमूल्य बढ़िया पदार्थों द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि बहुमूल्य बढ़िया पदार्थ देने में मन में थोड़ा या बहुत क्लेश होने के अतिरिक्त देने का कुछ अभिमान भी होता है, इसलिए उसमें सच्चा प्रेम कम रहता है। अतः भगवान् कहते हैं कि जो कोई व्यक्ति पत्र, पुष्प, फल अथवा जल आदि सहज ही मिलने वाले पदार्थों द्वारा भी भक्ति अथवा प्रेमपूर्वक अखिल विश्व में व्याप्त परमात्मा-स्वरूप मेरी सेवा करता है, वही सच्ची पूजा अथवा उपासना है। अभिप्राय यह कि स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि जितने भी शरीर हैं, उन सबमें परमात्मा समान भाव से व्यापक है, अतः सबको परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर, भिन्न भिन्न शरीरों की योग्यता एवं आवश्यकता, तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना है, उसी प्रेम-भरी सेवा से सबका अन्तरात्मा प्रसन्न होता है। अन्तरात्मा की प्रसन्नता का कारण कोई पदार्थ-विशेष नहीं होता, किन्तु सेवा करने वाले का आन्तरिक भाव होता है (२६)। जो तू करता है, जो खाता अथवा भोगता है, जो हवन करता है, जो देता है, (और) जो तप करता है, हे कौन्तेय! वह (सब) मेरे अर्पण कर, अर्थात् यह चिन्तन करता हुआ सब-कुछ कर कि "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाले, सबके अन्तरात्मा यानी सबके आत्मा = परमात्मा के प्रभाव ही से सब कुछ हो रहा है। इस तरह (मेरे यानी सबके आत्मा = परमात्मा के अर्पण करने रूप) संन्यास योग से युक्त हुए अन्तःकरण से तू शुभाशुभ फल रूप कर्म बन्धनों से छूट जायगा और मुक्त हो कर मुझ परमात्मा में मिल जायगा। तात्पर्य यह कि मनुष्य जो कुछ करता है [illegible] [illegible] के साथ-साथ [illegible] [illegible] है और [illegible] है, क्योंकि [illegible] और [illegible] बिना कुछ भी नहीं [illegible] का [illegible] हुआ है कि

(द्वेष) मन के विकार हैं, और जिनके अन्तःकरण में भिन्नता के भावों की दृढ़ता होती है, उनमें ये राग-द्वेष के विकार बने रहते हैं, और वे सबके एकत्व-भाव—सबके आत्मा = परमात्मा से विमुख रहते हैं; परन्तु जिनकी बुद्धि में यह निश्चय हो जाता है कि यह चराचर जगत् सबके आत्मा = परमात्मा का ही व्यक्त स्वरूप है, वे सबके साथ एकता का प्रेम करने रूपी परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति करते हैं; और वे चाहे बड़े हों या छोटे, ऊँच हों या नीच, स्त्री हों या पुरुष—किसी भी प्रकार के भेद बिना परमात्म-पद को प्राप्त हो जाते हैं, यानी सबकी एकता के परमात्म-भाव में उनकी स्थिति हो जाती है (२९)। यद्यपि कोई दुराचारी भी हो, और (उपरोक्त) अनन्य-भाव से मेरी (सबके आत्मा = परमात्मा की) उपासना करता हो, (तो) उसको साधु यानी सदाचारी ही समझना चाहिए, क्योंकि उसको (सबके आत्मा = परमात्मा की एकता एवं सर्व-व्यापकता का) सच्चा एवं दृढ़ निश्चय होता है, अतः वह तत्काल ही धर्मात्मा होता है, (और वह) स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है; हे कौन्तेय ! यह अच्छी तरह निश्चय रख कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता। तात्पर्य यह कि यदि कोई व्यक्ति बाहरी दृष्टि से अथवा ऊपर से देखने में हिंसा आदि पापाचरण अथवा दूसरे निकृष्ट माने जाने वाले कर्म करने के कारण दुराचारी भी प्रतीत होता हो, परन्तु उसके अन्तःकरण में सबके आत्मा = परमात्मा की सर्वव्यापकता यानी सबकी एकता का सच्चा एवं दृढ़ निश्चय हो और वह सबके साथ उपरोक्त प्रेम करने रूपी परमात्मा की भक्ति अनन्य-भाव से करता हो तो वास्तव में वह सज्जन ही है; क्योंकि कर्म अथवा आचरण जड़ होने के कारण अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते—वे चेतन कर्ता पर निर्भर रहते हैं; इसलिए उनमें अपना अच्छापन या बुरापन नहीं होता। आचरणों का अच्छापन या बुरापन कर्ता के अन्तःकरण के भाव पर निर्भर रहता है, इसलिए उनका यथार्थ निर्णय केवल ऊपरी दिखाव से नहीं होता, किन्तु कर्ता के भाव से होता है। जो सबकी एकता के निश्चय से अपने कर्तव्य-कर्म करता है उसके कर्म चाहे कितने ही नीच अथवा बुरे प्रतीत हों, वास्तव में वे बुरे नहीं होते, प्रत्युत श्रेष्ठ और अच्छे होते हैं, और उनका करने वाला वास्तव में धर्मात्मा ही होता है एवं उसके अन्तःकरण में सदा शान्ति विराजमान रहती है। इस तरह सबकी एकता के अनन्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करने रूपी परमात्मा की उपासना करने वाला कोई दुराचारी नहीं होता न उसकी दुर्गति ही होती है यह निश्चित तथ्य है (३०-३१)।
हे पार्थ ! जो पाप योनि हैं अर्थात् जो पूर्व के पापों के कारण तामस स्वभाव वाली (चोर, ठग, डाकू आदि तमोगुण प्रधान) जातियों में जन्म लेने वाले

में ही होती है, परन्तु प्रथम तो मनुष्य शरीर प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है—अनेक योनियों में चक्कर काटने के बाद यह (मनुष्य शरीर) कठिनता से प्राप्त होता है; और प्राप्त होने पर भी यह अनित्य और असुख ही है, *क्योंकि संसार के अन्तर्गत* होने से इसकी दशा भी पल-पल में बदलती रहती है, और यह उत्पत्ति-नाशवान् भी है, और अज्ञान दशा में नाना प्रकार के कर्मों के परिणाम-स्वरूप बहुत से झंझट और बखेड़े इसमें लगे हुए रहते हैं, जिससे आत्मज्ञान की तरफ़ प्रवृत्ति होने में बहुत रुकावटें होती हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि इस दुर्लभ, *अनित्य* और असुख मनुष्य शरीर को पाकर सबके एकत्व-भाव—सबके आत्मा = परमात्मा की उपरोक्त भक्ति में लग कर नाना प्रकार के दुःखों एवं बन्धनों से छुटकारा पाने का साधन तुरन्त ही कर लेना चाहिए, इस काम में विलम्ब नहीं करना चाहिए; क्योंकि शरीर का एक पल का भी भरोसा नहीं है—न मालूम यह कब छूट जाय, और इसके छूटने के बाद फिर मनुष्य शरीर कब प्राप्त हो, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है। यह शरीर सबका एक समान अनित्य और असुख है, इसमें भी नीच-ऊँच, स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है, इसलिए अपने *उपरोक्त कल्याण का साधन करने में* किसी को भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। कहावत भी है कि "काल करे सो आज कर, आज करे सो अब। पल में परलय होयगी, फेर करोगा कब"। इस भूल में कदापि नहीं रहना चाहिए कि "संसार के नाना प्रकार के झंझट और बखेड़े मिटा कर फिर उक्त आत्मज्ञान अथवा समत्व-योग में लगने का यत्न करेंगे", क्योंकि जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक ये झंझट और बखेड़े शरीर के साथ ही बने रहते हैं—चाहे गृहस्थी में रहे या संन्यासी हो जाय, चाहे घर में रहे या वन में चला जाय—आत्मज्ञान के बिना अन्य किसी भी उपाय से ये मिट नहीं सकते। उपरोक्त समत्व-योग के अभ्यास से ही ये शनैः-शनैः आप-ही-आप शान्त हो जाते हैं। इसलिए इन झंझटों और बखेड़ों के रहते ही इस अभ्यास में लग जाना चाहिए (३२-३३)। मुझमें मन लगा, अर्थात् सब चराचर सृष्टि के एकत्व-भाव—सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मुझमें चित्त स्थिर कर, *मेरा भक्त हो*, अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मुझको सर्वव्यापक समझ कर सबके साथ प्रेम कर; *मेरा यजन कर*, अर्थात् सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरे विराट् शरीर-रूप जगत के धारणार्थ—लोक संग्रह के लिए—स्वधर्मानुसार (गी० अ० ३ श्लो० ३५), अपने हिस्से के कर्तव्य-कर्म कर; *मुझे नमस्कार कर*, अर्थात् चराचर सृष्टि को सबके आत्मा = परमात्मा-, मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर सबको नमस्कार कर और सबके साथ विनीत बर्ताव कर। इस प्रकार अपने को सबके साथ एकता के भाव में जोड़ कर

नाम और विशेष रूप ही में आसक्ति रख कर उनके अवलम्बन मात्र ही से मेरी उपासना नहीं होती; क्योंकि विशेष नाम और विशेष रूप, चाहे कितने ही उच्च कोटि के माने जायँ, परन्तु उनमें दूसरों से पृथक्ता का भाव होने के कारण वे झूठे होते हैं। इसलिए सब नामों और रूपों को सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरा ही भेष समझ कर सबके साथ अपनी एकता के अनुभव-पूर्वक सबसे प्रेम करने से ही मेरी उपासना होती है। मेरी उपासना के लिए न तो किसी सांसारिक पदार्थ को त्यागने की आवश्यकता है, और न यज्ञ, उत्सव, भोग, प्रसाद आदि के समारोह करने से अथवा शरीर को कष्ट देने वाले व्रत, उपवास आदि नाना प्रकार के तप करने से ही मेरी उपासना होती है, किन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) जो अपने रात-दिन के स्वाभाविक व्यवहार करते हैं, उन्हीं में सबकी एकता-रूप मेरा स्मरण करते रहना ही मेरा वास्तविक भजन-पूजन है। दूसरे शब्दों में जो शरीर-यात्रा के प्रत्येक व्यवहार में सदा यह स्मरण रखता है कि "सबके एकत्व-भाव = परमात्मा ही के प्रसाद से सब-कुछ हो रहा है, अर्थात् सबकी सहायता और सहयोग से ही प्रत्येक व्यवहार सिद्ध होता है," और जो दूसरों के शारीरिक व्यवहारों में सहायता और सहयोग देता रहता है, वही सच्चा उपासक और भक्त है। सारांश यह कि अखिल विश्व को सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरा ही रूप समझ कर सबके साथ अनन्य-भाव के प्रेम-युक्त यथा-योग्य समता का व्यवहार करना ही मेरी सच्ची उपासना है। यह उपासना सभी स्त्री, पुरुष, धनी, गरीब, ऊँच, नीच, छोटे, बड़े, सबल, निर्बल, विद्वान्, मूर्ख समान रूप से, स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता-पूर्वक अत्यन्त सुगमता से कर सकते हैं। किसी भी प्रकार के जाति-भेद, कुल-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भेद, सम्प्रदाय-भेद, देश-भेद, काल-भेद, वर्ग-भेद, आश्रम-भेद, पद-भेद, अवस्था-भेद आदि की बाधा बिना सबको इसका एक समान अधिकार है। दूसरे मतवादी अथवा धार्मिक कर्मकाण्डों की तरह किसी जाति-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष, वर्ण-विशेष, आश्रम-विशेष अथवा पद-विशेष का ठेका (Licence) इसमें नहीं है; क्योंकि सबके साथ प्रेम करने के लिए किसी भी प्रकार की विशेष योग्यता, विशेष शक्ति, विशेष ऐश्वर्य आदि साधनों की अपेक्षा नहीं रहती, और न किसी प्रकार की बाधा अथवा रुकावट ही रहती है। जहाँ भेद-भाव और राग-द्वेष होते हैं, वहीं ये अड़चनें और रुकावटें होती हैं। (परमात्मा की सच्ची उपासना अथवा भक्ति का विस्तृत वर्णन आगे बारहवें अध्याय में है; उपरोक्त स्पष्टीकरण उसी वर्णन को लक्ष्य करके किया गया है)।

इस एकत्व-भाव की उपासना में प्रविष्ट होने वाले पापी पवित्र हो जाते हैं, नीच माने जाने वाले उच्च हो जाते हैं निर्बल सबल हो जाते हैं, निर्धन धनशालियों

वे लोग स्त्रियों और शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं मानते। यद्यपि भगवान् कहते हैं कि "मैं सब भूत प्राणियों में एक समान हूँ, जो भक्ति-पूर्वक मुझे भजता है वह मुझ में है और मैं उसमें हूँ"; परन्तु ईश्वर के नाम पर स्थापित मन्दिरों और देवालयों में उसके सच्चे भक्त हरिजनों (अछूत माने जाने वाले भाइयों) को उपासना के लिए जाने नहीं दिया जाता। यद्यपि कहने के लिए तो ईश्वर पापियों को पवित्र करने वाला कहा जाता है, परन्तु उन अछूत माने जाने वालों के स्पर्श से ईश्वर के भी अपवित्र हो जाने का मिथ्या भ्रम किया जाता है। अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन अछूत माने जाने वाले हरिजनों के पूर्वज कबीर, रैदास प्रभृति अनेक आत्मज्ञानियों ने अपने अनुभवीय अध्यात्म-ज्ञान से भारतवर्ष को ही नहीं, किन्तु सारे जगत् को चकित कर दिया था, और जिनने निडर होकर इन मज़हबी और साम्प्रदायिक अन्ध-विश्वासों की ज़ोरदार शब्दों में निन्दा की थी, उन्हींके अनुवर्ती—वर्तमान के हरिजन लोग—साम्प्रदायिक अन्ध-विश्वासों के इतने पीछे पड़े हुए हैं कि जिन मन्दिरों और देवालयों में ईश्वरोपासना की इतनी विडम्बना हो रही है, उन्हीं में जाने से वे अपना कल्याण समझते हैं, और एक सम्प्रदाय के हठधर्मी लोगों के अत्याचारों से पीड़ित तथा तिरस्कृत होकर, दूसरे किसी सम्प्रदाय के हठधर्मियों के चंगुल में फंसना अपने लिए हितकर समझते हैं। मज़हब, धर्म अथवा सम्प्रदाय, ऊपर से देखने में चाहे कितने ही सुहावने और लाभकारी क्यों न प्रतीत हों, वास्तव में वे एक-दूसरे से अधिक बन्धनों में बान्धने वाले, अन्ध-विश्वासों में जकड़ने वाले, बलात् दुराचारों में प्रवृत्त कराने वाले, आत्म-सम्मान और स्वावलंबन के विरोधी एवं आत्मिक पतन के प्रधान कारण होते हैं। कोई भी मज़हब और सम्प्रदाय मनुष्य का मनुष्यत्व नहीं रहने देता। एक बार किसी मज़हब के घेरे में फँसने के बाद उससे निकलना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है, और मज़हबी घेरे से निकले बिना मनुष्य को किसी प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती। यह दर्शन-शास्त्रों ही की महिमा है कि वे मनुष्य को साम्प्रदायिक अथवा मज़हबी बेड़ियाँ तोड़ कर स्वतंत्र विचार करने का अवसर देते हैं; और यह वेदान्त दर्शन का ही अनुपम साहस है कि वह खुले आम कहता है कि "ईश्वर, परमात्मा अथवा आत्मा जो कुछ है, वह "तू" ही है। जो "तू" एक शरीर में है, वही "तू" सब शरीरों में है—"तेरे" सिवाय और कुछ नहीं है (छान्दोग्य-उप० प्रपा० ६)। यह जगत् सब "तेरा" ही खेल है। "तू" अपने वास्तविक आपको छोड़ कर और किसका तलाश करता है ? यदि सुख का तलाश करता है तो सुख स्वरूप "तू" है। यदि ज्ञान का तलाश करता है तो ज्ञान-स्वरूप "तू" है। यदि धन चाहता है तो धन-सम्पत्ति रूप "तू" है और यदि बल-वैभव का तलाश करता है तो बल वैभव-रूप स्वयं "तू" है। अपने-आप, अपनी असलियत,

दसवाँ अध्याय

इस दसवें अध्याय में भगवान् अपनी परिवर्धित सर्वज्ञता के [illegible] ज्ञान का सिलसिला जारी रखते हुए अर्जुन के प्रार्थना करने पर अपनी प्रधान प्रधान विभूतियों, अपनी आत्मा अथवा परमात्मा का विशेष रूप से अभिव्यक्ति के स्थलों का संक्षिप्त वर्णन करके, आत्मा अथवा परमात्मा के व्यापक अस्तित्व और उसकी सर्वव्यापकता की पुष्टि करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

मेरी महिमा को न तो देवता लोग जानते हैं और न महर्षि गण ही, क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियों का भी सब प्रकार से आदि (कारण) हूँ। तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से प्रत्येक शरीर में रहने वाली देखने, सुनने, सूँघने, स्वाद लेने, स्पर्श करने, संकल्प करने एवं विचारने आदि की सूक्ष्म शक्तियाँ, और आँख, नाक, कान जीभ आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से इन सबके समष्टि-भाव -जिनकी क्रमशः देवता और महर्षि संज्ञा है, ये सब आदि वाले हैं, अर्थात् ये सबके आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप मेरे संकल्प से उत्पन्न होते हैं, अतः ये आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप मेरी उत्पत्ति और महिमा को नहीं जान सकते (२)। जो मुझ (आत्मा अथवा परमात्मा) को अज अर्थात् जन्म से रहित, अनादि अर्थात् आरम्भ से रहित और सब लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्य मोह से रहित (होकर) सब पापों से मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से आत्मा को अजन्मा, अनादि और देह, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि सारे संघात का स्वामी, और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से परमात्मा को अजन्मा, अनादि और सब लोकों का महान् ईश्वर जानने से अज्ञान-जन्य सब पापों से छुटकारा अवश्य हो जाता है (३)। बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति, ज्ञान अर्थात् सत्-असत् का विवेक, असम्मोह अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य के विषय में विमूढ़ न होना, क्षमा अर्थात् सहनशीलता, सत्य अर्थात् सचाई, दम अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह, शम अर्थात् मन का संयम, सुख अर्थात् अनुकूल वेदना, दुःख अर्थात् प्रतिकूल वेदना, भव अर्थात् होना और अभाव अर्थात् न होना, भय अर्थात् डर और अभय अर्थात् निडरता, अहिंसा अर्थात् किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना, समता अर्थात् अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में एक समान रहना, तुष्टि अर्थात् तृप्ति, तप अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित तीन प्रकार का शिष्टाचार, दान अर्थात् द्रव्य का देना, यश अर्थात् कीर्ति, अयश अर्थात् निन्दा इत्यादि, प्राणियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव मुझ आत्मा अथवा परमात्मा से ही होते हैं। तात्पर्य यह कि प्राणियों के अन्तःकरण के जो बीस प्रकार के भाव इन दो श्लोकों में गिनाये हैं, और इनके अतिरिक्त काम, क्रोध, हर्ष, शोक, राग, द्वेष, भूख, प्यास आदि और भी अनेक प्रकार के जो भाव होते हैं, वे सब आत्मा अथवा परमात्मा की चेतन-शक्ति से होते हैं—जहाँ आत्मा की विशेष चेतना यानी विशेष अभिव्यक्ति होती है वहाँ ये भाव होते हैं (४-५)। पूर्व के सात महर्षि और चार मनु, मेरे संकल्प से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, जिनसे जगत् में यह प्रजा हुई है। तात्पर्य यह कि पिण्ड की दृष्टि से व्यष्टि आत्मा के संकल्प से, पहले-पहल दो कान, दो आँख, दो नाक और एक जिह्वा—इन सात ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म भाव, और मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार के अन्तःकरण चतुष्टय उत्पन्न होते हैं, फिर इनसे शरीर के सब अवयव होते हैं,

और ब्रह्माण्ड की दृष्टि से सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प से उपरोक्त सात ज्ञानेन्द्रियों के समष्टि-भाव = सप्त महर्षि (बृहदा० उ० अ० २ ब्रा० २ मं० ३-४), और अन्तःकरण-चतुष्टय के समष्टि-भाव चार मनु, सृष्टि के आदि में पहले-पहल उत्पन्न होते हैं; और फिर इनसे सारी सृष्टि होती है। व्यष्टि रूप से जो व्यवस्था पिण्ड की है, समष्टि रूप से उसी तरह की व्यवस्था ब्रह्माण्ड की है (६)। मेरी इस विभूति और योग के रहस्य को, अर्थात् एक से अनेक भाव होने के अद्भुत कौशल को जो तत्त्व से जानता है, वह अविचल समत्व-योग से युक्त हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा = परमात्मा-स्वरूप "मैं" जिस तरह एक से अनेक भावों में व्यक्त होता हूँ, उस "एक में अनेक और अनेकों में एक" के रहस्य को जो तात्त्विक विचारपूर्वक अच्छी तरह समझ लेता है, वही सदा समत्वयोगी होता है (७)। बुद्धिमान् लोग यह मान कर कि "मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ और मेरे से ही सबकी प्रवृत्ति होती है" प्रेमभाव से मेरी उपासना करते हैं (८)। (सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप) मुझमें मन लगा कर (और) प्राणों को मुझमें जोड़ कर अर्थात् श्वासोच्छ्वास में मेरा स्मरण करते हुए, (तथा) परस्पर में बोध कराते हुए एवं मेरे विषय में चर्चा करते हुए सदा उसी में तृप्त यानी मस्त रहते हैं, और उसी में रमण करते हैं अर्थात् आनन्दित होते हैं (९)। निरन्तर मुझमें मन लगाये हुए उन प्रीतिपूर्वक (मेरा) भजन करने वालों को मैं वह (तत्त्वज्ञान-रूप) बुद्धि-योग देता हूँ, कि जिससे वे मुझमें आ मिलते हैं (१०)। उन पर अनुग्रह करने के लिए ही मैं उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ, देदीप्यमान ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश करता हूँ (११)। श्लोक ८ से ११ तक का तात्पर्य यह है कि जो लोग उपरोक्त वर्णन के अनुसार सबके आत्मा = परमात्मा को सबका कारण, सबका आधार एवं सबका प्रवर्तक मान कर निरन्तर उसके स्मरण में लगे रहते हैं, और सदा इसी विषय की चर्चा और कथा-कीर्तन आदि के अभ्यास से प्रसन्नता और शान्ति पाते हैं सबके आत्मा = परमात्मा के अनुग्रह से उनके अन्तःकरण में आत्मज्ञान का प्रकाश होकर भेद-भाव रूप अज्ञान मिट जाता है अर्थात् उनकी बुद्धि सबके [illegible]

प्रकाशमान्, आदिदेव अर्थात् सब देवों का आदि कारण, अज अर्थात् जन्म से रहित और विभु अर्थात् सर्वव्यापक कहते हैं, और आप स्वयं भी मुझे ऐसा ही कहते हो। हे केशव ! आप मुझे जो (कुछ) कहते हो, उस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन् ! आपकी व्यक्ति अर्थात् आपके व्यक्त होने के रहस्य को अथवा आपके निर्दिष्ट व्यक्तित्व को न देव जानते हैं और न दानव ही। हे पुरुषोत्तम ! हे भूतों के उत्पन्न करने वाले ! हे भूतों के स्वामी ! हे देवों के देव ! हे जगत्पते ! आप स्वयं ही अपने-आपको जानते हो। तात्पर्य यह कि दूसरे श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा था कि मेरे प्रभाव को देवता और महर्षि कोई भी नहीं जानते, अर्जुन उसी भाव को दुहरा कर कहता है कि जो आप कहते हो वह बिलकुल ठीक है; ब्रह्माण्ड की दृष्टि से देवता और दैत्य आदि कोई भी आपकी महिमा को नहीं जानते— आप परमात्मा ही अपने-आपको जानते हो; और पिण्ड की दृष्टि से मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ, आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकतीं-आत्मा केवल अपने-आपके अनुभव ही का विषय है; "मैं हूँ" यह अनुभव मन के संकल्प से, बुद्धि के विचार से तथा ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापारों से नहीं होता, किन्तु अपने आप ही होता है। सुषुप्ति अवस्था में जब मन, बुद्धि और इन्द्रियों के सारे व्यापार बन्द होते हैं, तब भी "मैं हूँ" यह अनुभव बना रहता है। अतः आत्मा केवल अपने अनुभव का विषय है अर्थात् स्वयं संवेद्य है (१२-१५)। आप ही कृपा करके अपनी सारी दिव्य विभूतियाँ अर्थात् चमत्कारिक विशेष भावों का वर्णन करिए, जिन विभूतियों से आप इन लोकों में व्याप्त हो कर स्थित हो। हे योगिन् ! मैं सदा किस प्रकार से चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ ? हे भगवान् ! मैं आपका किन किन भावों (अथवा पदार्थों) में चिन्तन करूँ ? हे जनार्दन ! आप अपने योग और विभूति को, अर्थात् एक से अनेक चमत्कारिक भाव होने के अद्भुत कौशल को फिर से विस्तारपूर्वक कहिए, क्योंकि इस अमृत (रूप भाषण) को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती (१६-१८)।

स्पष्टीकरण—उपासना के प्रकरण में भगवान ने अपनी सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए अनेक स्थलों पर यह कहा कि मैं सबमें [illegible] रहा हूँ पर मुझे [illegible] कठिन है और इस अध्याय के आरम्भ में भी कहा है कि मेरे प्रभाव को [illegible] नहीं जानते [illegible] अर्जुन ने भगवान की [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible]

तथा मानसिक भावों में समान भाव से व्याप्त रहा हूँ, परन्तु उन व्यक्त पदार्थों और भावों में रहने वाले आपके अव्यक्त एवं सम भाव को पहिचान कर आप (आत्मा अथवा परमात्मा) के अस्तित्व का पता ही कैसे लगाया जाय? प्रत्येक व्यक्ति अथवा पदार्थ के अस्तित्व का निश्चय उसकी विशेषता से होता है, परन्तु आपने तो अपने उपरोक्त वर्णन में सर्वत्र अपनी समता का ही पाठ पढ़ाया है, कोई विशेषता नहीं बताई। अतः "(सबके आत्मस्वरूप) आप अव्यक्त भाव से सारे विश्व में व्याप्त रहे हो, और यह जगत् आप ही का व्यक्त स्वरूप है"—इस उपदेश को मन पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सकता। आप बार-बार कहते हो कि जो श्रद्धापूर्वक मुझे भजता है वह मुझे जान सकता है, सो श्रद्धा भी वहाँ होती है, जहाँ कोई विशेष चमत्कार अथवा असाधारण एवं अद्भुत बनाव देखने में आता है; जहाँ कोई विशेषता नहीं होती—सर्वत्र समानता होती है—वहाँ श्रद्धा भी नहीं होती। इसलिए आप कृपा करके अपनी विशेषताओं को बताइए, अर्थात् अपने उन अद्भुत एवं चित्त को चौंकाने वाले विशेष चमत्कारिक भावों और रूपों का वर्णन कीजिए, जिनमें सबके आत्मा-स्वरूप आपकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती हो, और जिनके चिन्तन से आप (आत्मा अथवा परमात्मा) का अस्तित्व चित्त पर विशेष रूप से अंकित हो सके। यद्यपि सातवें अध्याय के ८ से ११ तक के तीन श्लोकों में जल आदि स्थूल पदार्थों में उनके सूक्ष्म सार रूप से आप (आत्मा) का अस्तित्व आपने बताया है, और नवमें अध्याय के १६ वें से १९ वें तक के श्लोकों में "मैं क्रतु हूँ", "मैं यज्ञ हूँ" आदि वर्णनों से आपने सब पदार्थों में अपना सर्वात्म-भाव कहा है, और इस अध्याय में "बुद्धि, ज्ञान आदि सूक्ष्म भाव मुझसे ही होते हैं" कह कर सूक्ष्म रूप से अपना (आत्मा अथवा परमात्मा का) अस्तित्व प्रतिपादन किया है; परन्तु यह सब, आपके अत्यन्त सूक्ष्म इन्द्रियातीत एवं सामान्य भाव का वर्णन होने के कारण आपकी सर्वत्र उपस्थिति अर्थात् सब जगह आपके अस्तित्व का स्पष्ट ज्ञान और दृढ़ निश्चय कराने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए आप अपने उन चमत्कारिक एवं आश्चर्य-प्रद विशेष भावों का वर्णन करने की कृपा कीजिए, जिनमें आपका अस्तित्व विशेष रूप से अभिव्यक्त अथवा विकसित हुआ प्रतीत होता हो और जिनके अवलम्बन से आपका चिन्तन करके आपको जानना सुगम हो जाय। अर्जुन की इस प्रार्थना पर भगवान् विशेष आत्म-विकास वाली मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन करते हैं। परन्तु इन विभूतियों के वर्णन के साथ ही [illegible] कह देते हैं कि [illegible] [illegible] नहीं [illegible] विभूति से सीमित नहीं है [illegible] है [illegible] हैं, और इन विभूतियों में [illegible] विशेष रूप से प्रकट होता है [illegible] होता है। परन्तु

काच आदि चमकदार पदार्थों में प्रतिबिम्बित होकर उसकी विशेष चमक प्रतीत होती है; उसी तरह "मैं" सबका आत्मा सर्वत्र एक समान हूँ, परन्तु विशेष विभूतियों में विशेष रूप से प्रदर्शित होता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।

पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २६ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३६ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

देने वाले दण्ड को, और सबका संहार करने वाली मृत्यु को भी भगवान् ने अपनी विशेष विभूतियों में गिनाया है। अभिप्राय यह कि आत्मा अथवा परमात्मा तो सबमें एक समान व्यापक है, किन्तु जिस वस्तु में जिस विषय की प्रभावोत्पादक विशेषता हो, उसी में आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष रूप से अभिव्यक्ति बताई है। आत्मा अथवा परमात्मा सात्त्विक, राजस और तामस भेद वाले सब गुणों में, तथा सब पदार्थों में एक समान व्यापक है, वास्तव में उसमें उत्कृष्टता और निकृष्टता का भेद है नहीं। अतः जिस पदार्थ में जिस गुण का विशेष उत्कर्ष होता है, वही आत्मा अथवा परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति का द्योतक होता है।

विभूति-वर्णन के पहले और उसके अन्त में भी भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "ये विभूतियाँ तो थोड़ी-सी नमूने के तौर पर कही हैं, वास्तव में मेरी विभूतियों का कोई अन्त नहीं आता। विश्व में अनन्त विभूतियाँ भूतकाल में हो गई हैं, अनन्त वर्तमान में हैं और अनन्त ही भविष्य में होती रहेंगी। जिस-जिस व्यक्ति, जिस-जिस पदार्थ, जिस-जिस घटना अथवा जिस-जिस बनाव में जिस-जिस प्रकार की विशेषता अथवा चमत्कार प्रतीत हो, उस-उसमें आत्मा अथवा परमात्मा ही की विशेष अभिव्यक्ति अर्थात् विशेष विकास समझना चाहिए।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि विभूतियों का वर्णन इस समय किया जाता तो संभवतः वर्तमान में जो-जो व्यक्ति अथवा पदार्थ अथवा घटनाएँ संसार में विशेष प्रभावोत्पादक एवं चमत्कारी मानी जाती हैं, उनकी गणना भी परमात्मा की विभूतियों में की जाती; अर्थात् जो-जो असाधारण प्रतिभाशाली बुद्धिमान, विद्वान एवं तत्ववेत्ता महापुरुष, प्रतापी शासक, धुरन्धर राजनीतिज्ञ, महाबली शूरवीर, प्रसिद्ध वैज्ञानिक, मनोहर ललित कलाओं के प्रख्यात विशेषज्ञ, सर्वाङ्गख्यात कवि अतुल सम्पत्तिशाली धन-कुबेर हैं, इसी तरह अन्य गुणों एवं कलाओं में असाधारण विशेषता रखने वाले व्यक्ति हैं; तथा संसार को चकित करने वाले जो-जो वैज्ञानिक आविष्कार होते हैं, एवं अद्भुत घटनाएँ घटती हैं—वे सब परमात्मा की विभूतियों के वर्णन में सम्मिलित किए जावें। तात्पर्य यह कि पृथ्वी पर समय-समय पर विशेष गुण, कला, योग्यता, शक्ति तथा वैभव आदि से सम्पन्न अद्भुत चमत्कारिक व्यक्ति और पदार्थ हो गये हैं, होते रहते हैं और भविष्य में होते रहेंगे, जिनका कोई अन्त नहीं है, उनमें आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व और प्रभाव विशेष रूप से प्रकट होता है, परन्तु आत्मा अथवा परमात्मा इन विभूतियों में ही परिमित नहीं होता न इनमें बंधा हुआ रहता है। इन अनन्त विभूतियों से भरा हुआ यह विश्व आत्मा अथवा परमात्मा के किसी एक अंश में प्रकट हो-हो कर लय होता रहता है। जिस

ग्यारहवाँ अध्याय

सबकी एकता के विज्ञान सहित ज्ञान के सिलसिले में दसवें अध्याय में भगवान् ने अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों का वर्णन करके सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप अपने-आपके अस्तित्व एवं अपनी सर्वव्यापकता का विशेष रूप से खुलासा किया। अब इस ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन के प्रार्थना करने पर, भगवान् अपने शरीर ही में अखिल विश्व को दिखा कर सबकी एकता का प्रत्यक्ष अनुभव कराते हैं।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

सकता हूँ, तो कृपा करके उसे अवश्य दिखलाइए (२-४)। श्री भगवान् बोले कि हे पार्थ! मेरे नाना भाँति के, नाना वर्णों तथा नाना आकृतियों वाले सैंकड़ों और हजारों तरह के दिव्य, अर्थात् स्थूलता से रहित केवल मानसिक दिव्य-दृष्टि से देखने योग्य सूक्ष्म रूपों को देख (५)। आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्विनीकुमारों तथा मरुद्गणों को देख; और हे भारत! बहुत से आश्चर्यों यानी अद्भुत बनावों को देख, जो पहले कभी न देखे होंगे (६)। हे गुडाकेश! आज यहाँ पर मेरे शरीर में एकत्र-भाव से स्थित सम्पूर्ण चराचर जगत् को, तथा और जो कुछ देखना चाहे वह (सब) देख ले (७)। परन्तु अपने इन्हीं नेत्रों (चर्म-चक्षुओं*) से तू मुझे (मेरे विश्वरूप को) नहीं देख सकेगा; इसलिए मैं तुझे दिव्य (मानसिक*) नेत्र देता हूँ, (जिससे तू) मेरे ईश्वरीय योग अर्थात् "एक में अनेक और अनेकों में एक" के अलौकिक कौशल को देख (८)। संजय बोला कि हे राजन्! ऐसा कह कर फिर महा-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को (अपना) परम ईश्वरीय रूप अर्थात् विश्वरूप दिखलाया (९)। अनेक मुखों ‡, (और अनेक) नेत्रों‡ वाले, अनेक अद्भुत दृश्यों सहित, अनेक दिव्य आभूषणों‡ युक्त, अनेक दिव्य शस्त्रों‡ से सुसज्जित, दिव्य मालाओं‡ और वस्त्रों‡ को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध‡ (केसर-चन्दन आदि) का अनुलेपन किये हुए, सब आश्चर्यों से युक्त, अनन्त विश्वतोमुख देव अर्थात् अपने विश्वरूप को (अर्जुन के प्रति) दिखाया (१०-११)। यदि आकाश में हजार सूर्यों की ज्योति एक साथ उदय हो तो वह शायद उस महात्मा के तेज के समान हो सके (१२)। अनेक प्रकार के

---

* दृष्टि तीन प्रकार की होती है :—(१) भौतिक स्थूल पदार्थों को स्थूल नेत्र इन्द्रिय से देखना, स्थूल-दृष्टि अथवा चर्म-दृष्टि है, (२) स्थूल नेत्रों अथवा चर्म-चक्षु से न दीख सकने वाले सूक्ष्म पदार्थों को मन के ध्यान से देखना, सूक्ष्म-दृष्टि अथवा दिव्य-दृष्टि है, और (३) बुद्धि द्वारा तात्त्विक विचार से निश्चय करके सबकी एकता का अनुभव करना, ज्ञान-दृष्टि अथवा सम दृष्टि है (गी० अ० २ श्लो० १८, अ०६ श्लो० २९, अ० १३ श्लो० २७ से ३०, अ० १८ श्लो० २०)।

‡ संसार में अनन्त प्रकार की आकृतियों एवं रूपों वाले देवता, दैत्य, असुर, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी एवं अन्य जन्तु होते हैं, जिनके अनन्त मुख, अनन्त नेत्र अनन्त हाथ, अनन्त पैर अनन्त पेट आदि अंग होते हैं, और वे अनन्त प्रकार के शृङ्गारों से सजे हुए अनन्त प्रकार के वस्त्राभूषणों से युक्त एवं अनन्त प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को लिये हुए होते हैं, वे सब भगवान् के विश्वरूप के अन्तर्गत होने के कारण भगवान् ही के अनन्त मुख, अनन्त प्रकार के नेत्र एवं अनन्त प्रकार के बनावों के रूप अर्जुन को मानसिक दिव्य दृष्टि से दीखने लगे।

करके पर्दों में बन्द कर लिया जाता है, और फिर उसी दृश्य को बृहदाकार रूप में दिखाया जाता है, तथा अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं एवं जन्तुओं को सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों (Magnifying Glasses), यानी छोटी वस्तु को बड़ी दिखलाने वाले शीशों द्वारा बहुत बड़े रूप में दिखाया जाता है, उसी तरह शरीर में विश्व दिखाया जा सकता है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ स्थूल महान्—विस्तृत रूप से है, उसी प्रकार का स्थूल पिण्ड अथवा शरीर में छोटे-अणु रूप में है। अतः मनोयोग की दिव्य दृष्टि के अणु वीक्षण यन्त्र द्वारा इस शरीर ही में ब्रह्माण्ड का देख सकना असम्भव नहीं है।

× × ×

अब अर्जुन ने जिस तरह भगवान् के शरीर में सूक्ष्म (आधिदैविक) और स्थूल (आधिभौतिक) सृष्टि का विस्तार देखा, उसका कुछ वर्णन आगे के श्लोकों में किया गया है।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

को मैं सनातन पुरुष मानता हूँ (१८)। मैं देखता हूँ कि आप आदि, मध्य एवं अन्त से रहित हैं, अनन्त शक्ति (और) अनन्त भुजाओं वाले हैं, चन्द्र-सूर्य (आपके) नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि (आपका) मुख है, और अपने तेज से आप इस अखिल विश्व को तपा रहे हैं अर्थात् प्रकाशित कर रहे हैं (१९)। आकाश और पृथ्वी के बीच के इस अन्तर में तथा सब दिशाओं में एक मात्र आप ही व्याप्त हो रहे हैं, हे महात्मन्! आपके इस अद्भुत एवं उग्र रूप को देख कर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं, अर्थात् जगत के समस्त प्रकार के आश्चर्य जनक बनावों को देख कर लोगों की अक्ल चकराती है (२०)। यह देखो, देवताओं के समूह आप ही में प्रवेश कर रहे हैं, मानो समा रहे हैं, कई भयभीत हुए हाथ जोड़ कर प्रार्थना कर रहे हैं, महर्षि और सिद्धों के समूह "स्वस्ति" ऐसा कहते हुए बहुतसी स्तुतियों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं (२१)। रुद्र, आदित्य, वसु और जो साध्य गण, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समुदाय सब चकित हुए आपको देख रहे हैं। तात्पर्य यह कि सृष्टि की अनन्त प्रकार की रचनाओं को देख-देख कर कोई भयानक बनावों से डरते हैं, तो कोई आश्चर्य जनक बनावों से विस्मित हुए, अपनी-अपनी भावना के अनुसार इन सब बनावों के आधार, सबके आत्मा = परमात्मा स्वरूप आपका चिन्तन करते हैं, और चकित हुए आपकी स्तुति करते हैं (२२)। हे महाबाहो! आपके बहुतसे मुखों, (बहुतसे) नेत्रों, बहुतसी भुजाओं, (बहुतसी) जंघाओं, (बहुतसे) पैरों, बहुतसे उदरों एवं बहुतसे बड़े बड़े दाँतों वाले, विकराल और महान रूप को देख कर सब लोगों को और मुझे भी घबराहट हो रही है, अर्थात् सब व्याकुल हो रहे हैं (२३)। अनेक प्रकाशमान् वर्णों से युक्त, गगनस्पर्शी खुले हुए मुख वाले, एवं देदीप्यमान विशाल नेत्रों वाले आपको देख कर हे विष्णु! मेरा अन्तःकरण व्याकुल हो रहा है और मुझे धैर्य एवं शान्ति नहीं होती है (२४)। आपके बड़े बड़े विकराल दाँतों को और कालाग्नि के समान मुखों को देख कर मुझे दिशाएँ नहीं सूझती और न चैन ही पड़ता है। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइए (२५)। और यह देखो, समस्त राजाओं के समुदाय सहित सब धृतराष्ट्र के पुत्र, तथा भीष्म, द्रोण और यह कर्ण और हमारी तरफ के मुख्य मुख्य योद्धा भी आपके विकराल दाँतों वाले भयानक मुखों में बरबस प्रविष्ट हो रहे हैं और कइयों के [illegible] दाँतों के बीच में [illegible] हुए दीख रहे हैं
[illegible]

लिए आपके मुखों में बहुत वेग से जा रहे हैं (२६)। प्रज्वलित मुखों से सब लोगों को सब तरफ़ से ग्रसित करते हुए आप चाट-चाट कर स्वाद ले रहे हैं; हे विष्णु! आपकी उग्र प्रभाएँ सारे जगत् को (अपने) तेज से व्याप्त करके प्रकाशित कर रही हैं (३०)। मुझे बतलाइए कि ऐसे उग्ररूप को धारण करने वाले आप कौन हैं? हे देववर! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होइए। आप आदि पुरुष को मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपकी चेष्टाओं को मैं कुछ भी नहीं समझता, अर्थात् आप क्या करने को प्रस्तुत हुए हैं, यह मेरी समझ में नहीं आता (३१)। श्री भगवान् बोले कि मैं लोगों का क्षयकारी (उनके दुष्कर्मों से) बढ़ा हुआ काल हूँ, लोगों का नाश करने के लिए यहाँ पर प्रवृत्त हूँ। ये जो सामने योद्धा लोग उपस्थित हैं, वे सब तेरे (लड़े) बिना भी (बचे) नहीं रहेंगे (३२)। इसलिए तू उठ खड़ा हो, (और) यश प्राप्त कर; शत्रुओं को जीत कर निष्कण्टक राज्य भोग। हे सव्यसाची! ये मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए हैं, तू निमित्तमात्र हो जा (३३)। मेरे द्वारा मारे हुए द्रोणाचार्य, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण, तथा दूसरे भी वीर योद्धाओं को तू मार, मत घबड़ा, युद्ध कर; तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा। तात्पर्य यह कि अर्जुन इस चिन्ता से बहुत घबड़ा रहा था कि "लड़ाई में मुझे भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों एवं स्वजन-बान्धवों को मारना पड़ेगा" और इसीलिए वह युद्ध करना नहीं चाहता था। अर्जुन की इस चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान् दिखाते हैं कि लोगों का मरना-जीना अपने-अपने कर्मों पर निर्भर रहता है। जिनके जैसे कर्म होते हैं, उनके लिए वैसे ही आयोजन (अपने-अपने कर्मों के परिणाम-स्वरूप) जगत् की समष्टि-शक्ति-स्वरूप मेरे द्वारा बन जाते हैं। इस कर्म-विपाक के अटल नियमानुसार ये भीष्म, द्रोण आदि शूरवीर लोग अपनी दुष्कृतियों से आप ही अपनी मृत्यु के निकट पहुँच चुके हैं, और इन दुष्कृत्यों के परिणाम-स्वरूप "मैं" सबका आत्मा = परमात्मा काल-रूप होकर अर्थात् समष्टि-संहारक शक्ति से इनका संहार करने को स्वयं यहाँ उपस्थित हूँ। यद्यपि उपरोक्त कर्म-विपाक के अटल नियम के अनुसार इन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है, और शरीरों का चोला* बदलने-रूप इनका मरना निश्चित है परन्तु इन लोगों के अत्याचारों का मुख्य शिकार तू है इसलिए उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप इनको मारने का निमित्त मात्र बन कर इनके अत्याचारों से लोगों को मुक्त करके, नीति और धर्मपूर्वक राज्य-शासन करना, और साथ ही अपने अधिकारानुसार राज्य-लक्ष्मी भोगना तेरे लिए उचित है यदि अज्ञान और मोहवश तू ऐसा नहीं करेगा तो भी ये लोग तो अपनी दुष्कृतियों के परिणाम-स्वरूप मरेंगे ही, यानी शरीरों का चोला

---

* दूसरे अध्याय के श्लोक २२ का स्पष्टीकरण देखिए।

के सड़े हुए अथवा दुःखदायक अंग को काट देना आवश्यक होने पर डॉक्टर उसे काट देता है, तो डॉक्टर को कोई दोष नहीं लगता; वास्तव में वह अंग तो कटने वाला ही था, डॉक्टर उसके काटने में निमित्त मात्र होता है, उसे काटना डॉक्टर का कर्तव्य होता है, और अपना कर्तव्य करने में उसे कुछ लाभ भी होता है; परन्तु यदि वह मोह से या मानसिक दुर्बलता के वश होकर उसे नहीं काटता है, तो अपने कर्तव्य से विमुख होता है, लाभ से वंचित रहता है और फिर डॉक्टरी करने के योग्य नहीं रहता, जिससे उसका जीवन बिगड़ जाता है; और साथ ही उक्त अंग के न काटने से जो हानि होती है, उसके दोष का भागी भी वह होता है। इसी तरह इन अत्याचारियों को मारने में निमित्त होना कोई पाप नहीं है, किन्तु वीर क्षत्रिय के लिए, इनको मार कर राज्य-शासन करना अवश्य-कर्तव्य है। अपनी व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए निर्दोष प्राणियों को मारने से जितना पाप होता है, उतना ही सार्वजनिक हित की उपेक्षा करके अत्याचारियों पर मोहवश अथवा व्यक्तिगत पुण्य-संचय की कामना से दया अथवा क्षमा करना पाप है। मैं सब लोगों का आत्मा, सबका एकत्व-भाव इन लोगों के दुष्कर्मों के परिणाम-स्वरूप कालरूप होकर तेरे निमित्त से इनका संहार करने को उद्यत हूँ, यह स्पष्ट निश्चय कर, और इन लोगों को मारने में निमित्त होकर धर्मपूर्वक राज्य का सुख भोग। यदि तू ऐसा नहीं करेगा, तो भी ये तो किसी न किसी प्रकार से मारे ही जायेंगे, किन्तु तू अपने कर्तव्य-रूप धर्म से विमुख होगा, जिससे तेरा भारी पतन होकर विनाश होगा।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

अर्थ—संजय बोला कि श्रीकृष्ण के यह वचन सुन कर अर्जुन भयभीत होकर एवं कांपता हुआ हाथ जोड़ कर नमस्कार करके अत्यन्त विनीत भाव-युक्त गद्गद वाणी से फिर कृष्ण को इस तरह कहने लगा (३५)। अर्जुन बोला कि हे हृषीकेश ! यह उचित ही है कि सांसारिक लोग आपकी महिमा का कीर्तन करके हर्षित होते हैं और उसमें अनुराग रखते हैं, तथा राक्षस लोग भयभीत होकर दसों दिशाओं में भागते फिरते हैं, और सब सिद्धों के समुदाय (आपको) नमस्कार करते हैं। तात्पर्य यह कि जो सदाचारी लोग हैं वे प्रसन्नता एवं प्रेमपूर्वक सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप आपकी अद्भुत महिमा का कीर्तन किया करते हैं, तथा आपको नमस्कार करते हैं; और दुराचारी लोग अपने दुष्कर्मों के फल-स्वरूप डर के मारे इधर-उधर भागते

फिरते हैं, यह बिलकुल ठीक है (३६)। हे महात्मन्! आपको वे नमस्कार क्यों नहीं करेंगे? आप ब्रह्मा से भी महान् और उसके आदि कारण हो। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! सत् और असत्, एवं उन दोनों से परे अक्षर (ब्रह्म) आप ही हो; अर्थात् जो कुछ व्यक्त (इन्द्रियगोचर) और अव्यक्त (इन्द्रियातीत) है, अथवा प्रकृति और पुरुष, अथवा सगुण और निर्गुण आदि द्वन्द्व हैं वे और उन द्वन्द्वों का समावेश एवं उनका एकत्व-भाव परम अक्षर—पर-ब्रह्म आप ही हो (३७)। आप आदि-देव अर्थात् देवताओं के आदि कारण हो, आप पुरातन पुरुष हो, आप ही इस विश्व के अन्तिम लय-स्थान हो; जानने वाले—ज्ञाता आप हो, जानने योग्य—ज्ञेय आप हो और परमपद आप हो; हे अनन्तरूप! आपसे विश्व व्याप्त हो रहा है (३८)। वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति ब्रह्मा, तथा प्रपितामह अर्थात् ब्रह्मा के भी कारण, आप ही हो; आपको नमस्कार है, हजार बार नमस्कार करके फिर भी आपको बारंबार नमस्कार है (३९)। हे सर्व! आपको आगे से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है और सब ओर से नमस्कार है; हे अनन्तवीर्य! आपका विक्रम अपार है, आप सबमें परिपूर्ण हैं, इसलिए आप सर्व हैं (४०)। आपकी इस महिमा को न जानते हुए (आपको) मित्र मान कर स्नेह अथवा प्रमादवश मेरे से आपके लिए हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा—इस तरह के बराबरी के संबोधनों का जो उपयोग हुआ, और घूमते-फिरते, सोते, बैठते और भोजन करते समय, एकान्त में अथवा दूसरों के सामने हास्य-विनोद के निमित्त जो आपका अपमान हुआ हो, उसके लिए, हे अच्युत! हे अप्रमेय! मैं आप से क्षमा चाहता हूँ (४१-४२)। आप इस चराचर विश्व के पिता हो, पूज्य हो और बड़े-से-बड़े गुरु हो; हे अप्रतिम-प्रभाव! तीनों लोकों में आपके समान कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक कोई कैसे होवे (४३)! इसलिए सबके स्वामी और पूज्य आपको मैं साष्टांग नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न होइए। जिस तरह पिता पुत्र का, मित्र मित्र का, पति पत्नी का (अपराध क्षमा कर देता है) उसी तरह आप
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

मानता था, परन्तु जब तक उसने उनके सर्वात्म-भाव अथवा विश्व-रूप को प्रत्य
देखा था, तब तक उनके अलौकिक ऐश्वर्य का उतना प्रभाव उसके चित्त पर
पड़ा था, जितना कि विश्वरूप देखने के बाद पड़ा। इस कारण विश्वरूप देखने
वह चौंक कर घबराया कि अनुपम प्रतिभावाले भगवान् श्रीकृष्ण को व्यक्ति-भाव
अपना मित्र समझ कर बराबरी का बर्ताव करके मैंने बड़ा अनर्थ किया। इसलिए
भगवान् की स्तुति द्वारा, उन्हें प्रसन्न करके अपने अपराध क्षमा कराने के लिए उन
प्रार्थना करने लगा (४४)। पहले कभी न देखे हुए (आपके रूप) को देख कर मु
हर्ष हुआ है, और भय से मेरा मन व्यथित भी हुआ है; इसलिए हे देव! मु
(अपना) वह रूप दिखाइए; हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइए। मैं आप
मुकुट धारण किये हुए एवं हाथों में गदा और चक्र लिये हुए उसी तरह देखना चाह
हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ति! उसी चतुर्भुज-रूप से प्रकट होइए। तात्पर्य यह कि
भगवान् का विश्वरूप देख कर यद्यपि अर्जुन को इस बात का हर्ष हुआ था कि
पहले कभी नहीं देखा था, उस दुर्लभ रूप को देखने का आज मुझे सौभाग्य प्रा
हो गया परन्तु साथ ही जगत् के अनेक करुणा-जनक, अद्भुत, भीषण, रौद्र एवं बीभत्
काण्ड एक साथ देख कर वह अत्यन्त ही भयभीत एवं व्याकुल हो उठा; अतः भगवान
से प्रार्थना करने लगा कि अपनी इस अद्भुत माया को समेट कर मुकुट, शंख, चक्र, गदा
और पद्म को धारण किये हुए अपने चतुर्भुज रूप को दिखाइए; क्योंकि जगत् के भिन्न-
भिन्न प्रकार के विषम भावों वाले बनावों में उलझने से घबराहट के सिवाय शान्ति
कहीं भी नहीं मिलती। सबकी एकता के अनुभव-रूप मुकुट धारण किये हुए तथा
विद्या-रूप शंख, कौशल-रूप चक्र, बल-रूप गदा और अनासक्ति-रूप पद्म से युक्त आप
(परमात्मा) के चतुर्भुज-रूप की उपासना ही से सब प्रकार की शान्ति, पुष्टि और
तुष्टि की प्राप्ति होती है (४२-४६)। श्री भगवान् बोले कि मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपने
योगबल से तुझे यह तेजोमय, अनन्त और अनादि परम विश्वरूप दिखलाया, जिसको
तेरे से पहले किसी ने नहीं देखा। तात्पर्य यह कि अर्जुन ने भगवान् से प्रसन्न होने
की जो प्रार्थना की, उस पर भगवान् कहते हैं कि "मैंने तेरे प्रेमभाव रूप श्रेष्ठ आचरण
से प्रसन्न होकर ही यह विश्वरूप दिखाया है, जो रूप दूसरों को देखना अत्यन्त
दुर्लभ है। मेरे (कृष्ण के) इस शरीर के साथ तेरे सखाभाव के बर्ताव से मेरे
अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि मेरे लिए छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का कोई
भेद-भाव नहीं है—मैं सबमें एक समान हूँ जो मुझे जैसा भजते हैं उन्हें मैं वैसा ही
प्रतीत होता हूँ, यह पहले कह आया हूँ" (४७)। हे कुरुओं में श्रेष्ठ वीर! न वेदों
और यज्ञों से न पठन-पाठन से, न दान से न कर्मकाण्डों से और न उग्र तपों से
मनुष्य-लोक में तेरे सिवाय कोई और मुझे इस रूप में देख सकता है। तात्पर्य यह

कि कर्मकाण्डात्मक वेदों के अध्ययन तथा यज्ञादिक अन्य क्रियाओं में पृथक्ता का भाव बना रहने के कारण मनो-योग नहीं होता, और पूर्ण मनो-योग के बिना विश्वरूप देखने की दिव्य-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती (४८)। मेरे इस घोर रूप को देख कर व्यथित मत हो और मूढ़ भी मत हो। भय छोड़ कर प्रसन्न चित्त से फिर तू मेरे उसी रूप को यह देख (४९)। संजय बोला कि उस समय वासुदेव श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार कह कर अपना (चतुर्भुज) रूप दिखाया, और उसके बाद उस महात्मा ने फिर से सौम्य (मनुष्य रूप) होकर, उस भयभीत (अर्जुन) को आश्वासन यानी दिलासा दी (५०)। अर्जुन बोला कि हे जनार्दन! आपका यह सौम्य मनुष्य रूप देख कर अब मेरा चित्त ठिकाने आया है, और पहले की तरह मैं स्वस्थ हो गया हूँ (५१)। श्री भगवान् बोले कि मेरे जिस रूप को तूने देखा है उसका दर्शन होना अत्यन्त कठिन है, देवता लोग भी इस रूप को देखने की सदा इच्छा करते रहते हैं (५२)। न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से, मैं इस प्रकार देखा जा सकता हूँ, जैसा कि तुझे तूने देखा है (५३)। हे अर्जुन! हे परन्तप! केवल अनन्य-भक्ति से ही मैं इस प्रकार तत्त्वतः जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूँ। तात्पर्य यह कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, यह प्रत्यक्ष बोध होना अत्यन्त ही कठिन है; न तो व्यष्टि और न समष्टि ज्ञानेन्द्रिय रूप देवताओं को यह प्रत्यक्ष बोध होता है, न वेदों के पाठ करते रहने से, अथवा तप करने से, अथवा दान देने से, अथवा यज्ञानुष्ठान से ही यह प्रत्यक्ष बोध हो सकता है। जो परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक होने के दृढ़-निश्चय-पूर्वक सबके साथ प्रेम* करने रूपी परमात्मा की अनन्य-भाव की भक्ति करता है, उसे ही इस विषय का प्रत्यक्ष बोध होता है, और वही सबके आत्मा = परमात्मा में तन्मय हो जाता है (५४)।

स्पष्टीकरण—सबके एकत्व-भाव, सबके आत्मा = परमात्मा को भूल कर जगत् के नाना भाँति के बनावों ही के पीछे पड़े रहने से, अथवा केवल उन्हीं की खोज में लगे रहने से विक्षेप ही होता है, क्योंकि जगत् के बनाव एक-से-एक अधिक एवं एक-से-एक विलक्षण निकलते चले जाते हैं, उनका कहीं ओर-छोर नहीं मिलता। उनको देखते-देखते अक्ल चकरा जाती है। जहाँ अनुकूल बनाव दृष्टिगोचर होते हैं, वहीं प्रतिकूलता प्रतीत होने लगती है। प्रकृति की त्रिगुणात्मक रचना में सात्त्विक बनावों के साथ ही साथ राजस और तामस बनाव भी दृष्टिगोचर होते रहते हैं।

---

* प्रेम का खुलासा १२ वें अध्याय के १३ वें श्लोक के स्पष्टीकरण में देखिए

जहाँ सज्जन पुरुष अपने सत्कर्मों में संलग्न दीखते हैं, तो साथ ही वहाँ दुष्ट लोग भी अपने दुराचारों में प्रवृत्त दिखाई देते हैं। एक तरफ हर्ष एवं मंगल के उत्सव मनाये जा रहे हैं, तो दूसरी तरफ शोक का करुण-क्रन्दन हो रहा है। एक तरफ सुख-सम्पत्ति के ठाट लगे हुए हैं, तो दूसरी तरफ दरिद्रता नंगा नृत्य कर रही है। एक तरफ जन्म और विवाह के बाजे बज रहे हैं, तो दूसरी तरफ मृत्यु का हाहाकार हो रहा है। एक तरफ ऐशो-आराम के साधनों के नित-नये आविष्कार हो रहे हैं, तो दूसरी तरफ दैवी दुर्घटनाओं का तांता बंध रहा है। एक तरफ शक्ति-सम्पन्न लोग अपनी शक्ति के मद से मतवाले हो रहे हैं, तो दूसरी तरफ उनके अत्याचारों से पीड़ित निर्बल जनता अपने भाग्य को कोस रही है। एक तरफ पर्वतों, वनों, महलों और बाग-बगीचों की छटाएँ मन को मोहित कर रही हैं, तो दूसरी तरफ कूड़े-कर्कट, गटर-नालियों, श्मशान और कब्रिस्तानों के गन्दे एवं बीभत्स दृश्यों से अन्तःकरण ग्लानि से व्याकुल हो उठता है। परन्तु मनुष्य के मन पर अनुकूल अथवा सुखदायक बनावों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, जितना कि प्रतिकूल अथवा दुःखदायक बनावों का पड़ता है, क्योंकि अनुकूलता की प्राप्ति मनुष्य अपने ही प्रयत्न का फल समझता है, इसलिए अनुकूलता अथवा सुख में उसे अपने शरीर और शरीर से संबंध रखने वाले व्यक्तियों अथवा पदार्थों के सिवाय अन्य किसी अदृश्य विषय पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; परन्तु प्रतिकूलता की प्राप्ति का कारण वह अपने को नहीं मानता। इसलिए जब कोई दुःख अथवा विपत्ति आती है—विशेषकर अपने तथा अपने आत्मीय जनों पर अचानक रोगादिक अथवा युद्धादिक के संकट आते हैं, जो अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं मिटते और मृत्यु निकट दीखने लगती है, तब घबराहट बहुत बढ़ जाती है, और उस समय किसी अदृश्य शक्ति का ध्यान आता है। उस अदृश्य शक्ति को लोग प्रकृति (Nature), दैव (Providence), भाग्य (Luck) अथवा ईश्वर (God) आदि नाम, अपनी-अपनी भावना के अनुसार दे देते हैं, और अपने अज्ञान तथा प्रमादवश देहाभिमान से किये हुए पापों का पश्चात्ताप करके उनके लिए उस अदृश्य शक्ति से क्षमा-याचना करते हैं। परन्तु ऐसा करने पर भी मन की व्याकुलता नहीं मिटती, क्योंकि उस अदृश्य शक्ति को मान लेने पर भी प्रतिकूलता-रूप संकट की निवृत्ति नहीं हो जाती। चित्त की विक्षिप्तता तभी मिटती है, जब कि जगत के अनन्त प्रकार के बनावों को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा वाला सबके अपने-आपके अनेक रूप होने का दृढ़ निश्चय हो जाता है, और अनुकूलता प्रतिकूलता आदि द्वन्द्वों में परिपूर्ण जगत का, आत्मा अथवा परमात्मा वाला सबके अपने आपमें समावेश हो जाता है

यही भाव इस ग्यारहवें अध्याय में दिखाया गया है। अर्जुन की प्रार्थना पर

भगवान् ने जब अपना विश्व-रूप दिखाया तो उसमें अनन्त प्रकार के बनावों, खास करके विकराल एवं अत्यन्त भयानक रूपों को देख कर उसके होश उड़ गये, और उसे इस बात का स्मरण ही न रहा कि "मैं भगवान् का विश्व-रूप देख रहा हूँ"; और जब उसने अपने स्वजन-बांधवों को काल-रूपी भगवान् के मुख में चबाये जाते हुए देखा, तब तो वह अत्यन्त ही घबड़ा उठा, और कहने लगा कि "मैं यह क्या भयानक दृश्य देख रहा हूँ?" तब भगवान् ने उसे समझाया कि "तूने अज्ञान-वश जो यह अभिमान किया था कि "मैं नहीं लड़ूँगा तो ये लोग जीते बच जायँगे", उसको दूर करने के लिए तुझे यह दृश्य दिखाया गया है, कि ये लोग अपनी-अपनी करणी के फल-स्वरूप मृत्यु के निकट पहुँच चुके हैं, तेरा अभिमान मिथ्या है। समष्टि-हित के लिए इन लोगों का मारा जाना अनिवार्य है। समष्टि-हित की उपेक्षा करके व्यक्ति स्वार्थों की रक्षा हो नहीं सकती, और समष्टि के विरुद्ध कोई व्यक्ति अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए विश्व की एकता का समष्टि-भाव, जो तू मेरे शरीर में देख रहा है, उसको स्मरण रखता हुआ अपने व्यक्तित्व को मेरे विश्व-रूप के समर्पित करके खेद रहित होकर सबके हित की दृष्टि से अपने कर्तव्य पर आरूढ़ हो जा।"

भगवान् के इस तरह समझाने पर अर्जुन को कुछ होश हुआ, और दीन होकर अज्ञान-जन्य अपने मोह पर पश्चात्ताप करता हुआ वह भगवान् की महिमा की स्तुति करने लगा और अपने अपराध क्षमा करवाने लगा। साथ ही भगवान् से प्रार्थना करने लगा कि आपके विश्व-रूप के नाना प्रकार के आश्चर्य-जनक और विकराल बनावों को देख कर मेरा मन डांवांडोल हो गया है, अब आप कृपा करके अपनी इस माया को समेट कर मुझे अपना मुकुट-धारी चतुर्भुज स्वरूप दिखाइए, अर्थात् मस्तक पर मुकुट तथा चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हों—ऐसा रूप दिखाइए। मस्तक पर मुकुट और हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए भगवान् के मनुष्याकृति रूप में अर्जुन की विशेष भक्ति होने का अभिप्राय यह था कि, यद्यपि विश्व में जितने रूप हैं, वे सब परमात्मा ही के हैं, परन्तु उन सबमें मनुष्य-देह की योग्यता विशेष है, अतः वह सर्व-श्रेष्ठ है; और जिस मनुष्य-देह में सब की एकता का अनुभव-स्वरूप मुकुट धारण किया हुआ मस्तक हो, सब प्रकार की विद्याओं को संग्रह-रूप शंख, सब प्रकार की कलाओं में कुशलता एवं कर्मशीलता-रूप चक्र, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति की प्रचुरता-रूप गदा, एवं सब सांसारिक पदार्थों एवं व्यवहारों में अनासक्ति-रूप कमल, इन चार भावों रूप चार भुजाएँ हों—वही परमात्मा अथवा ईश्वर का सर्वोत्तम स्वरूप है। इन्हीं गुणों से जगत् अथवा समाज का धारण होता है। इसलिए जिस व्यक्ति अथवा जिस समाज

अर्थ—हे पाण्डव ! जो मेरे लिए कर्म करता है, अर्थात् सारे जगत् में मुझ सर्वात्मा = परमात्मा को व्यापक समझ कर जो सबके हित के लिए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सारे व्यवहार करता है, जो मेरे परायण है, अर्थात् जिसने सारे जगत् को मेरा ही रूप समझ कर अपने व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ दिया है, जो मेरा भक्त है, अर्थात् आगे बारहवें अध्याय के विधानानुसार जो मेरी भक्ति करता है, जो संग रहित है, अर्थात् जो पृथकता के भावों में ममत्व की आसक्ति नहीं रखता; और जो सब भूत प्राणियों से वैर नहीं रखता, अर्थात् सबको परमात्मा ही के अनेक रूप समझ कर किसी से द्वेष नहीं करता, वह मुझे प्राप्त होता है (५५)।

॥ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

का चिन्तन कर, और बुद्धि से सर्वत्र आत्मा अथवा परमात्मा ही के व्यापक होने का विचार कर; ऐसा करने से तू सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शरीर-भाव अथवा जीव-भाव से ऊपर उठ कर मेरे परमात्म-भाव को प्राप्त हो जायगा; क्योंकि मनुष्य जैसा चिन्तन और विचार करता है, वैसा ही वह हो जाता है (८)। अब यदि तू मुझ में भली-भाँति चित्त स्थिर न कर सकता हो, तो हे धनंजय! अभ्यास-योग से मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर, यानी बार बार मेरी प्राप्ति के चिन्तन का अभ्यास कर (९)। यदि अभ्यास करने में भी तू असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्म करने में तत्पर रह; मेरे लिए कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि प्राप्त करेगा। तात्पर्य यह कि यदि मेरी प्राप्ति के चिन्तन के अभ्यास में मन न लगे, तो नवमें अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक के अनुसार सर्व-व्यापक परमात्मा के लिए, यानी लोक-सेवा के कर्म करने में लगा रह। लोक-सेवा के कर्म करते रहने से भी शनैः-शनैः व्यक्तित्व का अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थों की आसक्ति मिट कर सब के आत्मा = परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है (१०)। और यदि तू मेरे लिए परोपकार कर्म करने में भी असमर्थ हो तो प्रयत्नपूर्वक सब कर्मों के फल का त्याग कर। तात्पर्य यह कि यदि लोक-सेवा अथवा परोपकार के कार्य भी न बन सकें, तो नवमें अध्याय के सत्ताइसवें श्लोक में कहे अनुसार खाने पीने आदि के सभी शारीरिक व्यवहार करने में सब के एकत्व-भाव = परमात्मा के चिन्तनपूर्वक अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ के आसक्ति भाव को समष्टि में लीन करने का प्रयत्न कर (११)। अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान की विशेषता है, ध्यान से कर्म-फल त्याग श्रेष्ठ है और त्याग से तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि कोरे अभ्यास की अपेक्षा परमात्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि परमात्मा के ज्ञान के बिना केवल अभ्यास करते रहने से कुछ भी सिद्धि नहीं होती; ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, क्योंकि "परमात्मा सर्वव्यापक है" यह जान लेने पर भी यदि उस पर सदा ध्यान न रखा जाय तो वह जानना निरर्थक होता है; और ध्यान से कर्म-फल-त्याग श्रेष्ठ है क्योंकि परमात्मा के सर्वव्यापक होने का ध्यान रखते हुए कर्म के अनुसार आचरण होता है अर्थात् अपनी [illegible]

[illegible]

का निषेध हो जाने पर मन और इन्द्रियाँ आदि कुछ भी शेष नहीं रहते, फिर किसके द्वारा, कौन किसकी उपासना करे ?

अव्यक्त भाव केवल बुद्धि के विचार का विषय है, मन से उपासना करने का विषय नहीं; और वह विचार अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण साधारण लोगों की पहुँच से परे है; इसलिए सर्व-साधारण के हित के लिए उपासना के सरल साधन का विधान किया गया है। अतः अखिल विश्व को परमात्मा ही का व्यक्त एवं परिवर्तनशील रूप समझ कर अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर, अपने-अपने शरीरों की योग्यतानुसार जगत् के व्यवहार सबके हित अर्थात् लोक-संग्रह की दृष्टि से करना चाहिए। इसी से मनुष्य सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमपद = परमात्म-भाव को प्राप्त होता है। सबके एकत्व-भाव = परमात्मा में मन को स्थिर करने के लिए जिसकी जैसी योग्यता और जैसी रुचि हो, उसी के अनुसार साधनों का आश्रय लिया जा सकता है। यदि परमात्मा की प्राप्ति के चिन्तन के अभ्यास की योग्यता हो तो वैसा करे; यदि श्रद्धा-विश्वासपूर्वक परमात्मा को सर्वव्यापक मान कर लोक-सेवा अथवा परोपकार के कार्य करने की योग्यता हो तो वैसा करे; और यदि अपने सभी व्यष्टि व्यवहारों को समष्टि व्यवहारों के साथ जोड़ देने की योग्यता हो तो वैसा करे। अन्तिम साध्य अथवा परम गति, अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर पूर्ण एकता एवं समता के अनुभव में दृढ़ स्थिति हो जाना है। अभ्यास, ज्ञान और ध्यान आदि सभी इसी मार्ग स्थिति की प्राप्ति के साधन हैं।

× × ×

अब आगे तेरहवें से बीसवें श्लोक तक आठ श्लोकों में भगवान् सच्चे भक्त अथवा उपासक के लक्षण कहते हैं। यहाँ पर पाठकों का ध्यान इस बात पर विशेष रूप से आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन आठ श्लोकों में भगवान उसी को अपना प्यारा भक्त बताते हैं जो पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार और पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थों के व्यष्टि भावों को समष्टि में जोड़ कर सबके साथ एकता के भाव का व्यवहार करता है, और जिसका अन्तःकरण अनुकूलता प्रतिकूलता के नाना भाँति के द्वन्द्वों में एक समान रहता है—विचलित नहीं होता। अपने प्यारे और श्रेष्ठ भक्त के लक्षण आगे के आठ श्लोकों में निरूपण करने में, तथा श्लोक २ से १२ तक उपासना का भी यथार्थ स्वरूप कह आये हैं, उनमें भी भगवान ने यह कहीं भी नहीं कहा है कि मेरे अमुक नामों का इतना जप करने वाले, या इतनी मालाएं फेरने वाले या अमुक स्तोत्रों का पाठ करने वाले या मेरे किन्हीं विशेष रूपों के ध्यान में लगे रहने वाले अथवा प्रतिदिन इतनी बार

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

अर्थ—जो निर्मम अर्थात् किसी व्यक्ति, पदार्थ, विषय अथवा व्यवहार में मोह की आसक्ति न रख कर, निरहंकार अर्थात् पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार के बिना, मैत्री, करुणा आदि से युक्त हुआ, सब भूत-प्राणियों के प्रति अद्वेष अर्थात् प्रेम रखता है, सुख और दुःख में समान रहता है; क्षमाशील, सदा सन्तुष्ट, संयम से रहने वाला एवं दृढ़ निश्चय युक्त है; तथा मन और बुद्धि को जिसने मुझ (सर्वात्मा = परमात्मा) में लगा दिया है, वह मेरा समत्वयोगी भक्त मुझे प्यारा है। तात्पर्य यह कि जो किसी भी व्यक्ति-विशेष, पदार्थ-विशेष, व्यवहार-विशेष अथवा विषय-विशेष आदि में मोह की आसक्ति से तथा अपने व्यक्तित्व के अहंकार से रहित होकर सब भूत-प्राणियों के साथ मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि प्रेम* के नाना भावों युक्त यथायोग्य बर्ताव करता है और इस तरह सबके साथ यथायोग्य प्रेम का व्यवहार करने में जो सुख और दुःख प्राप्त हों, उनको एक समान आगमापायी यानी अनित्य समझ कर जो उनसे विक्षिप्त नहीं होता; किसी से भूल से अथवा अज्ञान से अर्थात् मूर्खता से कोई अपराध अथवा हानि हो जाय तो उसे सहन करके क्षमा करता है; तथा इस तरह सबके साथ प्रेम के बर्ताव-पूर्वक अपने कर्तव्य-कर्म करने से जो धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा

* प्रेम के बर्ताव की व्याख्या आगे स्पष्टीकरण में देखिए।

तात्पर्य यह कि सबके आत्मा = परमात्मा का सच्चा भक्त वह समत्वयोगी है, जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सब प्रकार की उन्नति के लिए, तथा कर्तव्यों को पूरा करने के लिए सर्वथा दूसरों पर ही निर्भर न रह कर स्वयं और धैर्यपूर्वक उद्यमशील रहता है और आत्म-विश्वासपूर्वक सात्त्विक भाव से कर्तव्य-कर्म करता रहता है, जो अपने अन्तःकरण को द्वैतभाव-जन्य मोह, अहंकार, लोभ, ईर्षा, द्वेष, छल-छिद्र, मूढ़ आदि राजस-तामस मलिन विकारों से शुद्ध रखता है, और शरीर को साफ़ एवं सुथरा रखता है; जो अपने कार्यों में अच्छी तरह कुशल यानी प्रवीण होता है; जो किसी विशेष कार्य अथवा विशेष उद्योग ही में इतना तल्लीन नहीं हो जाता तथा कर्मों के परिणाम के विषय में इतनी आसक्ति नहीं रखता कि दिन-रात उसी की चिन्ता में निमग्न रहे, किन्तु समय और आवश्यकता के अनुसार अपने कर्तव्य-कर्म अच्छी तरह करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, एवं उनकी सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहता है, तथा अपने-आप (आत्मा) को निरपेक्ष अर्थात् अकर्ता ही समझता है, जिसका अन्तःकरण शोक, भय आदि मानसिक विकारों से इतना सन्तप्त नहीं होता और शारीरिक पीड़ा आदि से जो इतना व्याकुल नहीं होता कि जिनसे अपने कर्तव्य-कर्मों में त्रुटि आवे; और जो ऐसे राजसी एवं तामसी आडम्बरों और व्यक्तित्व का अहंकार बढ़ाने वाले समारम्भों से सर्वथा अलग रहता है, जिनके सम्पादन करने की अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य न हो, अथवा जिनमें विशेष शक्ति एवं समय का व्यय होता हो—जिनसे अपने वास्तविक कर्तव्य-कर्मों में बाधा आवे अथवा दूसरों को क्लेश हो (गी० अ० १८ श्लो० २४-२५), उपरोक्त रीति से अपने कर्तव्य-कर्म करने से यदि धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि अनुकूलता की प्राप्ति हो तो उससे जो विशेष हर्षित नहीं होता, और हानि, अपमान, अपकीर्ति आदि प्रतिकूलता की प्राप्ति हो तो उसके लिए किसी से द्वेष नहीं करता; प्राप्त पदार्थों का वियोग होने पर जो शोक नहीं करता, और अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की कामना नहीं रखता; और जिसने शुभ और अशुभ के भेदों का प्रभाव चित्त से हटा दिया है, अर्थात् जो यह समझता है कि कोई भी कर्म अथवा व्यक्ति अथवा पदार्थ वस्तुतः न शुभ है न अशुभ, न श्रेष्ठ है न निकृष्ट, किन्तु अपने-अपने स्थान में सभी सार्थक एवं उपयोगी हैं, संसार में निरर्थक कुछ भी नहीं है, शुभ और अशुभ का भेद अपनी-अपनी भावना पर निर्भर रहता है, जो जिसको जैसा मानता है, उसे वह वैसा ही प्रतीत होता है, वास्तव में सब कुछ एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं—इस प्रकार जो राजस-तामस भावों से ऊपर उठ कर सात्त्विक भाव से सबके साथ प्रेम का बर्ताव करता है, वही परमात्मा का प्यारा भक्त होता है (१२-१७)। जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान सर्दी और गर्मी एवं सुख

स्पष्टीकरण—श्लोक १३ वें से १६ वें तक भगवान् ने जो भक्तों के लक्षण कहे हैं, वे उन परमोत्तम भक्तों के स्वाभाविक आचरण हैं, जो उपासना के अभ्यास की पूर्णता को पहुँच चुके हैं। भक्ति अथवा उपासना के अभ्यास पूर्णता होने पर फिर उपास्य-उपासक का भी भेद नहीं रहता, अर्थात् उनको सहित सारा जगत् एक ही परमात्मा के अनेक रूप होने, यानी सबकी एकता का अटल एवं अचल अनुभव हो जाता है; और उनमें जो आचरण होते हैं, वे सबकी एकता के प्रेम-भाव से सबके हित के लिए होते हैं; अतः उपासना के अभ्यास की पूर्णता को पहुँचे हुए उपरोक्त भक्त पूरे समत्वयोगी होते हैं, और इन श्लोकों में वर्णित सर्वभूतात्मैक्य-साम्य भाव के आचरण उनमें अनायास ही होते रहते हैं। परन्तु जो भक्त परमात्मा की उपरोक्त उपासना की पूर्णता को नहीं पहुँचे हैं, किन्तु इसके अभ्यास में लगे हुए हैं, अर्थात् जो साधक अवस्था में हैं, उनके लिए प्रयत्नपूर्वक इन आचरणों के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर इनका अभ्यास करना आवश्यक है।

सच्चे भक्त के स्वाभाविक आचरणों के विवरण के अन्त में—१६ वें श्लोक में "स्थिरमतिः" कह कर भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन आचरणों का मूल आधार, सबकी एकता के अटल निश्चय की साम्य-बुद्धि है। यहाँ उपासना का प्रकरण है, इसलिए भक्ति-प्रधान भाषा में यों कहना चाहिए कि "परमात्मा सबमें एक समान व्यापक है" यह एकता का विश्वास अन्तःकरण में रखने से ही ये आचरण ठीक ठीक हो सकते हैं। यदि दूसरों को परमात्मा से अलग समझ कर उनके हिताहित की उपेक्षा करके, केवल अपने व्यक्तित्व के अहंकार से एवं व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा किसी विशेष व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से ये आचरण किये जायँ तो इनका विपर्यास होकर ये दुराचार में परिणत हो जाते हैं, जिससे उलटा अनर्थ होता है। इसलिए इन आचरणों के वर्णन के आरम्भ ही में भगवान ने इन सबके मूल मन्त्र "अद्वेष्टा सर्वभूतानां" के साथ "निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी" आदि विशेषणों का प्रयोग किया है, और साथ ही "मय्यर्पितमनोबुद्धि" कह कर स्पष्ट कर दिया है कि विशेष व्यक्तियों में ममत्व की आसक्ति और व्यक्तित्व के अहंकार से रहित होकर, तथा सुख-दुःख आदि को समान समझ कर, मन और बुद्धि को सबके एकत्व भाव—मुझ (परमात्मा) में लगाये हुए सबके साथ यथायोग्य प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। प्रत्येक आचरण, व्यवहार अथवा क्रिया का अच्छापन अथवा बुरापन कर्ता के भाव और उसके उपयोग पर निर्भर रहता है कोई भी आचरण, व्यवहार अथवा क्रिया, सबकी एकता की साम्य बुद्धि से सबके हित के उद्देश्य से किये जाने पर श्रेष्ठ अथवा

अहंकार से रहित होकर तथा सुख-दुःख को समान समझ कर सबके साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करना चाहिए।

\+ \+ \+

आत्मा अथवा परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति के जगत्-रूपी इस क्षेत्र में नाना प्रकार के लोग होते हैं, और उनकी भिन्न भिन्न प्रकार की योग्यता और भिन्न-भिन्न प्रकार के परस्पर के संबंध होते हैं; अतः प्रेम का बर्ताव भी पृथक् पृथक् व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार और परस्पर के संबंध के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जिस तरह विशेष विभूति-सम्पन्न सुखी लोगों से मित्रता, दुखियों के प्रति दया, सज्जनों के साथ मुदिता, दुष्टों के साथ उपेक्षा, बड़ों के प्रति भक्ति, स्त्री का पुरुष के प्रति पातिव्रत, पुरुष का स्त्री के प्रति पत्नीव्रत, छोटों के प्रति वात्सल्य, बराबरी वालों से स्नेह और अपने से हीन स्थिति वालों के साथ अनुग्रह के रूप में प्रेम का बर्ताव होता है। इन सबका अलग-अलग स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

मित्रता

जो लोग सुखी हों, धनवान, बुद्धिमान, विद्वान् ऐश्वर्यवान, बलवान, सामर्थ्यवान्—इत्यादि विशेष योग्यता-सम्पन्न हों, उनके प्रति मित्रता का भाव रखना, अर्थात् उनको अपना मित्र समझ कर प्रसन्न होना, उनसे ईर्ष्या, द्वेष आदि न करना, उनके साथ मधुरता और शिष्टाचार का बर्ताव करना और आवश्यकता होने पर उनको सहयोग देना—यह सच्चा प्रेम है। परन्तु यदि उक्त सुखी, धनी, बुद्धिमान, विद्वान् ऐश्वर्यवान बलवान [illegible] और दुराचारी हों, [illegible] दूसरों का अहित [illegible] तो उनसे मित्रता [illegible] परन्तु उनका [illegible] [illegible]

असहाय हों, दीन हों अथवा असमर्थ हों, उनके प्रति दया का भाव रखना; यदि अपने में सामर्थ्य हो तो यथाशक्य उनके दुःखों में सहायक होना और उनकी दुःख-निवृत्ति का यत्न—तन, मन, वचन एवं धन से—करना; और यदि सामर्थ्य न हो तो मन में दया का भाव रखके उनकी दुःख-निवृत्ति की कामना अवश्य करना—निष्ठुरता कदापि न करना—यह सच्ची करुणा अथवा दया है। परन्तु करुणा के वश होकर पात्रापात्र के विचार बिना, मूर्खों, पाखण्डियों, दुराचारियों, आलसियों, खुशामदियों, मुफ्तखोरों एवं ठगों आदि कुपात्रों पर दया करके उनको सहायता देकर उनके दुर्गुणों को बढ़ाना; भले आदमियों तथा गरीबों पर अत्याचार करने वाले दुष्टों और दुराचारियों पर दया करके उनके अपराधों तथा कुकर्मों का उन्हें दण्ड न देना; जीव-दया के भाव से इतना प्रभावित हो जाना कि अपने कर्तव्य-कर्म अर्थात् लोक-संग्रह के व्यवहार करने में, किसी प्राणी के कष्ट होने की संभावना से त्रुटि करना; हीन कोटि के प्राणियों पर दया करने के लिए उच्च कोटि के प्राणियों को कष्ट अथवा हानि होने की अवहेलना करना; किसी व्यक्ति विशेष अथवा समाज-विशेष के दुःखों से आर्द्र होकर निरन्तर उसी की चिन्ता करते रहना, और उसके मोह में उलझ कर कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान भूल जाना, और लोक-हित के व्यवहारों की अवहेलना करना—यह दया नहीं है, किन्तु दया का दुरुपयोग एवं मानसिक दुर्बलता है।

मुदिता

जो लोग शुभ काम करते हों, श्रेष्ठ आचरण वाले हों, ज्ञानी, दानी, भक्त अथवा परोपकारी हों, जिनसे उनकी कीर्ति होती हो और जिनसे लोगों में वे माननीय एवं प्रतिष्ठित समझे जाते हों, ऐसे सज्जनों की उक्त कीर्ति, मान और प्रतिष्ठा से मन में मोद करना, अर्थात् जिस तरह अपने तथा अपने आत्मीय जनों के सत्कार्यों की प्रशंसा सुन कर मन में मोद होता है, उसी तरह प्रसन्न होना, अन्य लोगों के सत्कर्मों की प्रशंसा सुन कर मन में न कुढ़ना और उनकी कीर्ति अथवा प्रशंसा को क्षति पहुँचाने की चेष्टा न करना—यह मुदिता है। परन्तु आसुरी स्वभाव वाले अभिमानी एवं कीर्ति-लोलुप धनाढ्यों के धर्म के नाम से किये जाने वाले राजसी-तामसी आडम्बरों और कपट से किये हुए ऊपरी दिखावे मात्र के सत्कार्यों से प्रसन्न होकर उनकी तारीफ के ढोल पीटना—यह मुदिता नहीं किन्तु चापलूसी है।

उपेक्षा

मूर्ख, दुराचारी, आततायी, धूर्त, ठग, दम्भी, पाखंडी आदि दुष्ट प्रकृति के

लोग, जिनकी करतूतों से जनता में एकता के विरुद्ध अनेकता और फूट के भाव बढ़ते हों, और जिनसे लोगों को पीड़ा होती हो एवं समाज का अहित होता हो, उनसे सहयोग और सहानुभूति न रखना; यदि अपनी योग्यता और सामर्थ्य हो तो उनकी मूर्खता, दुष्टता, धोखेबाज़ी, दम्भ, पाखण्ड आदि छुड़ाने का यत्न करना; यदि समझाने और शिक्षा देने से उनकी मूर्खता, दुष्टता, धोखेबाज़ी, दम्भ, पाखण्ड आदि न छूटें तो उनको डराना, धमकाना एवं यथायोग्य दण्ड देना; और ऐसा करने से भी यदि उनके अत्याचार कम न हों तो अत्यन्त आवश्यकता होने पर स्वयं उनके तथा सबके हित के लिए उनको प्राण-दण्ड तक दे देना—इस तरह करने में उनके शारीरिक और मानसिक कष्ट अथवा शरीर-नाश की परवाह न करना यानी उपेक्षा करना; और यदि सामर्थ्य न हो तो उनसे उदासीन रहना अर्थात् उनका संग न करना—यह सच्ची उपेक्षा है। ऐसे दुष्ट लोगों की दुष्टता छुड़ाने के लिए द्वेष-भाव के बिना उन्हें दण्ड देना अथवा दिलाना, वास्तव में उनके साथ तथा सबके साथ प्रेम करना ही होता है, क्योंकि दुष्टों की दुष्टता छुड़ाने से स्वयं उनका तथा सबका हित होता है। परन्तु दुष्टों की दुष्टता छुड़ाने की योग्यता और सामर्थ्य होते हुए भी इस विचार से उदासीन रह कर उपेक्षा करना कि "इनकी दुष्टता से हमें क्या प्रयोजन? अपनी करणी का फल ये आप ही भोगेंगे, यदि हम इनको दण्ड देंगे या दिलावेंगे तो हमको पाप लगेगा, अथवा हमारा अन्तःकरण कलुषित होगा"—यह उपेक्षा का दुरुपयोग है, तथा दुष्टों के कुकर्मों और कुचेष्टाओं में सहायक होना ही नहीं, किन्तु उन्हें सहयोग देकर उनकी दुष्टता बढ़ाना है, और साधारण जनता के साथ अन्याय करना है।

राज्य-भक्ति

राज्य-व्यवस्था का एकमात्र प्रयोजन जन-समाज को परस्पर में प्रेम-सहित एकता के सूत्र में पिरोये हुए सुव्यवस्थित रख कर उसकी सब प्रकार की उन्नति में सहायक होना तथा उसका वास्तविक हित करना है, अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त जो राज्य-सत्ता जिस समय आरूढ़ हो—चाहे वह वंश-परम्परागत हो या प्रजा द्वारा निर्वाचित, एक व्यक्ति की हो या अनेकों के सम्मिलित भाव की, उसमें श्रद्धा-विश्वास रखना; उसके साथ प्रेमयुक्त सहानुभूति रखना तथा उसे सहयोग देना; उसके बनाये हुए नियमों (कानूनों) के अनुसार आचरण करना; सबके हित के लिए उसको सुव्यवस्थित-रूप से चलाने में सहायक होना; उसकी त्रुटियों, भूलों, असावधानियों तथा दुर्गुणों को उचित रीति से प्रकट करना और सुधारवाना; और अपनी-अपनी योग्यतानुसार उचित सम्मति देना, यदि किसी समय की प्रचलित राज्य-व्यवस्था उस समय के लोगों की परिस्थिति के अनुकूल न हो, तथा उसमें

इतने दुर्गुण आगये हों कि उससे लोगों की भलाई न होकर उलटी हानि होती हो, और प्रयत्न करने पर भी वह सुधर न सकती हो, तो किसी प्रकार के द्वेषभाव के बिना सबके हित के लिए उसको बदल कर, उसके स्थान में उस समय की परिस्थिति के उपयुक्त लोक-हितकारी दूसरी राज्य-सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करना—यह सच्ची राज्य-भक्ति है। परन्तु यदि किसी राज्य-सत्ता के कानून लोगों को कष्ट पहुँचाने वाले, अहितकर, आपस में वैमनस्य एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले हों, तो भी उनका विरोध न करना; अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए राज्य के अनुचित कार्यों में भी सम्मति दे देना तथा उनसे सहानुभूति रख कर सहयोग देना; उसके अत्याचारों का प्रतिवाद किये बिना उन्हें चुपचाप सहन किये जाना; हानिकर नियमों को बदलवाने का प्रयत्न न करना; राज्य-संचालन के विषय में सर्वथा उदासीन एवं अनजान रहना; तथा अन्ध-विश्वास से अत्याचारी राजा और राज्य-सत्ताधारियों ही को ईश्वर की विभूति मान कर जो कुछ वे करते रहें, उसीको अच्छा मानना, और उसके प्रतीकार का प्रयत्न न करना; अथवा बिना समुचित कारण के किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अथवा ईर्षा-द्वेष से किसी राज्य-सत्ता का विरोध करना तथा उसको बदलने का प्रयत्न करना, अथवा उसकी अवहेलना करना, यह सब राज्य-भक्ति नहीं किन्तु राज्य-द्रोह है।

मातृ-पितृ-भक्ति

समाज को सुव्यवस्थित रखने और दूसरों से पृथक् करने वाले व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तित्व के अहंकार की आसक्ति कम करने के लिए, माता-पिता की भक्ति आवश्यक है; क्योंकि, जिस तरह माता-पिता अपनी सन्तानों का गर्भ से लेकर बड़े होने तक लालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण आदि—एकता के प्रेम तथा निःस्वार्थ-भाव से—करते हैं, तभी सन्तान संसार के व्यवहार करने योग्य होते हैं; उसी तरह वृद्धावस्था में माता-पिता के शरीरों के शिथिल हो जाने पर उनकी सेवा-शुश्रूषा, लालन-पोषण आदि एकता के प्रेम तथा निःस्वार्थ-भाव से सन्तान करे, तभी वे लोग शान्ति-पूर्वक अपना जीवन-यापन कर सकते हैं, और परस्पर में इस तरह व्यवहार करने से व्यक्तिगत स्वार्थों के त्याग और दूसरों के साथ एकता के प्रेम का अभ्यास होता है [illegible] वृद्धावस्था में उनका [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

होना—यह सच्ची मातृ-पितृ-भक्ति है। परन्तु माता-पिता की जिन आज्ञाओं से सात्विक आचरणों में बाधा पहुँचती हो, अथवा जिनसे आत्मिक पतन होता हो, तथा जो आत्मिक उन्नति के विरुद्ध हों, उनको अन्ध-श्रद्धा से, केवल इसलिए मानना कि माता-पिता की आज्ञा पालन करना प्रत्येक दशा में उचित ही है; माता-पिता के अप्रसन्न होने के भय से उन्हें उचित सम्मति न देना; उनकी रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियों को प्रसन्न करने के लिए आत्मिक पतन करने वाले व्यवहार करना, उनके आधिभौतिक शरीर के मोह में फंसे रह कर उनके सच्चे आत्मिक सुख के विषय में उपेक्षा करना; अथवा उनके जीवन-काल में उनकी उपेक्षा एवं अपमान करते रह कर मरने के बाद रोना-चिल्लाना, शोक करना तथा क्रिया-कर्म, मृत-भोज की धौमधामें, श्राद्ध आदि लोक-दिखावे के राजसी-तामसी आडम्बर करके स्वयं क्लेश उठाना और उन प्रेतात्माओं को भी क्लेश पहुँचाना—यह मातृ-पितृ-भक्ति का दुरुपयोग अथवा मातृ-पितृ-द्रोह है।

गुरु-भक्ति (आचार्योपासना)

सद्विद्या पढ़ा कर संसार-यात्रा के लिए सन्मार्ग दिखाने वाले तथा अध्यात्म-ज्ञान का सच्चा उपदेश देने वाले, श्रेष्ठ आचरणों युक्त सद्गुरु की सेवा-शुश्रूषा, आदर-सत्कार, भरण-पोषण आदि, भक्ति और आदर सहित करना; उनसे प्राप्त की हुई विद्या तथा ज्ञान के द्वारा अपनी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति करने में तत्पर रहना, तथा उससे दूसरों को भी लाभ पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील रहना—यह सच्ची गुरु-भक्ति है। परन्तु ऐसे सद्गुरु के उपदेशानुसार आचरण न करके उसके शरीर ही को ईश्वर-स्वरूप मान कर उसका अर्चन-पूजन और चरण-स्पर्शादि करने तथा भेंट चढ़ाने मात्र ही से अपने को कृतकृत्य समझना; मूर्ख, पाखण्डी, अज्ञानी, दुराचारी एवं धूर्त—वंशपरम्परागत अथवा साम्प्रदायिक—गुरुओं से, केवल जनेऊ, कण्ठी आदि बंधवा कर अथवा दीक्षा लेकर, अन्ध-विश्वास से उनकी आज्ञाओं का पालन करना; अपनी बुद्धि से कुछ भी काम न लेकर उनके मुख से निकले हुए वचन ही प्रमाण मानना और उनके पीछे के पशु बन जाना; ऐसे कुपात्र गुरुओं का आदर-सत्कार तथा भेंट-पूजा करके उनका गौरव बढ़ाना; तथा तन, मन, धन आदि सब-कुछ उनको देकर उनके दुराचारों में सहायक होना—यह गुरु-भक्ति का दुरुपयोग है।

सद्गुरु, अपने शिष्यों को निःस्वार्थ प्रेम-भाव से उनकी सब प्रकार की उन्नति लिए सत्य ज्ञान का उपदेश देते हैं, अतः वे शरीर के अर्चन-पूजन आदि से तथा

लौकिक भोग-पूजा और मोक्ष-भावनाओं से संतुष्ट नहीं होते; किन्तु उनके उपदेशों को धारण करने द्वारा अपनी सर्वांगीण उन्नति करने के साथ-साथ दूसरों का हित करने से ही वे संतुष्ट रहते हैं।

पति-भक्ति अथवा पातिव्रत

इस संसार की रचना नर और मादा के जोड़े के रूप में है। जगत् का आधा भाग नर और आधा मादा है, अतः नर-मादा का जोड़ा प्राकृतिक है। नर और मादा की शारीरिक रचना में प्राकृतिक अन्तर है, जिसके कारण नर में कई प्रकार की विशेषताएं और कई प्रकार की न्यूनताएं होती हैं, और मादा में दूसरे प्रकार की विशेषताएं और दूसरे प्रकार की न्यूनताएं होती हैं; अतः दोनों का परस्पर में मेल अथवा योग होने से दोनों पूर्ण होते हैं। इसलिए नर और मादा का सहयोग एवं सहवास प्राकृतिक एवं स्वाभावतया आवश्यक है। जिन प्राणियों में बुद्धि का विकास नहीं होता अथवा बहुत कम होता है, उनमें नर-मादा के सहयोग और सहवास की कोई नियमित व्यवस्था नहीं होती—चाहे जो नर, चाहे जिस मादा के साथ सहवास करता है। परन्तु मनुष्य (स्त्री-पुरुष) में बुद्धि का विशेष विकास होने के कारण, उसने अपने जीवन को इस प्रकार सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है, कि जिससे वह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, सब प्रकार की उन्नति करता हुआ शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की अविच्छिन्न परमानन्द को पहुँच जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने समाज-व्यवस्था बनाई, और उस समाज-व्यवस्था की प्रधान भित्ति, एक नर (पुरुष) का एक मादा (स्त्री) के साथ सहवास करने के नियम हैं, जिसके अवलम्बन से दोनों अपने-अपने प्राकृतिक वेगों को मर्यादित-रूप में शान्त करते हुए तथा एक-दूसरे के सहयोग और सहायता से अपनी-अपनी जीवनयात्रा के सांसारिक व्यवहार करने द्वारा एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए संसार-चक्र को चलाने में सहायक हों, और साथ ही अपनी सब प्रकार की उन्नति करने में अग्रसर होते रहें। इसलिए प्रत्येक समाज में अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल, एक पुरुष का एक स्त्री के साथ सहवास के नियम बनाये जाते हैं, और उन नियमों के अनुसार स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध जोड़े जाते हैं—जिनको विवाह कहते हैं।

ऊपर कह आये हैं कि नर और मादा की शारीरिक रचना में प्राकृतिक अन्तर होता है, और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की विशेषताएं और न्यूनताएं होती हैं। स्त्री का स्वभाव स्वाभावतया पुरुष की अपेक्षा विशेष कोमल, मधुर, नाजुक और सहनशील होता है, और अपने जोड़े के पुरुष की अपेक्षा उसमें बल और साहस कम होते हैं, स्नेह-भाव की अधिकता होती है, और प्रायः कुछ भोले, सुन्दर (चञ्चल)

अनुसार उसके लिये वस्त्र-आभूषण आदि शृंगार तथा अन्य मनो-विनोद एवं चित्त की प्रसन्नता के साधनों द्वारा उसे प्रसन्न रखना; उसके सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि को अपनी ही समझना; अपने व्यक्तित्व को उसके व्यक्तित्व के साथ जोड़ कर एकता कर देना; और इस बात का सदा ध्यान रखना कि अपनी तरफ़ से उसको किसी प्रकार का शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न होने पावे—यह सच्चा पत्नी प्रेम अथवा पत्नी-व्रत है। परन्तु पत्नी के रूप और यौवन में आसक्त होकर दिन-रात उसी की उपासना में लगे रहना और अपने कर्तव्य को भूल जाना; उसकी मूर्खतापूर्ण आज्ञाओं का पालन करके उसे निरंकुश बना देना; उसके अप्रसन्न होने अथवा रूठने की आशंका से उसको सुशिक्षा अथवा सदुपदेश न देना, उसकी अनुचित एवं अनावश्यक माँगों की पूर्ति करने के लिए अपनी शक्ति से अधिक व्यय करके तंग होना; कलहकारिणी और दुराचारिणी पत्नी के साथ प्रेम न होते हुए, तथा उससे दाम्पत्य-सुख न होते हुए भी, दूसरा विवाह न करके परस्त्री-गमन आदि दुराचारों में प्रवृत्त होना; और एक स्त्री के मरने पर उसके मोह और शोक में रोते रहना, एवं एक-पत्नी-व्रत पालन करने के हठ अथवा अभिमान में दूसरा विवाह न करना, और काम का वेग सहन न हो सकने पर वेश्या-गमन आदि पापाचार में प्रवृत्त होना—यह पत्नीव्रत का दुरुपयोग है।

स्वामी भक्ति

संसार के व्यवहार सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए, नौकर का मालिक के प्रति पिता का भाव, और मालिक का नौकर के प्रति पुत्र का भाव रहना आवश्यक है, और अपने पृथक् व्यक्तित्व को दूसरों के साथ जोड़ कर सबसे एकता करने का अभ्यास इस सम्बन्ध से भी बढ़ता है। अतः शरीर और उसके सम्बन्धियों के पालन-पोषण आदि के लिए यदि किसी की नौकरी करना स्वीकार किया हो तो जब तक उसकी नौकरी करे तब तक उस स्वामी के प्रति एकता के प्रेम पूर्वक आदर और श्रद्धा के भाव रखना, जो सेवा स्वीकार की हो उसको दत्तचित्त होकर सचाई, प्रसन्नता, उत्साह और तत्परता के साथ अच्छी तरह पूरी करना, जो काम अपने जिम्मे हो उसमें [illegible] तथा जो वस्तु अपने सुपुर्द हो उसकी क्षति न होने देना, स्वामी का कभी अहित चिन्तन न करना, उसके दुःख-सुख, हानि-लाभ [illegible] अपना ही समझना, [illegible] कभी धोखा [illegible] का विश्वासघात न करना, [illegible] कोई काम न करना, सदा [illegible] अनुचित आज्ञा से [illegible] होते [illegible] —यह सच्ची स्वामी-भक्ति है। [illegible] स्वामी

की अनुचित आज्ञाओं का अन्ध-विश्वास से पालन करते रहना; उसके अनुचित व्यवहारों में "हाँ-में-हाँ" मिला कर उनका प्रतिवाद न करना, अथवा उसे उचित सम्मति न देना; और उसकी भक्ति के वश होकर अथवा वेतन के लोभ से दूसरों पर अन्याय और अत्याचार करने में उसको सहायता देना, तथा आत्मिक पतन करने वाले कार्य करना—यह स्वामी-भक्ति नहीं किन्तु स्वामी-द्रोह है।

वात्सल्य

अपनी सन्तान, प्रजा, सेवक, शिष्य एवं अपने संरक्षण में आये हुए लोगों के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए निःस्वार्थ-भाव से प्रेमपूर्वक उनके पालन-पोषण, रक्षण-शिक्षण आदि की सुव्यवस्था करना; उनको अनिष्ट से बचाने तथा उनकी सर्वांगीण उन्नति करने के लिए सद्भावना-युक्त प्रयत्न करते रहना; उनके सुख-दुःखों को अपने ही समान समझना; सदुपदेशों द्वारा उनका अज्ञान दूर करके उनको सन्मार्ग पर चलाना; उनसे अपने-अपने कर्तव्य पालन करवाना, और उनको बुरी संगति, खोटे व्यवहारों, कुव्यसनों तथा विलासिता से बचाना—यह सच्चा वात्सल्य है। परन्तु छोटे सम्बन्धियों के शरीरों के प्रेम में इतना आसक्त हो जाना कि उनकी अरुचि के कारण उनको विद्याध्ययन आदि सद्गुणों में प्रवृत्त न करना एवं सुशिक्षा न दिलाना; उनको कुमार्गी होने तथा अनर्थ करने से न रोकना; राजस-तामस आहार-विहार की उनकी आदत डालना; प्रयत्न में उनको थोड़ा शारीरिक कष्ट होने के भय से परिणाम के बहुत सुख की उपेक्षा करना; उनसे उनके कर्तव्य पालन करवाने में असावधानी करना; और विपरीत आचरण करने पर उचित दण्ड न देना—यह वात्सल्य नहीं किन्तु निष्ठुरता है।

स्नेह

अपने बराबर के स्नेहियों के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए [illegible]

अनुग्रह

अपने से हीन स्थिति वाले स्नेहियों के साथ अपनी एकता के अनुभव से उनके प्रति कृपा अथवा अनुग्रह के रूप में निस्स्वार्थ-भाव से प्रेम रखना; यथाशक्ति उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को पूरी करने का यत्न करना; उनके दुःखों में सहायक होना, और उनके वास्तविक सुखों के लिए यथासाध्य उपाय करना—यह सच्चा अनुग्रह है। परन्तु कृपा के वश होकर उनके अवगुणों के सुधारने की उपेक्षा करना, अथवा उनको निरुद्यमी, प्रमादी, उद्दण्ड एवं अन्यायाचारी बनाकर संसार के प्रति उन्हें अपने कर्तव्य-पालन से विमुख करना—यह अनुग्रह का दुरुपयोग है।

निर्ममत्व अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता

सबके साथ प्रेम का उपरोक्त यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी किसी विशेष व्यक्ति, विशेष शरीर, विशेष समाज, विशेष देश, विशेष कार्य, विशेष व्यवहार अथवा विशेष पदार्थ ही में इतना आसक्त न हो जाना कि जिससे दूसरों के साथ यथायोग्य प्रेम का बर्ताव करने में बाधा लगे, अथवा अपना कर्तव्य पालन करने में त्रुटि आवे; अपनी योग्यता के सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करते हुए और इन्द्रियों के विषयों को नियमित-रूप से भोगते हुए तथा धन-सम्पत्ति, घर-गृहस्थी आदि रखते हुए एवं स्त्री-बच्चों में रहते हुए भी उनमें इतनी प्रीति नहीं रखना कि उनके न होने पर मन व्याकुल हो जाय—यह सच्ची निर्ममता अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता है, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार निर्मम, अनासक्त अथवा उदासीन रहता है। परन्तु निर्ममता अथवा अनासक्ति अथवा उदासीनता का यह तात्पर्य नहीं है कि घर-गृहस्थी, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति तथा सब काम धन्धों एवं जिम्मेवारियों को छोड़ दिया जाय, अथवा बेपरवाही करके इनको नष्ट किया जाय तथा अपने कर्तव्य कर्मों में मन न लगाकर असावधानी से उन्हें बिगड़ने दिया जाय अथवा इनके सुधारने बिगड़ने की परवाह न की जाय और इन्द्रियों के विषयों तथा [illegible] में इतना तल्लीन हो जाय कि उनके [illegible] अथवा [illegible] का ध्यान ही न रहे [illegible] यह निर्ममता अथवा [illegible] अथवा उदासीनता के [illegible]

[illegible]

[illegible]

मैं बड़ा हूँ, मैं कुलीन हूँ, मैं पवित्र हूँ, मैं प्रतिष्ठित हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं रूपवान् हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं बुद्धिमान् हूँ, मै कुटुम्बवान् हूँ" इत्यादि शारीरिक उपाधियों के झूठे अभिमान से मतवाला न होना; सदा इस बात का ध्यान रखना कि "शरीर और उसकी उपाधियाँ अनित्य अर्थात् आने-जाने वाली तथा सदा बदलते रहने वाली हैं, और जगत् सब, एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप हैं, इसलिए इसके सारे व्यवहार सबके सहयोग से होते हैं, दूसरे व्यक्तियों अथवा शक्तियों के बिना मैं अकेला कुछ भी नहीं कर सकता", इस तरह अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार का सबके एकत्व-भाव में समावेश कर देना—यह सच्चा निरहंकार है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार निरहंकारी होता है। परन्तु अपने वास्तविक आप—आत्मा के अस्तित्व को और प्रकृति के स्वामित्व की सुध न रखना; अपने कर्तव्य-कर्म करने में अपने अस्तित्व तथा दायित्व को सर्वथा भूल जाना; अपने को एक अत्यन्त क्षुद्र, दीन, हीन, नगण्य व्यक्ति मान कर, दूसरे किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्ति अथवा शक्ति, अथवा प्रकृति पर ही निर्भर हो जाना, एवं स्वावलंबन के बदले परावलम्बी बन जाना—यह निरहंकार नहीं, किन्तु प्रकृति के स्वामी—चेतन आत्मा को जड़ बना देना है।

क्षमा

किसी से भूल अथवा मूर्खता से अथवा अज्ञानवश, अथवा जान कर भी कोई अपराध अथवा हानि हो जाय, और उसके लिए उसके मन में पश्चात्ताप अथवा ग्लानि हो तो उस अपराध को सहन कर लेना, उस अपराधी से बदला लेने का भाव न रखना तथा उसे दण्ड न देना; और यदि उसके मन में पश्चात्ताप या ग्लानि न हो तो भी एक-दो बार उसके अपराधों को क्षमा करके उसे संभलने का अवसर देना यह क्षमा है समत्वयोगी भक्त इस तरह एवं क्षमाशील होता है परन्तु यदि कोई दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति क्षमा करने पर भी अपराध करता ही रहे जिससे अपने को तथा दूसरे लोगों को पीड़ा अथवा हानि होती हो, और उस दुष्ट को दण्ड देने का सामर्थ्य एवं [illegible] अपने में हो फिर भी उसके अपराधों को बार-बार सहन करते रहना—इस तरह उसे अपराधों में [illegible] न करना—यह क्षमा का दुरुपयोग अथवा विपरीत है इससे दुष्ट का साहस बढ़ता है, और वे लोग और अधिक अत्याचार करते हैं

सन्तोष

अपने कर्तव्य-कर्म [illegible] [illegible] और [illegible] के साथ [illegible] और [illegible]

अच्छी तरह करते रहने से जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, कीर्ति-अकीर्ति, मान-अपमान आदि प्राप्त हो जायँ, उनमें सन्तुष्ट रहना अर्थात् चित्त को शान्त रखना; उद्यम करने पर भी इच्छित फल की प्राप्ति न हो तो उसके लिये धैर्य न त्यागना; और भौतिक सुखों के साधनों की कामनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ाकर व्याकुल न होना—यह सच्चा सन्तोष है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार सन्तोषी होता है। परन्तु प्रारब्ध, दैव, ईश्वर अथवा भवितव्यता के भरोसे पर बैठे रह कर कुछ उद्यम ही न करना; अपनी तथा दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति, तथा इहलौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक कल्याण के लिए प्रयत्न न करना, दूसरे शब्दों में प्रगतिहीन होकर जैसी स्थिति हो, उसी में चुपचाप पड़े रहना—यह संतोष नहीं, किन्तु आलस्य एवं प्रमाद है।

शम अर्थात् मन का संयम

मन को बुद्धि के आधीन रखते हुए अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार अर्थात् कर्तव्य-कर्म करने में उसे लगाये रखना; उसके द्वारा इन्द्रियों के विषयों को भोगते हुए भी उसे इन्द्रियों के आधीन न होने देना; जगत् की भिन्नता के भावों में भटकने से रोक कर उसे सबकी एकता स्वरूप आत्मा में जोड़ना—यह सच्चा शम है, समत्वयोगी भक्त इस प्रकार मन को अपने आधीन रखता है। परन्तु मन को अपने स्वाभाविक धर्म—संकल्प करने—से रहित कर देने अथवा सांसारिक व्यवहारों से सर्वथा हटाकर चेष्टा-शून्य बना देने का अप्राकृतिक प्रयत्न करना—यह सच्चा शम नहीं किन्तु मिथ्याचार है; क्योंकि यह शरीर और संसार मन का खेल है, अतः जब तक शरीर और संसार है, तब तक मन का नाश नहीं हो सकता; इसलिए उसे सात्त्विक बुद्धि के आधीन रख कर सांसारिक व्यवहार यथायोग्य विधि-पूर्वक करने में लगाये रखना ही उसका वास्तविक संयम है।

दृढ़-निश्चय

यह विश्व एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, इस निश्चय से कभी न डिगना, इस एकता के निश्चयपूर्वक अपने कर्तव्य कर्म करने से विचलित न होना, जिस बात का अच्छी तरह विचार एवं अनुसंधान पूर्वक निश्चय कर लिया हो, उस पर तब तक उसके विपरीत यथेष्ट प्रमाण न मिल जाय तब तक न बदलना तथा उसमें संशय न रखना—यह दृढ़ निश्चय है। समत्वयोगी भक्त इस तरह दृढ़निश्चयी होता है। परन्तु सबकी एकता रूपी आत्मा अथवा परमात्मा से विमुख करने वाले [illegible]
[illegible]

काल आदि की परिस्थिति की आवश्यकतानुसार अपने विचारों तथा व्यवहारों में परिवर्तन न करना; बिना विचार किसी निश्चय को पकड़ कर बैठ जाना—इसे छोड़ना ही नहीं; किसी अदृष्ट शक्ति या व्यक्ति के भरोसे रह कर, निरुद्यमी होकर आलस्य में पड़े रहना; राग, द्वेष, भय, शोक, विषाद और मद के भावों में आसक्त होकर उन्हें न छोड़ना—यह दृढ़-निश्चय नहीं, किन्तु दुराग्रह है।

अनुद्वेग

जगत् को दुःखी करने के उद्देश्य से शरीर, मन और वाणी से ऐसी चेष्टाएँ न करना कि जिनसे लोगों के मन में चिन्ता, भय, क्रोध, शोक अथवा ग्लानि आदि विक्षेप के भाव उत्पन्न हों; और इसी तरह मूर्ख लोगों की इस प्रकार की चेष्टाओं से अपने मन में उपरोक्त भाव उत्पन्न करके उद्विग्न यानी खेदयुक्त न होना, किन्तु शान्त बने रहना—यह अनुद्वेग का सदुपयोग है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार न दूसरों को उद्विग्न करता है और न स्वयं उद्विग्न होता है। परन्तु अनुद्वेग का यह तात्पर्य नहीं है कि अपने कर्तव्य-कर्म यथायोग्य करने से, अथवा लोकहित के लिए जगत् में उत्क्रान्ति अथवा क्रान्ति के विचारों का प्रचार करने से, बेसमझ लोगों के उद्विग्न होने की संभावना के कारण, अपने उपरोक्त कर्तव्य-कर्म और लोकहित के व्यवहार छोड़ दिये जावें। इसी तरह अनुद्वेग का यह भी तात्पर्य नहीं है कि समझदार लोगों द्वारा तिरस्कृत एवं लांछित होने की कुछ भी चिन्ता न रख कर, दुराचार एवं कुकर्म करने में निर्लज्ज अर्थात् ढीठ हो जाय, अथवा ऐसा संज्ञाहीन हो जाय कि लोगों के आदर अथवा तिरस्कार का मन पर कुछ असर ही न हो—यह अनुद्वेग का दुरुपयोग है।

हर्ष

अपने उद्देश्य की सिद्धि अथवा अनुकूलता की प्राप्ति होने पर हर्ष होना मन का स्वाभाविक धर्म है, अतः 'संसार सब दुःख है' मानना अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं; इस विचार से सर्वत्र अनुकूलता का अनुभव करते हुए शोक, चिन्ता एवं उदासी से रहित सर्वदा प्रसन्नचित्त रहना—यह हर्ष का सदुपयोग है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के हर्ष से सदा प्रसन्नचित्त रहता है। परन्तु अपना अथवा समाज का कर्तव्य-पालन को भूल कर इन्द्रियजन्य सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति होने पर अथवा अपने मनोरथों की सफलता होने पर हर्ष से इतना मतवाला हो जाना कि कर्तव्याकर्तव्य अथवा उचित-अनुचित का कुछ ध्यान ही न रहे, अथवा उस हर्ष के आवेश में ऐसी चेष्टाएँ करना कि जिनसे दूसरों को कष्ट अथवा विक्षेप हो, यह

इस बात को भूल कर कि "जिसका संयोग होता है उसका वियोग होना अवश्यंभावी है"— हर्ष में अत्यन्त आसक्त हो जाना, एवं अपने आमोद-प्रमोद के लिए दूसरों को हानि पहुँचाकर अथवा कष्ट देकर अथवा दूसरों की हानि एवं कष्ट देख कर हर्षित होना—इस प्रकार का हर्ष सर्वथा त्याज्य है। वास्तव में यह हर्ष नहीं किन्तु निष्ठुरता है और हर्ष का दुरुपयोग है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार के हर्ष के आवेश में आकर निष्ठुर नहीं हो जाता।

क्रोध

अपने को किसी से हानि या दुःख पहुँचने से, या किसी से अपने स्वार्थ और सुख में बाधा आने से, या किसी से अपना अपमान या तिरस्कार आदि होने के अनुमान से, अथवा अपने मन के अनुकूल कोई कार्य न होने से क्रोधित होकर चित्त को क्षुब्ध करना, और उस हानि या दुःख पहुँचाने वाले से बदला लेने के लिए, उसको दुःख देने या हानि पहुँचाने में प्रवृत्त होना—यह क्रोध अनर्थ का हेतु है, अतः सर्वथा त्याज्य है; सच्चा समत्वयोगी भक्त ऐसा क्रोध नहीं करता। परन्तु क्रोध भी मन का एक विकार है, और जब तक शरीर एवं मन है, तब तक वह सर्वथा मिट नहीं सकता, तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति के इस खेल में उसकी भी आवश्यकता रहती है; इसलिए आवश्यकता होने पर सात्विक बुद्धि से निर्णय करके उससे काम लेना, अर्थात् मूर्ख, अज्ञानियों तथा दुराचारियों को सुधारने और अपने आधीन व्यक्तियों को कर्तव्य-विमुख होने से बचाने के लिए उचित मात्रा में उसका प्रयोग करना; अज्ञानी तथा बालक, किसी हानिकर व्यवहार का दुराग्रह करें, तो उनको क्रोध दिखाकर डाँट देना; और किसी अत्याचारी का अत्याचार छुड़ाने के लिए क्रोध करके उसको धमकी देना, और अधिक आवश्यकता होने पर क्रोधपूर्वक उसे दण्ड देना—यह क्रोध का सदुपयोग होता है। ऐसे अवसरों पर क्रोध के उपयोग से कोई अनर्थ नहीं होता, किन्तु क्रोध करना आवश्यक और लोक-हितकर होता है—उसके न करने से उलटा अनर्थ और लोगों का अहित होता है क्योंकि रजोगुणी-तमोगुणी लोग उनकी प्रकृति के अनुकूल क्रिया से ही सुधरते हैं, अतः उनके तथा दूसरों के हित के लिए परिस्थिति के उपयुक्त उन पर क्रोध करना आवश्यक होता है। वह क्रोध द्वेष-मूलक नहीं होता, किन्तु आन्तरिक प्रेम-मूलक होता है। जिस तरह अपनी सन्तान को कुमार्ग से बचाने के लिए उसके हित की दृष्टि से जो क्रोध किया जाता है, वह क्रोध द्वेष-मूलक नहीं होता, किन्तु प्रेम मूलक होता है। उसी तरह दूसरों को सुधारने के लिए प्रेम-भाव से उनको क्रोध दिखा कर ताड़ना देना उचित होता है परन्तु इस प्रकार का क्रोध भी विशेष अवसरों पर एवं विशेष

आवश्यकता होने पर ही करना चाहिए, और पानी पर लकीर खींचने की तरह इस ढंग से करना चाहिए कि अपने अन्तःकरण में उसकी कोई छाप अथवा वजन न रहे और क्रोध करने की आदत न पड़े।

भय

अपनी विद्या, बुद्धि, बल, तप, धन सत्ता अथवा सामर्थ्य का भय दिखा कर लोगों को दबाना तथा दुःख देना; मिथ्या शास्त्रों का भय बताकर लोगों को भ्रम में डालना, डराना, ठगना तथा अपने आधीन रखना; अपने कर्तव्य पालन करने में, लोक-सेवा में तथा सात्त्विक व्यवहारों और बरताव के प्रचार में रजोगुणी-तमोगुणी प्रकृति के पुरुषों की निन्दा आदि का भय करना; तथा देवी, देवता, भूत, प्रेत आदि की उपासना करके उनसे स्वयं डरना या दूसरों को डराना—यह भय अनर्थकारी एवं त्याज्य है। समत्वयोगी भक्त ऐसे भय से सर्वथा मुक्त रहता है। जो दूसरों को भयभीत करते हैं वे स्वयं भी भयभीत होते हैं, क्योंकि आत्मा तो सबमें एक है; परन्तु बुरे कर्मों के करने में सबके आत्मा = परमात्मा का अथवा परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत् का भय करना, तथा दूसरों को भी बुरे कर्मों से रोकने के लिए भय दिखाना; अपने से अधिक विद्वान्, बुद्धिमान्, बलवान्, धनवान्, सत्तावान् आदि विशेष योग्यता-संपन्न लोगों से सशंकित रह कर उनकी प्रतिद्वंद्विता न करना; तथा क्रूर प्रकृति के मनुष्य, जानवर अथवा हिंसक जन्तु, जिनका सामना करने से शरीर और मन को क्लेश अथवा हानि होने की संभावना हो, उनका भय करके उनसे बचे रहना—यह भय का सदुपयोग है; ऐसी अवस्थाओं में भय भी आवश्यक एवं उचित होता है।

अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन

अपने कर्तव्य-कर्म तथा लोक-सेवा के व्यवहार करने में और सब प्रकार की वृत्ति के प्रचार में आत्म-विश्वास रख कर स्वावलम्बी रहना, अपने आपको सर्वथा [illegible] मान कर तथा दूसरों पर निर्भर रह कर [illegible] और [illegible] न होकर, किन्तु सबके साथ एकता [illegible] का अनुभव करते हुए अपना [illegible] का उद्योग [illegible] दूसरों का सहारा [illegible] [illegible] —यह [illegible] अथवा स्वावलम्बन है। [illegible] इस प्रकार [illegible] स्वावलम्बी होता है [illegible] होता है अर्थात् जिसको सबके साथ एकता का [illegible] होता है [illegible] है [illegible] होते हैं और जिसके [illegible] होते हुए,

वह दूसरों की सहायता और सहयोग भी प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु स्वावलंबन का यह तात्पर्य नहीं है कि अपने व्यक्तित्व के घमण्ड में दूसरों को तुच्छ समझा जाय और दूसरों का तिरस्कार किया जाय, अथवा दूसरों के सहयोग की सर्वथा उपेक्षा की जाय—यह अनपेक्षा अथवा स्वावलम्बन का दुरुपयोग है। संसार के सभी व्यवहार एक-दूसरे की सहायता और सहयोग से ही सिद्ध होते हैं, इसलिए आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास रखते हुए दूसरों के सहयोग का भी यथोचित आदर करना चाहिए।

शौच—पवित्रता

अन्तःकरण को राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्षोभ, कपट, घृणा आदि विकारों के मलिन भावों से रहित अर्थात् शुद्ध रखना, इन्द्रियों के व्यवहार शुद्ध रखना, अर्थात् आँखों से ऐसे दृश्य न देखना, कानों से ऐसे शब्द न सुनना, जिह्वा से ऐसे पदार्थ नहीं चखना, नाक से ऐसे पदार्थ नहीं सूँघना, त्वचा से ऐसी वस्तुओं का स्पर्श नहीं करना, जिनसे चित्त की चंचलता बढ़े, और मन मलिन होकर आत्मिक पतन कराने वाले व्यवहारों में प्रवृत्ति हो; इसी तरह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार भी शुद्ध रखना, और शरीर को स्नान, मज्जन एवं स्वच्छ वस्त्र आदि से साफ-शुद्ध रखना—यह सच्चा शौच अथवा पवित्रता है; समत्वयोगी सदा इस प्रकार पवित्र रहता है। परन्तु अन्तःकरण के तथा इन्द्रियों के व्यवहारों की शुद्धि पर यथोचित ध्यान न देकर, केवल स्थूल शरीर की छुआछूत आदि में ही पवित्रता की इतिश्री समझना, और स्वार्थपरता के संकुचित भावों से दूसरों का तिरस्कार तथा दूसरों से घृणा करके लोगों को दुःखित करना—यह शौच (पवित्रता) नहीं, किन्तु मिथ्या घमण्ड एवं अति मलिनता है। वास्तव में यह स्थूल शरीर तो मलों का खजाना ही है, केवल बाहरी छुआछूत से यह शुद्ध नहीं हो सकता, केवल जीवात्मा के संयोग से ही यह पवित्र रहता है, जिस क्षण इससे उसका वियोग होता है, उसी क्षण से यह छूने योग्य भी नहीं रहता। [illegible] होता है। छुआछूत अथवा [illegible] करती है [illegible] होता है और [illegible] रहता है [illegible]

[illegible]

[illegible]

परन्तु प्रमाद के विषयों एवं निरर्थक चेष्टाओं में—जिनसे अपने कर्तव्यों में हानि पहुँचती हो—कुशलता रखना, तथा अपने कर्तव्यों पर ध्यान न देकर, जिन कामों को करने में योग्यता न हो, उनमें कौशल प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहना—यह दक्षता या कार्य-कुशलता नहीं, किन्तु चपलता है।

शोक-चिन्ता-पश्चात्ताप

गये हुए तथा अप्राप्त धनादि पदार्थों, सम्बन्धियों, मित्रों तथा विषय-सुखों का चिन्तन करके उनके लिए रोना अथवा शोक करना; उपस्थित पदार्थों के रक्षण आदि के लिए उचित उपाय न करके केवल उनके विषय में चिन्ता ही करते रहना, तथा उनके बिछुड़ने पर या उनकी हानि होने पर अपनी मूर्खता, असावधानी आदि कारणों के लिए पश्चात्ताप करते रहना, और उस शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि में डूब कर अपने कर्तव्य-कर्मों को भूल जाना अथवा उनमें त्रुटि करना—इस तरह के शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप आदि सर्वथा त्याज्य हैं; समत्वयोगी भक्त इनसे विमुक्त रहता है। परन्तु अपने कर्तव्य-कर्मों से विमुख रहने से तथा कुकर्म करने से, शोक और चिन्ता अवश्य उत्पन्न होती है, इस प्रकार, शोक और चिन्ता का स्मरण करते हुए, अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए सदा सावधान और चिन्तित रह कर उनको पूरा करने का प्रयत्न करते रहना, और कुकर्मों से बचे रहना; अपने भीतर, आत्म-विमुख करने वाले रजोगुणी-तमोगुणी भावों से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करके, उन रजोगुणी-तमोगुणी भावों के सुधारने में यत्नशील रहना; तथा अपने किये हुए अनर्थों, असावधानियों एवं त्रुटियों का पश्चात्ताप करके, पुनः उनको न करने के लिए सावधान रहना—इस तरह शोक-चिन्ता-पश्चात्ताप करना हितकर एवं आवश्यक है, और यह उनका सदुपयोग है।

त्याग

ऐसे राजसी-तामसी आडम्बरों एवं समारम्भों से अलग रहना कि जिनसे व्यक्तित्व का अहंकार बढ़े, और जिनसे अपने वास्तविक कर्तव्य-कर्म करने में बाधा लगे. अपने कर्तव्य-कर्म करने में केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के ही भाव न रखना, किन्तु सबके हित के साथ अपना हित साधन करने के उद्देश्य से अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करना, तथा ऐसा करने में "मैं करता हूँ, मेरे काम हैं, मेरे ही करने से ये काम होते हैं यदि मैं न करूँ तो नहीं हो सकते, इस कर्म का मुझे अमुक फल मिलेगा"—इस तरह के अहंकार और मद से रहित होना; गृहस्थी में रहते हुए, धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि रखते

हुए, शारीरिक एवं कौटुम्बिक सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करते हुए तथा नियमित भोग भोगते हुए भी उनमें आसक्ति नहीं रखना अर्थात् उनमें उलझे न रहना, किन्तु उन सबको एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक परिवर्तनशील रूप समझ कर उनमें अपने पृथक् व्यक्तित्व की प्रीति नहीं रखना; धन, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा आदि के प्राप्त होने एवं रहने में हर्ष नहीं करना और उनके जाने में शोक नहीं करना, किन्तु निर्विकार रहना; तथा लोक-संग्रह के लिए ही धनादि पदार्थों का संग्रह और लोक-संग्रह के लिए ही उनका त्याग करना—यह समत्वयोगी भक्तों का त्याग या वैराग्य है। परन्तु सांसारिक व्यवहार करने में मन को विक्षेप और शरीर को कष्ट होने के भय से उन्हें छोड़ देना; अथवा आलस्य और प्रमाद से अपने कर्तव्य-कर्म न करना; अथवा इस तामसी अहङ्कार से अपने कर्तव्य-कर्म, घर-गृहस्थी, कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति आदि त्याग देना कि "मैं त्यागी हूँ, वैरागी हूँ, मैंने घर-गृहस्थी आदि सब त्याग दिये, मेरी किसी में प्रीति नहीं है, मैं बड़ा विरक्त हूँ", इत्यादि; और त्यागी अथवा संन्यासी का स्वांग धारण करके जगह-जगह घूमते फिरते रहना अथवा जंगलों में निवास करना; तथा हठपूर्वक पदार्थों का त्याग करके मन से उनका चिन्तन करते रहना—यह त्याग नहीं किन्तु राग एवं पाखण्ड है। जब तक ग्रहण और त्याग की पृथक्ता का भाव और व्यक्तित्व का अहङ्कार बना रहता है, तब तक सच्चा त्याग नहीं होता।

राग-प्रीति-आसक्ति

जगत् के विधाता के बनाये अर्थात् सांसारिक पदार्थों और विषयों में इतना प्रेम रखना कि मन निरन्तर उन्हीं में उलझा रहे और उनके वियोग होने पर विक्षेप हो और घर-गृहस्थी धन-सम्पत्ति वेष-भूषा आदि के मोह में इतना आसक्त हो जाना कि जिससे अपने कर्तव्य कर्म करने में बाधा पड़े अथवा उनमें त्रुटि आवे तथा जिसके कारण अपने असली कर्तव्य—सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान की प्राप्ति के लिए अवकाश ही न मिले—इस प्रकार का राग प्रीति अथवा आसक्ति त्याज्य है। समत्व-योगी भक्त इस प्रकार के राग में नहीं उलझते क्योंकि मन बुद्धि से विशेष पदार्थों में राग करने से उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उनसे द्वेष भी उत्पन्न होना स्वाभाविक है, और राग तथा द्वेष ही बन्धन के हेतु होते हैं। परन्तु सबकी एकता के आत्म-ज्ञान से तथा उसके अनुभव रूप सात्त्विक व्यवहार में राग और सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा की अनन्य भाव की भक्ति में प्रीति अथवा आसक्ति रखना आवश्यक और हितकर होता है; यह राग अथवा आसक्ति का सदुपयोग है

द्वेष

अपनी प्रकृति के प्रतिकूल प्रतीत होने वाले पदार्थों से, तथा अपने प्रतिकूल दीखने वाले व्यक्तियों के साथ, अथवा बिना कारण ही किन्हीं को अपने विरोधी मान कर, उनसे द्वेष करना, और उनके प्रतिकूल आचरण करके उनको हानि पहुँचाने या उनका अनिष्ट करने व उनको गिराने के भाव रखना—यह द्वेष निन्दनीय एवं त्याज्य है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार का द्वेष नहीं करता। परन्तु जिन कारणों से दूसरों के साथ द्वेष उत्पन्न होता हो, अथवा भेद बढ़ता हो, तथा जो लोग दूसरों से भेद कराने या द्वेष बढ़ाने वाले हों, उन द्वेष कराने और भेद बढ़ाने वाले लोगों और ऐसे कारणों से द्वेष करना अर्थात् द्वेष का द्वेष करना—वस्तुतः द्वेष करना नहीं, किन्तु द्वेष मिटाना है, अतः यह द्वेष का सदुपयोग होता है।

काम (इच्छा)

दूसरों के हित अथवा स्वार्थ पर दुर्लक्ष्य करके तथा उनमें बाधा देकर केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि ही की इच्छा रखना, अर्थात् केवल अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की अभिलाषाओं ही में दिन-रात निमग्न रह कर दूसरों के हिताहित की कुछ भी चिन्ता न रखना; अपने शरीर तथा उसके सम्बन्धियों के लिए ही आधिभौतिक और आधिदैविक सुखों तथा मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति आदि की निरन्तर कामनाएँ करते रहना, और विषय सुखों के लिए अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की लालसा रखना एवं कर्तव्य-अकर्तव्य उचित-अनुचित का कुछ भी विचार न करके सदा कामोपभोग में ही लगा रहना—इस तरह का काम त्याज्य है। इस तरह [illegible]

चित्त की शान्ति भङ्ग किये बिना भोगना—यह सात्विक काम है, अर्थात् यह काम का सदुपयोग है। जगत् का व्यवहार यथावत् चलाने के लिए इस प्रकार के काम की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

समता

अपने कर्तव्य-कर्म करने में सर्दी, गर्मी आदि अनेक कारणों से कभी सुख और कभी दुःख की प्राप्ति हो, अथवा प्रतिकूल प्रकृति के लोग शत्रुता का और अनुकूल प्रकृति के लोग मित्रता का भाव रक्खें, और प्रेम रखने वाले लोग मान करें, तथा द्वेष रखने वाले अपमान करें, एवं कोई निन्दा करें, और कोई स्तुति करें, तो इन द्वन्द्वों अथवा जोड़ों को परिवर्तनशील एवं अस्थायी समझ कर इनसे अविचलित रहना; इन जोड़ों को एक ही वस्तु के दो परस्पर विरोधी, अन्योन्याश्रित एवं परिवर्तनशील भाव समझना; सुख के साथ दुःख, शत्रुता के साथ मित्रता, मान के साथ अपमान और निन्दा के साथ स्तुति का अस्तित्व बना रहता है, अर्थात् जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी होता है, जहाँ शत्रु हैं वहाँ मित्र भी होते हैं, जहाँ मान है वहाँ अपमान भी होता है और जहाँ निन्दा है वहाँ स्तुति भी होती है—प्रत्येक भाव के अस्तित्व के लिए उसके जोड़े के विरोधी भाव का होना अनिवार्य है, ये परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, इसलिए वास्तव में एक ही वस्तु के अनेक कल्पित रूप हैं—इस तथ्य को अच्छी तरह समझ कर इनमें से किसी की भी प्राप्ति होने पर अपने चित्त की समता अथवा शान्ति भंग न करना; जो एक परिस्थिति में सुख का कारण होता है, वही दूसरी परिस्थिति में दुःख का कारण हो जाता है, और जो एक परिस्थिति में दुःख का कारण होता है वही दूसरी परिस्थिति में सुख का कारण हो जाता है; जो एक परिस्थिति में शत्रु होता है वही दूसरी परिस्थिति में मित्र हो जाता है, और जो एक परिस्थिति में मित्र होता है वही दूसरी परिस्थिति में शत्रु हो जाता है; जो लोग एक परिस्थिति में अपमान अथवा निन्दा करते हैं, वही लोग दूसरी परिस्थिति में मान और स्तुति करने लग जाते हैं, और जो लोग एक परिस्थिति में मान और स्तुति करते हैं, वही दूसरी परिस्थिति में अपमान और निन्दा करने लग जाते हैं; इसलिए इन विरोधी भावों को तत्त्वहीन समझ कर, अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबके साथ यथायोग्य प्रेमपूर्वक साम्य-भाव से करने में इन द्वन्द्वों से विचलित न होकर अन्तःकरण की समता बनाये रखना—यह वास्तविक समता है; और परमात्मा का सच्चा भक्त—समत्वयोगी इस प्रकार इन द्वन्द्वों में सम बना रहता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परमात्मा के भक्त अर्थात् समत्वयोगी को सुख-दुःख, मान-अपमान आदि की वेदनाएँ प्रतीत ही नहीं होतीं, अथवा उसे सुख

की अनुकूलता और दुःख की प्रतिकूलता का कुछ अनुभव ही नहीं होता, अथवा वह सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए कोई यत्न ही नहीं करता—शरीर को सदा कष्ट ही में रखता है; तथा वह शत्रु और मित्र के साथ एक-सा बर्ताव करता है, और मान एवं स्तुति तथा अपमान एवं निन्दा को एक-सा समझ कर ऐसे आचरण करता है कि जिनसे अपमान और निन्दा भले ही होवे—वह उनकी परवाह नहीं करता; ऐसा करना समता का भाव नहीं है, किन्तु यही भारी विषमता का भाव है। सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्व शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं, अतः इनकी वेदना जितनी साधारण लोगों के शरीरों को होती है, उतनी ही परमात्मा के भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी के शरीर को भी होती है, क्योंकि शरीर सबका उन्हीं पंच तत्त्वों का बना हुआ होता है; परन्तु परमात्मा का भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी तात्त्विक विचार से इन द्वन्द्वों अथवा विरोधी भावों के जोड़ों की असलियत का ज्ञान रखता है इसलिए वह इनसे प्रभावित होकर अपने कर्त्तव्यों से विचलित नहीं होता, और न उसके अन्तःकरण में अशान्ति ही उत्पन्न होती है; उसे सदा यह ध्यान रहता है कि यह सब संसार द्वन्द्वों अर्थात् परस्पर विरोधी भावों के जोड़ों का बनाव है, इसलिए जिस समय जो भाव उपस्थित हो, उसी के अनुरूप शारीरिक व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी उसके अन्तःकरण में सब की एकता का समता-भाव बना रहता है। सुख की प्राप्ति होने पर उसका यथायोग्य उपभोग करते हुए भी वह उसमें तल्लीन नहीं होता, दुःख की प्राप्ति होने पर उसे सहन करते हुए भी उसके अन्तःकरण में [illegible] नहीं होता; शत्रु के साथ उसके [illegible] के अनुसार [illegible] करते हुए भी वह अन्तःकरण से उसके [illegible] नहीं [illegible]; मित्र के साथ मित्रता का बर्ताव करते हुए भी वह उसके [illegible] में आसक्त नहीं होता; मान और स्तुति का आदर करते हुए भी [illegible] नहीं [illegible]; अपमान और निन्दा का [illegible] सहते हुए भी इनसे उसके अन्तःकरण में [illegible] नहीं होता—यही समत्व [illegible] है।

मौन

[illegible]

रहना; हठ से मौन-व्रत रख कर मन के भाव लिख कर अथवा नैनों और संकेतों दूसरों पर प्रकट करना—यह मौन नहीं किन्तु दम्भ है; और कपटभरी मिथ्या एवं आक्षेपों का, तथा अन्यायपूर्ण एवं अनुचित वचनों का प्रतिवाद न करके, चुपचाप सहते रहना मौनता है।

अनिकेत

किसी स्थान-विशेष अथवा देश-विशेष ही में ममत्व की आसक्ति न रखना, किन्तु अपनी उन्नति और कर्तव्य-कर्म करने तथा लोक-सेवा के लिए जहाँ रहने की आवश्यकता हो वहीं प्रसन्न-चित्त से रहना; विद्या, ज्ञान और धन की प्राप्ति के लिए देशाटन करना; किसी विशेष देश या विशेष स्थान ही में रहने के लिए लालायित न होना—यह सच्चा अनिकेत है; समत्वयोगी भक्त इस प्रकार अनिकेत रहते हैं। परन्तु समुचित कारण के बिना ही किसी एक स्थान में न टिक कर जगह-जगह भटकते रहना, यह अनिकेत नहीं किन्तु भटकना है।

॥ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥

तेरहवाँ अध्याय

गीता के मूल प्रतिपाद्य विषय—अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबकी एकता के निश्चय-युक्त साम्य-भाव से करने रूप समत्व-योग की सिद्धि के लिए, सबसे प्रथम सबकी एकता का (सर्वभूतात्मैक्य) ज्ञान प्राप्त करके उसमें मन को ठहराने की आवश्यकता होती है; और इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भगवान् ने सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक सबके आत्मा = परमात्मा की भक्ति अथवा उपासना के सुगम साधन का विधान किया, जिसमें अखिल विश्व को सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप अपना ही व्यक्त भाव बताकर (परमात्मा-स्वरूप) अपने में सबकी एकता दिखाई, और परमात्मा की एकता में श्रद्धा अथवा विश्वास करके उसकी उपासना करने द्वारा सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान में मन को स्थित करने का उपदेश दिया। परन्तु जैसा कि पहले कह आये हैं गीता में विवेक-शून्य अन्ध-श्रद्धा को स्थान नहीं है, किन्तु इसमें उन्हीं विषयों पर श्रद्धा रखने का उपदेश दिया गया है जो कि तात्त्विक विचार द्वारा सिद्ध हो सकते हों। इसलिए अब आगे के तीन अध्यायों में भगवान्, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर और जीवात्मा, प्रकृति और पुरुष एवं जगत् और जगदीश्वर-संबंधी दार्शनिक विवेचन करके फिर सबका समावेश सबके अपने-आप, सबके आत्मा = परमात्मा में करने द्वारा सबकी एकता के सर्वभूतात्मैक्य-ज्ञान का निरूपण करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि हे कौंतेय ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं, और इसको जो जानता है, अर्थात् जिसे यह अनुभव होता है कि "यह शरीर अथवा क्षेत्र है" उसे, इस विषय के जानकार अर्थात् तत्ववेत्ता लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं (१)। और हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जान; क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरा (परमात्मा का) ज्ञान माना गया है। तात्पर्य यह कि यह शरीर, और सब शरीरों में रहने वाला जीवात्मा तथा परमात्मा सब-कुछ "मैं (सबका आत्मा)" ही हूँ (गी० अ० ७ श्लो० ४ से ६); अतः शरीर और जीवात्मा के विषय का जो यथार्थ ज्ञान है, वही परमात्मा-स्वरूप मेरा ज्ञान है (२)। वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, जिन विकारों वाला है और जिससे जो होता है; तथा वह (क्षेत्रज्ञ) जो कुछ है एवं जिस प्रभाव वाला है, सो संक्षेप में मुझ से सुन। तात्पर्य यह कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा के विषय का अलग-अलग विवेचन आगे के श्लोकों में किया जाता है (३)। ऋषियों द्वारा वेदों और उपनिषदों के विविध मन्त्रों में (यह विषय) बहुत प्रकार से अलग-अलग रूप से कथन किया गया है; और ब्रह्म-सूत्र-पदों के द्वारा सुनिश्चित-रूप से इसका युक्ति-युक्त वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और जीवात्मा-सम्बन्धी विज्ञान-सहित ज्ञान का निरूपण अनेक ऋषियों ने वेदों के मंत्र-भाग में तथा उपनिषदों में नाना प्रकार से किया है; और वेदान्त-सूत्रों में कार्य-कारण-रूप हेतु दिखाकर युक्ति-युक्त प्रमाणों से उन पृथक्-पृथक् निरूपणों की एक-वाक्यता करके पूर्णतया निश्चित सिद्धान्त स्थिर कर दिया गया है (४)। महाभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश; अहंकार अर्थात् 'मैं हूँ' यह व्यक्तित्व का भाव; बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति; अव्यक्त अर्थात् कारण प्रकृति; ग्यारह इन्द्रियाँ अर्थात् आँख, नाक, कान, [illegible] और [illegible] ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा [illegible] हाथ, पैर, [illegible] और उपस्थ [illegible] ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं [illegible] मन; पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय अर्थात् [illegible] रूप, रस और गन्ध (इन [illegible] का समूह); [illegible] अर्थात् अनुकूलता की प्राप्ति की चाहना; [illegible] अर्थात् [illegible] व तिरस्कार का [illegible] सुख अर्थात् अनुकूल वेदना; दुःख अर्थात् प्रतिकूल वेदना; संघात अर्थात् इन [illegible] अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ एवं [illegible] आदि के [illegible] चेतन अथवा जीवित

अवस्था। धृति अर्थात् धारणा-शक्ति—इन विकारों सहित, संक्षिप्त रूप से क्षेत्र कहा गया है (१३-६)। अमानित्व अर्थात् शरीर के बड़प्पन, उच्चता, कुलीनता, पवित्रता, विद्या, बुद्धि, रूप, यौवन, बल, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि का अभिमान न करना (बारहवें अध्याय में "निरहंकार" का स्पष्टीकरण देखिए); अदम्भित्व अर्थात् दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए, अपने मिथ्या बड़प्पन आदि के झूठे दिखाव न करना, तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा आमोद-प्रमोद आदि के लिए दूसरों को ठगने, धोखा देने अथवा भुलावा देने की नीयत से किसी से छल-कपट न करना (आगे सोलहवें अध्याय में "दंभ" का स्पष्टीकरण देखिए); अहिंसा अर्थात् अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी को तन से, मन से अथवा वचन से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुँचाना और किसी की हानि न करना तथा किसी की न्याय-युक्त आजीविका में बाधा न देना (आगे सोलहवें अध्याय में "अहिंसा" का स्पष्टीकरण देखिए); क्षमा अर्थात् दूसरों के अपराध सहन करना (बारहवें अध्याय में "क्षमा" का स्पष्टीकरण देखिए); आर्जव अर्थात् अपनी तरफ़ से सबसे सरलता यानी सीधाई का बर्ताव करना—समुचित कारण के बिना किसी को दुःख देने अथवा उद्विग्न करने की नीयत से कुटिलता अथवा टेढ़ेपन का बर्ताव न करना (आगे सोलहवें अध्याय में "सरलता" का स्पष्टीकरण देखिए); आचार्योपासना अर्थात् गुरु-भक्ति (बारहवें अध्याय में "गुरु-भक्ति" का स्पष्टीकरण देखिए); शौच अर्थात् पवित्रता (बारहवें अध्याय में "पवित्रता" का स्पष्टीकरण देखिए); स्थैर्य अर्थात् दृढ़-निश्चय (बारहवें अध्याय में "दृढ़-निश्चय" का स्पष्टीकरण देखिए); आत्म-निग्रह अर्थात् मन का संयम (बारहवें अध्याय में "शम" का स्पष्टीकरण देखिए), इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य (अ० २ श्लो० ६२ से ६८, तथा अ० ६ श्लो० ८-९ का स्पष्टीकरण देखिए); अनहंकार अर्थात् दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व का अहंकार न रखना (बारहवें अध्याय में "निरहंकार" का स्पष्टीकरण देखिए); जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग आदि व्याधियों के दुःखों और दोषों को सदा याद रखना, अर्थात् इस बात का सदा ध्यान रखना कि जन्मना, मरना, बुढ़ापा और रोग शरीर के साथ लगे हुए हैं और ये बहुत ही दुःखदायक होते हैं, उनकी प्राप्ति और स्थिति का कोई ठिकाना नहीं है—न मालूम कब आ जाएँ और कब तक रहें, गर्भ से लेकर बाल्य-अवस्था तक तथा शरीर जीर्ण हो जाने पर तथा रोगादि व्याधियों से ग्रस्त होने से, और मर जाने पर कुछ भी करने की योग्यता नहीं रहती, इसलिए अपने कर्तव्य-कर्म अथवा सब प्रकार की उन्नति के साधन सम्पादन करने में आलस्य अथवा प्रमाद न करना, जो कुछ करना हो, युवावस्था में और शरीर की स्वस्थ दशा में ही कर लेना—इस अमूल्य समय को व्यर्थ न गँवाना, पुत्र, स्त्री और घर आदि में आसक्ति और संग

न रखना, अर्थात् स्त्री, बाल-बच्चों, कुटुम्ब-परिवार आदि गृहस्थी में रहते हुए और उनके प्रति अपना कर्तव्य यथायोग्य पालन करते हुए, तथा घर, सम्पत्ति आदि को रखते हुए भी उन सबको इस अनित्य एवं परिवर्तनशील शरीर ही के सम्बन्धी समझ कर, उनमें इतना उलझे न रहना कि उनके सिवाय और किसी विषय का ध्यान ही न रहे, और उनके ममत्व यानी मोह का इतना प्रभाव मन पर न रखना कि उनके सुख-दुःख तथा संयोग-वियोग आदि द्वन्द्वों से अन्तःकरण व्याकुल होता रहे (बारहवें अध्याय में "अनासक्ति" का स्पष्टीकरण देखिए); इष्ट अर्थात् अनुकूल और अनिष्ट अर्थात् प्रतिकूल की प्राप्ति होने पर, दोनों दशाओं में चित्त की समता बनाये रखना (बारहवें अध्याय में "समता" का स्पष्टीकरण देखिए); मुझमें अनन्य-योग से अटल भक्ति रखना, अर्थात् सब-कुछ परमात्मा ही है, इस एकत्व-भाव के दृढ़-निश्चयपूर्वक पहले के अध्यायों में वर्णित परमात्मा की भक्ति में सदा लगे रहना; निरुपाधिक एवं शुद्ध देश में रहना (बारहवें अध्याय में "अनिकेत" का स्पष्टीकरण देखिए); किसी विशेष जन-समुदाय में अथवा अज्ञानी लोगों के समाज में प्रीति अथवा मोह न रखना; अध्यात्म-ज्ञान की नित्यता के निश्चयपूर्वक उसके विचार में लगे रहना, अर्थात् अपने सहित सबको वास्तुतः आत्म-स्वरूप समझना; और तत्वज्ञान के अर्थ को देखते रहना, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की असलियत के तात्विक विवेचन पर सदा दृष्टि रखना—यह ज्ञान कहा गया है, अर्थात् इस प्रकार आचरण करने वाला व्यक्ति सच्चा ज्ञानी होता है, और ये आचरण ज्ञान-प्राप्ति के साधन भी हैं; इसके विपरीत जो कुछ है वह अज्ञान है, अर्थात् इसके विरुद्ध आचरण करने वाले अज्ञानी हैं, उनको ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। (७ वें से ११ वें श्लोक तक का) तात्पर्य यह है कि इस अध्याय के दूसरे श्लोक में क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के जिस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान कहा है, उसी ज्ञान का स्वरूप इन श्लोकों में बतलाया गया है। यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि ज्ञान के उपरोक्त वर्णन में सबके अपने-आप=आत्मा में सबकी एकता जान लेने मात्र ही को ज्ञान नहीं कहा है, किन्तु उस ज्ञान के साथ-साथ, सबके साथ अपनी एकता के प्रेम-भाव से समता के आचरण करने को ज्ञान कहा है। जिस पुरुष को क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और आत्मा, अथवा जगत् और जगदीश्वर की एकता का यथार्थ एवं दृढ़ ज्ञान हो जाता है, उसके ये स्वाभाविक आचरण होते हैं और जिनको उनकी एकता के उपरोक्त ज्ञान प्राप्त करने और उससे भिन्न होने की सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न हो, उसके लिए ज्ञान के इन आचरणों का साधन मन में दृढ़-पूर्वक करना आवश्यक है, क्योंकि [illegible] ज्ञान का उपयोग आचरण में किए बिना [illegible]

बनाते रहने अथवा पुस्तकें देखते रहने अथवा पद-पदार्थ याद करके शास्त्रार्थ करते रहने मात्र से सच्चे ज्ञान की प्राप्ति और उसमें स्थिति नहीं होती, इसलिए इन साधनों ही को भगवान् ने वास्तविक ज्ञान कहा है। यहाँ साध्य और साधन की भी वस्तुतः एकता दिखाई है। इन साधनों में दृढ़ स्थिति होना ही यथार्थ ज्ञान की स्थिति है—जब तक इनके विपरीत अभिमान, पाखण्ड, छल-कपट एवं दूसरों को पीड़ा देने आदि अनेकता और विषमता के आचरण किये जाते हैं, तब तक ज्ञान की स्थिति नहीं होती, किन्तु अज्ञान अवस्था ही बनी रहती है (७-११)। (अब) जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है वह कहता हूँ, जिसे जान कर अमृत की प्राप्ति होती है, अर्थात् सब प्रकार के कल्पित बंधनों से छुटकारा होकर अभय-आनन्द की प्राप्ति होती है; (वह जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय वस्तु = आत्मा) अनादि पर-ब्रह्म है, न वह सत् कहा जाता है, न असत् (१२)। उस (ज्ञेय तत्त्व अर्थात् आत्मा) के सर्वत्र हाथ-पैर, सर्वत्र आँखें, सिर और मुख, एवं सर्वत्र कान हैं, और जगत् में वह सबको व्याप्त करके स्थित है (१३)। सब इन्द्रियों के गुणों का आभास (वही) है, अर्थात् सब इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा व्यापार उसी से भासते हैं, (और वह) सब इन्द्रियों से रहित है, अर्थात् इन्द्रियों के बिना भी वह होता है; असक्त होता हुआ अर्थात् वस्तुतः सब सम्बन्धों से रहित होकर भी (वह) सबका धारण-पोषण करता है, और निर्गुण होकर भी गुणों का भोक्ता है; अर्थात् सब-कुछ वही होने के कारण वही सबका धारण-पोषण करने वाला है, और वही निर्गुण तथा वही सगुण है (१४)। वह सब भूतों के बाहर और भीतर भी है, चर और अचर अर्थात् जङ्गम और स्थावर भी है; सूक्ष्म होने के कारण वह (मन और इन्द्रियों से) जाना नहीं जा सकता; और वह दूर भी है तथा पास भी है, अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है (१५)। वह विभाग-रहित होता हुआ भी भूतों में विभाजित हुआ-सा स्थित है, अर्थात् एक ही अनेक रूपों में प्रतीत होता है, और वह ज्ञेय (आत्मा) भूतों का धारण, पोषण, संहार और उत्पत्ति करने वाला है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, सब उसी में होते हैं (१६)। वह ज्योतिवालों की ज्योति अर्थात् तेज का तेज, अज्ञानान्धकार से परे कहा जाता है, तथा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान से अनुभव होने वाला, सबके हृदय में रहता है (१७)। इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय संक्षेप से कहे हैं, मेरा भक्त इन्हें जान कर मेरे भाव को प्राप्त होता है (१८)। श्लोक १२ वें से १८ वें तक का तात्पर्य यह है कि इस अध्याय के पहले और दूसरे श्लोकों में, सब शरीरों में 'मैं' रूप से रहने वाले सबके आत्मा = परमात्मा का क्षेत्रज्ञ शब्द से जो कथन किया गया है उसी क्षेत्रज्ञ का विस्तृत वर्णन भगवान् इन श्लोकों में ज्ञेय रूप से करते हैं। वह सबका आत्मा =

बीच में वही ओत-प्रोत भरा हुआ है, जब तक सूक्ष्म विचार नहीं किया जाता, तब तक वह (स्थूल इन्द्रियों से) नहीं जाना जाता, क्योंकि स्थूल इन्द्रियाँ स्थूल बनावों की कल्पित भिन्नता ही को विषय करती हैं, इन बनावों में जो सच्चा एकत्व-भाव है, उसको वे विषय नहीं करतीं, इसलिए उनको वह सर्वव्यापक आत्मा अथवा परमात्मा सदा दूर ही प्रतीत होता है; परन्तु वास्तव में दूर भी वही है, और नज़दीक, पास अथवा समीप भी वही है—दूरी और समीपता का प्रकाश अथवा ज्ञान अपने-आप ही से होता है। भूत-प्राणियों के जो अलग-अलग शरीर और अलग-अलग बनाव प्रतीत होते हैं, वे वस्तुतः अलग-अलग नहीं हैं, किन्तु समुद्र की तरंगों की तरह एक ही आत्मा अथवा परमात्मा अथवा सबके अपने-आपके अनेक रूप और अनेक नाम हैं; जिस तरह समुद्र में तरंगें उठने से उसके टुकड़े नहीं हो जाते, उसी तरह जगत् के नाना प्रकार के बनावों से सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा के टुकड़े नहीं होते, किन्तु वह सदा अखण्ड बना रहता है। वही कभी जगत् के नाना बनाव-रूप बनता है और कभी उन बनावों को अपने में समेट लेता है, परन्तु नाना बनावों के बनने से वस्तुतः वह टूट कर अनेक नहीं हो जाता और बनावों के समेट लेने पर वह पीछा जुड़ नहीं जाता, किन्तु वह अपने अखण्ड भाव में ज्यों का त्यों बना रहता है—अपने-आप का भाव सबमें सदा एक समान बना रहता है। "मैं" रूप से सबके अन्तःकरण में रहने वाला सबका अपना-आप = आत्मा अथवा परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है; और वह सब-कुछ है, इसलिए ज्ञेय अर्थात् जानने की वस्तु भी वही है, क्योंकि जिस किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है, वह उसी आत्मा का ज्ञान है; और सबका प्रकाशक अथवा बोध कराने वाला भी वही है, क्योंकि अपने आपके प्रकाश से ही सबका प्रकाश होता है; सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि जितने भी प्रकाशवान् पदार्थ हैं, वे सब जड़ हैं, वे चेतन आत्मा की सत्ता ही से प्रकाशित होते हैं, परन्तु आत्मा स्वयं-प्रकाश है; स्वप्न-अवस्था की सूक्ष्म सृष्टि में जाग्रत के स्थूल प्रकाशवान् पदार्थ नहीं होते, वहाँ भी अपना-आप = आत्मा स्वयं स्वप्न-सृष्टि को प्रकाशित करता है; इससे स्पष्ट है कि सबका प्रकाशक आत्मा ही है, और वह आत्मा सबके अपने अन्दर, सबके अपने पास है। उस अपने-आप = आत्मा को इस प्रकार जानना अथवा अनुभव करना चाहिए, और वह अनुभव श्लोक ७ से ११ तक के वर्णनानुसार ज्ञान के आचरण करते रहने से होता है। जो ईश्वर-भक्त इस प्रकार ज्ञान के आचरण से इस रहस्य को समझ कर अपने वास्तविक आपका उपरोक्त यथार्थ अनुभव कर लेता है वह परमात्म-भाव को प्राप्त हो जाता है (१३ म १८)।

स्पष्टीकरण—सातवें अध्याय में अपि अथवा उपासना के प्रकरण में विज्ञान सहित ज्ञान की व्याख्या करते हुए भगवान् ने अपनी पर और अपरा प्रकृति का वर्णन

उपासना की दृष्टि से किया था, अब इसी विषय को यहाँ अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त के आधार पर दार्शनिक दृष्टि से कहते हैं। शरीर और जगत्, तथा आत्मा और परमात्मा (सत्) की एकता का अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त—जिसका अनेक ऋषियों ने वेदों और उपनिषदों में भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन किया है, और इन सब वर्णनों की एकवाक्यता महर्षि बादरायण व्यास जी ने पूर्णतया निश्चित रूप से अकाट्य युक्तियों एवं प्रमाणों द्वारा वेदान्त-सूत्रों में स्पष्ट तरह कर दी है, वही अद्वैत-सिद्धान्त—भगवान् को मान्य है, और इसी के अनुसार यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूप से शरीर अथवा पिण्ड तथा जगत् अथवा ब्रह्माण्ड, और आत्मा अथवा परमात्मा के स्वरूप का अलग-अलग विवेचन करने के साथ ही साथ इन सबकी एकता का संक्षिप्त प्रतिपादन करते हैं। भगवान् कहते हैं कि सब शरीरों में "मैं" रूप से विद्यमान सबका अपना-आप, अथवा आत्मा ही परमात्मा है, और वह आत्मा अथवा परमात्मा ही चौबीस तत्त्वों के समूह तथा नाना विकारों से युक्त क्षेत्र संज्ञा वाला शरीर (पिण्ड) और जगत् (ब्रह्माण्ड) रूप से कल्पित दृश्य होता है, तथा वही उस पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप क्षेत्र अथवा कल्पित दृश्य को बुद्धि द्वारा जानने वाला अथवा उसका अनुभव करने वाला क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। जिस तरह मनुष्य को जब स्वप्न आता है, तब वह आप ही स्वप्न के सब प्रपंच अथवा दिखाव-रूप होता है, और आप ही स्वप्न का देखने वाला अर्थात् स्वप्न का ज्ञाता होता है; उसी तरह "मैं" रूप से सबके अन्दर रहने वाला, सबका अपना-आप = आत्मा ही जाग्रत जगत् का दृश्य अथवा दिखाव-रूप होता है, और आप ही द्रष्टा होता है—जो व्यवस्था स्वप्न-सृष्टि की है, वही जाग्रत सृष्टि की है। जगत् के नामरूप का बनाव यद्यपि प्रत्यक्ष इन्द्रिय-गोचर होने के कारण सत् प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में यह प्रतिक्षण परिवर्तन-शील एवं नाशवान् होने के कारण सत् नहीं है, और जीवात्मा इन्द्रिय-गोचर न होने के कारण असत् प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में वह सबका सत्-स्वरूप होने के कारण असत् नहीं है, और सबके अपने आप [illegible] दोनों भावों का सदा आधार [illegible] होने के [illegible] इसलिए उसको न सत् कह सकते हैं न असत्, क्योंकि सत् कहने [illegible] और असत् कहने से [illegible] है [illegible] [illegible] इन्द्रिय [illegible] और [illegible] [illegible] अथवा [illegible] इन्द्रिय [illegible] [illegible] और सब [illegible] इन्द्रियों से रहित [illegible] अर्थात् निरिन्द्रिय भी वही है।

इन्द्रियगोचर सब पदार्थों की प्रतीति अपने-आप = आत्मा ही से होती
आत्मा ही मन रूप से इन्द्रियों के सब विषयों का अनुभव करता है, मन ही आँखों
के द्वारा रूप देखता है, मन ही कानों के द्वारा शब्द सुनता है, मन ही नाक के द्वारा
गन्ध लेता है, मन ही जीभ के द्वारा स्वाद लेता है और मन ही त्वचा के द्वारा स्पर्श
करता है। यदि मन का इन्द्रियों से संयोग न हो अर्थात् मन ठिकाने न हो तो
इन्द्रियों को अपने अपने विषयों की कुछ भी प्रतीति नहीं होगी; परन्तु इस तरह मन
रूप से इन्द्रियों के विषयों का प्रकाश करके भी अपना वास्तविक आप = आत्मा
इन्द्रियों में ही बंधा हुआ अथवा परिमित नहीं है; क्योंकि निरिन्द्रिय अर्थात्
भी वही है, और स्वप्न अवस्था में जिस समय स्थूल इन्द्रियाँ चेष्टा-शून्य होती हैं,
समय भी आत्मा इन्द्रियों के बिना ही सब प्रकार के विषयों का अनुभव करता है
और सुषुप्ति अवस्था में सब विषयों का अभाव होते हुए भी अपना-आप = आत्मा
ज्यों का त्यों रहता है; जाग्रत और स्वप्न अवस्था में सब गुणों और विषयों में बर्तता
हुआ भी आत्मा, किसी भी गुण और किसी भी विषय में बन्धा हुआ नहीं रहता,
सुषुप्ति अवस्था और मन की एकाग्रता एवं बुद्धि की साम्यावस्था में वह सब गुणों
और सब विषयों से रहित होता है, उन अवस्थाओं में जाग्रत और स्वप्न में किये हुए
अनुभवों का कोई प्रभाव नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि सबका अपना-आप = आत्मा
जाग्रत और स्वप्न में, गुणों और विषयों में बर्तता हुआ भी वास्तव में उन सबसे
अलिप्त रहता है। जिस तरह आकाश सब स्थानों में रहता हुआ भी, और उसमें सब
प्रकार के व्यवहार होते हुए भी वह निर्विकार रहता है, उसी तरह आत्मा सब गुणों
में बर्तता हुआ और सब-कुछ करता हुआ भी वास्तव में निर्विकार रहता है।

आत्मा ही सब-कुछ होने के कारण जगत् के अन्दर और बाहर वही ओत-प्रोत
...ा हुआ है; वही चेतन-रूप से चलता फिरता है, और वही अचेतन-रूप से अचल —
...ा हुआ है; सूक्ष्म विचार के बिना वह दूर से भी दूर प्रतीत होता है यानी अखिल
... को ढूंढ डालने पर भी उसका पता नहीं लगता और सूक्ष्म विचार करने पर
...सबके पास ही है, क्योंकि वह सबका अपना-आप है। वह एक ही अनेक
...प्रतीत होता है। जिस तरह समुद्र की लहरों की उत्पत्ति स्थिति और लय
...में ही होते हैं उसी तरह अखिल विश्व की उत्पत्ति स्थिति और लय भी आत्मा
...ते हैं। सूर्य चन्द्र, तारे अग्नि आदि जितने भी प्रकाशवान पदार्थ हैं वे सब
...आप = आत्मा ही से प्रकाशित होते हैं अपने व्यापक प्रकाश अर्थात ज्ञान
... तथा दूसरे पदार्थों के प्रकाश का ज्ञान होता है स्वप्न अवस्था में जब बाहरी
...ई भी नहीं होते तब भी वही उजाला रहता है मन आत्मा

पुरुष रूप से करते हैं। सांख्य वाले प्रकृति और पुरुष दोनों को वस्तुतः स्वतन्त्र एवं भिन्न-भिन्न मानते हैं, तथा दोनों के एकत्व-भाव = ब्रह्म अथवा आत्मा अथवा परमात्मा को नहीं मानते; परन्तु वेदान्त-सिद्धान्तानुसार ये दोनों एक ही आत्मा अथवा परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना के दो भाव हैं:—एक परिवर्तनशील असत् जड़ भाव है, और दूसरा अपरिवर्तनशील सत् चेतन भाव है। इस अन्तर को छोड़ कर इन दोनों भावों, अर्थात् प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध के, तथा प्रकृति के विस्तार के विषय के जो विचार सांख्य-दर्शन के हैं, वे वेदान्त को भी मान्य हैं। इसलिए सांख्य की परिभाषा में प्रकृति-पुरुष सम्बन्धी विचारों का आगे के श्लोकों में वर्णन किया गया है, और साथ ही वेदान्त के अद्वैत-सिद्धान्त को भी ज्यों का त्यों कायम रखा है।

> प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
> विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥
> कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
> पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥
> पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
> कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥
> उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
> परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥
> य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
> सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष दोनों ही को अनादि जान, और विकार एवं गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुए जान। तात्पर्य यह कि सांख्य-मतानुसार प्रकृति और पुरुष दोनों स्वतन्त्र रूप से अनादि हैं; और वेदान्त-सिद्धान्तानुसार ये दोनों सबके आत्मा = परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना के दो भाव हैं, इसलिए इनका कोई आदि नहीं कहा जा सकता, इस प्रकार ये दोनों ही अनादि हैं, और राग-द्वेष सुख-दुःख, उपजना मिटना घटना बढ़ना एवं बदलना आदि विकार तथा तीन गुणों का विकास प्रकृति से होता है (१९)। कार्य और कारण के कर्तापन में हेतु प्रकृति कहा जाता है और पुरुष सुख-दुःख के भोक्तापन का हेतु कहा जाता है। तात्पर्य यह कि कार्य कारण का उत्पन्न का आरम्भ

प्रकृति से होता है, और प्रकृति सब ही का रहता है; अथवा कार्य-रूप शरीर और कारण-रूप पंच महाभूत तथा तीन गुण (जड़) प्रकृति के बनाए हैं; और सुख-दुःख की वेदनाओं की प्रतीति का कारण पुरुष की चेतनता है (२०)। प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है, इसलिए गुणसंग अर्थात् प्रकृति के गुणों का यह सम्बन्ध ही पुरुष के अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। तात्पर्य यह कि पांच तत्त्व और तीन गुणों वाली प्रकृति के बनाए-रूप शरीरों में अहंभाव करके, अपने को शरीर मान कर पुरुष प्रकृति के गुणों को भोगता है, और जिस गुण में विशेष आसक्ति करता है, उसीके अनुसार शरीर धारण करता है (२१)। उपद्रष्टा अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि की चेष्टाओं का अनुभव करने वाला—ज्ञाता अथवा साक्षी; अनुमन्ता अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियादि को उनके व्यापारों में अनुमति देने वाला—उनका प्रेरक अथवा सहायक; भर्ता अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण तथा इन्द्रियों आदि के संघात-रूप शरीर को सत्ता एवं चेतना युक्त करने वाला; भोक्ता अर्थात् मन-रूप होकर इन्द्रियादिकों के द्वारा विषयों को भोगने वाला; महेश्वर अर्थात् व्यष्टि-भाव से शरीर का और समष्टि-भाव से सारे विश्व का स्वामी एवं शासक—इस शरीर में रहने वाला पुरुष, (प्रकृति से) परे और परमात्मा भी कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इस शरीर में जो चेतन पुरुष अर्थात् व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा रहता है, वह सब प्रकृति से परे है; क्योंकि प्रकृति निरन्तर बदलती रहती है, इसलिए वह क्षर है परन्तु पुरुष सदा एक-सा बना रहने के कारण अक्षर है, इसलिए उसे पर-पुरुष कहते हैं। वह पर-पुरुष व्यष्टि-भाव से शरीर के अन्दर रहता हुआ, शरीर की पृथक्-पृथक् चेष्टाओं का ज्ञान अर्थात् अनुभव रखता हुआ, तथा सब चेष्टाएं करवाता हुआ और सब प्रकार के भोग भोगता हुआ एवं इन्द्रियों पर शासन करता हुआ भी वास्तव में समष्टि-आत्मा = परमात्मा स्वरूप ही है अर्थात् प्रत्येक देह में स्थित पुरुष अथवा जीवात्मा और सबका आत्मा = परमात्मा में कोई भेद नहीं है—वस्तुतः वे एक ही हैं (२२)। जो इस तरह पुरुष को और गुणों सहित प्रकृति को जानता है वह सब प्रकार से बर्तता हुआ अर्थात् जगत् के सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। तात्पर्य यह कि जो पुरुष ऊपर कहे अनुसार प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को और [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] रखता हुआ सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता है, वह [illegible] से [illegible] होता है और उसका [illegible] [illegible] के चक्कर में आना नहीं रहता (२३)।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

अर्थ – [illegible]

अवश्य ही मृत्यु को जीत लेते हैं। तात्पर्य यह कि सबकी एकता का आत्मानुभव प्राप्त करने के मार्ग, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न हैं। कई लोग पातञ्जल राज-योग के अवलम्बन से ध्यान में स्थित होकर अपने-आप ही में आत्मा अथवा परमात्मा का अनुभव करते हैं; कई लोग सूक्ष्म विचार से सत्यासत्य का अन्वेषण करके तत्त्वज्ञान द्वारा सबके एकत्व-भाव = आत्मा का अनुभव प्राप्त करते हैं; और कई लोग सबके साथ प्रेम रखते हुए अपने-अपने शरीरों की योग्यता के सांसारिक-व्यवहार निःस्वार्थभाव से लोक-संग्रह के लिए करने द्वारा सबकी एकता के आत्मानुभव में स्थित हो जाते हैं; परन्तु जिनकी उपरोक्त प्रकार से आत्मानुभव प्राप्त करने की योग्यता नहीं होती, वे लोग आत्मानुभवी महापुरुषों के वचनों में श्रद्धा-विश्वास करके, बारहवें अध्याय में किये हुए विधान के अनुसार सबके आत्मा-परमात्मा की उपासना करने द्वारा आत्मानुभव प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं (२४-२५)। हे भरत-श्रेष्ठ! जो कुछ स्थावर और जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से होते हैं, ऐसा जान। तात्पर्य यह कि स्थावर-जंगम अथवा जड़-चेतन-रूप जगत् के जितने बनाव बनते हैं, वे सब क्षेत्र अर्थात् प्रकृति और क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष के संयोग से बनते हैं (२६)। जो सब नाशवान भूतों में यानी जगत् में (सदा एक समान रहने वाले) सम (Same) अविनाशी परमेश्वर अर्थात् आत्मा को स्थित देखता है, वही देखता है। तात्पर्य यह कि जिसको जगत् के भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तनशील और विषम बनावों में एक, अपरिवर्तनशील एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा की सर्वव्यापकता का ज्ञान है, दूसरे शब्दों में जो इस नानाभावापन्न जगत् को एक, सत्य, नित्य एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा के परिवर्तनशील मायिक भावों का बनाव समझता है, वही सच्चा ज्ञानी है (२७)। *सम अर्थात् एक समान स्थित, ईश्वर अर्थात् आत्मा को सर्वत्र उसी सम-*भाव ही में देखने वाला (पुरुष) अपने-आप (आत्मा) की हत्या नहीं करता, (और) इससे (वह) परम गति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जो एक (One) और सम (Same) आत्मा अथवा परमात्मा की सबमें एक समान स्थिति होने के निश्चय-पूर्वक सबकी एकता (Unity) और समता ([illegible]) का ज्ञान रखता है, वह समदर्शी महापुरुष अपनी सब प्रकार की उन्नति करता हुआ परमात्म-भाव में स्थित होता है; परन्तु जो इसके विपरीत भिन्नता और विषमता के भावों को सच्चा मान कर एक अखण्ड, निर्विकार एवं सम आत्मा अथवा परमात्मा को अनेक विभागों वाला तथा विकारवान एवं विषम भावों वाला मानता है, वह सबमें रहने वाले आत्मा अथवा परमात्मा-स्वरूप अपने वास्तविक आपका तिरस्कार करने की

हत्या करके अधोगति को प्राप्त होता है (२८)। कर्म सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किये हुए होते हैं, और आत्मा अकर्ता है, जो इस प्रकार देखता है वही देखता है। तात्पर्य यह कि आत्मा के एक एवं सम होने के कारण उसमें कार्य-कारण का कोई भेद नहीं होता—ये भेद सब प्रकृति के कल्पित बनाव मात्र हैं; इसलिए कर्मों का कर्तापन अर्थात् कार्य-कारण-भाव प्रकृति तक ही रहता है, आत्मा सदा अकर्ता ही रहता है; जो इस रहस्य को ठीक-ठीक जान लेता है, वही यथार्थ-दर्शी अर्थात् सच्चा ज्ञानी होता है (२९)। जब भूतों के पृथक्ता के भावों को एकत्व-भाव में स्थित देखता है, और उस एकत्व-भाव ही से (जगत् की अनन्त प्रकार की भिन्नता का) विस्तार देखता है, तब ब्रह्म-स्वरूप होता है। तात्पर्य यह कि जब मनुष्य को जगत् की कल्पित पृथक्ता के भावों में सच्ची एकता, और उस सच्ची एकता ही से कल्पित पृथक्ता के भावों का फैलाव होने का निश्चय हो जाता है, दूसरे शब्दों में "अनेकों में एक और एक से अनेक" होने का जब यथार्थ अनुभव हो जाता है, तभी ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति होती है (३०)। हे कौन्तेय ! अनादि होने के कारण और निर्गुण होने के कारण, यह अव्यय अर्थात् निर्विकार परमात्मा शरीर में रहता हुआ भी, न (कुछ) करता है और न लिपायमान होता है (३१)। जिस तरह सूक्ष्म होने के कारण आकाश सबमें रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता, उसी तरह देह में आत्मा (सूक्ष्म-रूप से) सर्वत्र रहता हुआ भी लिपायमान नहीं होता (३२)। हे भारत ! जिस तरह एक सूर्य इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है, उसी तरह (एक) क्षेत्री (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र (शरीर एवं जगत्) को प्रकाशित करता है (३३)। श्लोक ३१ से ३३ तक का तात्पर्य यह है कि यद्यपि एक ही आत्मा अनेक रूपों में व्यक्त होता है, और उस एक ही आत्मा से अखिल विश्व का फैलाव होता है, परन्तु उस आत्मा का कोई आदि अथवा कारण नहीं है; और वह आत्मा सब-कुछ है, इसलिए गुण और गुणी का भेद न होने के कारण वह निर्गुण और निर्विकार है, और नाना शरीरों के रूप धारण करता हुआ भी कार्य-कारण का भेद न होने के कारण वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता; और उससे पृथक कुछ भी न होने के कारण वह किसी से लिपायमान अथवा बन्धायमान नहीं होता, किन्तु आकाश की तरह सदा निर्लिप्त रहता है और सूर्य की तरह सारे ब्रह्माण्ड को अपने सच्चिदानन्द भाव से प्रकाशित करता है (३१ से ३३)। जो इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को और भूतों के समुदाय-रूप जगत् के कारण—प्रकृति की असत्यता रूप माया को ज्ञान रूपी चक्षु से यथातथ्य जान लेते हैं, वे परमात्मा को पाते हैं। तात्पर्य यह कि जो पुरुष क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अथवा शरीर और

जीवात्मा अथवा प्रकृति और पुरुष के ऊपर कहे अनुसार कल्पित भेद और वास्तविक अभेद के रहस्य को तत्त्वतः जान लेते हैं, वे प्रकृति और उसके सब विस्तार को अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा का मायिक अतः मिथ्या बनाव मात्र समझते हैं; और मिथ्या बनाव में प्रतीत होने वाले बन्धन भी मिथ्या ही होते हैं, इसलिए जिनको यह निश्चित ज्ञान हो जाता है, वे अपने को सदा मुक्त ही अनुभव करते हैं; अतः वे परमपद=परमात्म-भाव में स्थित हो जाते हैं (३४)।

स्पष्टीकरण—यह बात पहले कह आये हैं कि गीता किसी भी मत का तिरस्कार नहीं करती, किन्तु जिस मत की जहाँ तक पहुँच होती है, उसको वहाँ तक स्वीकार करती हुई उसमें जो त्रुटि होती है, उसे पूरा कर देती है। जड़ और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर और जगत्, अथवा पिण्ड और ब्रह्माण्ड के विषय के तात्त्विक विवेचन में सांख्य-दर्शन—वेदान्त-दर्शन के सिवाय—अन्य सब दर्शनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। उसने भिन्नता के सब भावों का एकीकरण करके जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष, इन दो मूल तत्त्वों में सबका समावेश कर दिया। परन्तु इससे आगे बढ़कर इन दो तत्त्वों का एकीकरण उसने नहीं किया। इस कमी को वेदान्त-दर्शन ने पूरी की, अर्थात् उसने जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का समावेश, सबके अपने-आप=आत्मा अथवा परमात्मा में कर दिया।

सांख्य-दर्शन जड़ प्रकृति को सत्त्व, रज और तम भेद से तीन गुणों की जननी, तथा नाना प्रकार के विकारों एवं कार्य-कारण भाव का प्रसार करने वाली मानता है; और पुरुष को चेतन, निर्गुण, निर्विकार, कार्य-कारण भावों से रहित और साथ ही प्रकृति के गुणों का भोक्ता मानता है; क्योंकि प्रकृति जड़ है, इस कारण उसमें स्वयं भोक्तापन बन नहीं सकता। सांख्य के मतानुसार पुरुष स्वयं निर्गुण और निर्विकार होता हुआ भी प्रकृति के गुणों का संग करके उनमें उलझ कर अपने को सुखी-दुःखी मानता है, तथा जिस गुण में विशेष आसक्ति करता है, उसी के अनुसार ऊँची-नीची योनियों के शरीर धारण करता है। यहाँ तक सांख्य-दर्शन का मत वेदान्त-दर्शन को भी मान्य है। परन्तु सांख्य-दर्शन का यह भी सिद्धान्त है कि प्रकृति और पुरुष दोनों वस्तुतः अलग-अलग स्वतन्त्र दोनों एक समान सत् और दोनों स्वतन्त्र रूप से अनादि हैं तथा जड़ प्रकृति में चेतन पुरुष के सान्निध्य से क्रिया उत्पन्न होती है जिससे वह क्रियाशील होकर अपने गुणों के द्वारा जगत् का पसारा करती है और उस पसारे में पुरुष को मोहित करके फँसाती है, परन्तु पुरुष जब प्रकृति से इस जाल से अलग होकर अपना स्वरूप जान लेता है तब कैवल्य-पद-रूप मोक्ष पा

लेता है। सांख्य का यह द्वैत-सिद्धान्त वेदान्त को मान्य नहीं है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि सबका अपना-आप = आत्मा अथवा परमात्मा अथवा ब्रह्म, अपनी इच्छा अथवा कल्पना से एक तरफ़ निरन्तर बदलते रहने वाली जड़ प्रकृति-रूप होकर, उसके द्वारा जगत् के नाना प्रकार के मायिक बनाव करता है, और दूसरी तरफ़ अपने सत् चित् भाव से पुरुष अर्थात् जीव-रूप होकर उस मायिक बनाव को धारण करता है तथा उसे चेतना युक्त करता है। जड़ प्रकृति परिवर्तनशील, उपजने-मिटने तथा घटने-बढ़ने आदि विकारों वाली होने के कारण मिथ्या अर्थात् असत् है, और चेतन पुरुष अथवा जीवात्मा, परमात्मा का सत्-चित् भाव है, इसलिए वह सदा एक समान बना रहने वाला नित्य एवं निर्विकार सत् है। व्यष्टि भावापन्न आत्मा अथवा जीवात्मा जब तक अपने समष्टि भाव की कल्पना रूप प्रकृति के मायिक बनाव को सच्चा मान कर उसमें तादात्म्य सम्बन्ध रखता है, अर्थात् अपने को प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होने वाला सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर मानता है, तब तक अपने को सुखी-दुःखी आदि विकारों युक्त मानता है, तथा गुणों के सम्बन्ध के अनुसार नाना योनियों के शरीर धारण करता है, परन्तु जब उक्त प्रकृति को अपनी ही कल्पना का खेल समझ कर अपने को उस खेल का आधार, उसको सत्ता देने वाला तथा उसे चेतना युक्त करने वाला अनुभव कर लेता है, तब उसे कोई सुख-दुःख नहीं होता, न उसके लिए विवशता से किसी योनि में शरीर धारण करना ही शेष रहता है। वह अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव करके सबकी एकता-स्वरूप परमात्म भाव में स्थित हो जाता है। अपने यथार्थ स्वरूप के अनुभव के लिए उसको किसी से अलग होने या किसी को छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि छोड़ने के लिए उससे वस्तुतः भिन्न दूसरा कुछ होता ही नहीं।

अस्तु, इस विषय में सांख्य का मत जहाँ तक अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त के अनुकूल पड़ता है, उसे ग्रहण करके उसमें जो त्रुटि है, उसे अद्वैत वेदान्त सिद्धान्तानुसार पूरा करते हुए भगवान् इन दोनों अनादि तत्त्वों का इस प्रकार वर्णन करते हैं कि सबका अपना-आप एक [illegible] अथवा परमात्मा अपनी इच्छा अथवा कल्पना [illegible] [illegible]

यह नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक समय में उत्पन्न हुए। कारण यह है कि अनादि आत्मा की इच्छा का यह खेल, काल में सीमाबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि काल स्वयं उसकी (अपरा) प्रकृति से उत्पन्न होता है। परमात्मा की परा-प्रकृति-रूप पुरुष की सत्ता से (अपरा) प्रकृति द्वारा उत्पन्न सत्व, रज और तम भेद से तीनों गुणों की कमी-बेशी के तारतम्य-रूप गुण-वैचित्र्य से जगत् के नाना प्रकार के बनाव बनते हैं; और प्रकृति के उक्त गुण-वैचित्र्य ही से कार्य-कारण-भाव, अर्थात् अमुक कारण से अमुक कार्य हुआ—यह भाव होता है; तथा इसीसे जगत् के अनन्त प्रकार के भेद एवं विकार उत्पन्न होते हैं। परा प्रकृति-रूप चेतन पुरुष, अपरा अर्थात् प्रकृति के गुणों का संग करके, अर्थात् उसके साथ तद्रूप होकर, अपने को गुणों से युक्त मान कर, नाना प्रकार के शरीर धारण करके उक्त गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न नाना प्रकार के भोग भोगता है। सत्त्वगुण में विशेष आसक्त होकर वह सात्विक शरीर धारण करता है, रजोगुण में विशेष आसक्त होकर राजस शरीर और तमोगुण में विशेष आसक्त होकर तामस शरीर धारण करता है; तथा अपने-आपको सुखी-दुखी, विकारवान् एवं बन्धनयुक्त अनुभव करता है। प्रकृति में जो कुछ क्रियाएँ होती हैं वे चेतन पुरुष की सत्ता से होती हैं, क्योंकि चेतन के बिना जड़ प्रकृति अकेली कुछ भी नहीं कर सकती। अतः जगत् का सारा बनाव प्रकृति और पुरुष के संयोग से बनता है। क्षेत्रज्ञ-रूप पुरुष, क्षेत्र-रूप सब शरीरों में रहता हुआ, बुद्धि-रूप से शरीरों का ज्ञाता अथवा द्रष्टा होता है; अपनी चेतनता से शरीर के अंगों को चेतना युक्त रखता है; अपनी एकता से भिन्न-भिन्न अंगों को एकता के सूत्र में पिरोये हुए रखता है; मनरूप से सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषय भोगने की शक्ति से युक्त करता है; और स्वामीभाव से सबको प्रेरणा देता है और सब पर शासन करता है। जिस प्रकार बिजली के प्रवाह (Current) से अनेक प्रकार के कार्य होते हैं—लेम्पों से रोशनी होती है, पंखों से हवा चलती है, मोटरों से अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे होते हैं, इत्यादि; यद्यपि कार्य भिन्न-भिन्न औज़ारों अथवा उपकरणों द्वारा होते हैं, परन्तु उन सबमें शक्ति बिजली के प्रवाह (Current) की होती है, उसी तरह चेतन पुरुष की सत्ता से जड़ प्रकृति के अवयवों द्वारा जगत् के सब कार्य होते हैं। सब शरीरों में रहने वाला वह चेतन पुरुष सबका अपना-आप अर्थात् परमात्मा है और वह एक ही अनेक रूपों में विभक्त होता है, यथा वह [illegible]

[illegible]

के सुखी-दुखी होने से वह सुखी-दुखी नहीं होता; शरीरों की उत्पत्ति से वह उत्पन्न नहीं होता और शरीरों के नाश से वह नष्ट नहीं होता; तथा शरीरों के घटने-बढ़ने से उसमें कोई घटा-बढ़ी नहीं होती—वह सदा सम और निर्विकार रहता है। वह जगत् के सब प्रकार के व्यवहारों को सूर्य की तरह समान रूप से प्रकाशित करता है, यानी जगत् की प्रतीति उसीसे होती है; और जगत् के अनन्त प्रकार के बनावों के बनते एवं बिगड़ते रहने पर भी वह आकाश की तरह अलिप्त और एक-सा—सम बना रहता है।

सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा की एकता, नित्यता, सत्यता एवं पूर्ण समता का इस प्रकार का अनुभव, कई लोगों को ध्यान-योग अर्थात् पातञ्जल राज-योग के अभ्यास द्वारा चित्त को एकाग्र करने से होता है; कई लोगों को बुद्धि द्वारा तात्त्विक विचार करने से होता है; और कई लोगों को निस्स्वार्थ-भाव से लोक-सेवा के कर्म करने से होता है। इस तरह अपनी-अपनी योग्यता के अभ्यास करने से अन्तःकरण की द्वैत-भाव-रूपी मलिनता दूर हो जाने पर अपने-आपमें सबकी एकता एवं समता का अनुभव शेष रह जाता है। इन तीन साधनों से आत्मानुभव प्राप्त करने की जिनकी योग्यता नहीं होती, वे श्रद्धापूर्वक सबके आत्मा = परमात्मा की एकता अथवा सर्वव्यापकता एवं समता के उपदेशादि सुन कर परमात्मा की उपासना द्वारा आत्मा-परमात्मा तथा अखिल विश्व की एकता का अनुभव प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं।

जिनको ऊपर कहे अनुसार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा प्रकृति-पुरुष, जगत्-जगदीश्वर और जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होकर सबकी एकता के साम्य-भाव का अनुभव हो जाता है, अर्थात् जिनको यह निश्चय हो जाता है कि जगत् में पृथक्ता और विषमता के जितने भाव हैं, वे सबके अपने-आप, सबके आत्मा = परमात्मा की करतना-रूप प्रकृति के मायिक बनाव मात्र हैं, अतः वे असत् हैं, और उन नाना असत् मायिक बनावों में जो एक, सत् एवं सम भाव है, वह सबका आधार, सबका प्रेरक एवं सबका स्वामी है और वह सबका अपना-आप = आत्मा है—वे समत्वयोगी संसार के सब प्रकार के व्यवहार सबके साथ यथायोग्य अनासक्त साम्य-भाव से स्वतन्त्रता पूर्वक करते हुए सब प्रकार की उन्नति करते हैं, और वे ही अपने-आपके उद्धारकर्ता अर्थात् स्वयं परब्रह्म-परमात्म-स्वरूप होते हैं (ईशोपनिषद् मं० १-२ और ६-७); और जो लोग इसके विपरीत अपने-आपको दूसरों से पृथक्, एक क्षुद्र एवं दीन हीन जीव अथवा व्यक्ति मानते हैं, और पृथक्ता के विरोध अल्प-तुच्छ दूसरों के साथ राग-द्वेष, घृणा-तिरस्कार आदि विषमता के व्यवहार करते

हैं, वे किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकते, किन्तु सदा अज्ञान-अन्धकार में पड़े हुए उत्तरोत्तर अपना पतन करते हैं, अतः वे आत्म-हत्यारे होते हैं (ईशोपनिषद् मं० ३), और नाना प्रकार के क्लेशों से परिपूर्ण दीनता के भावों के दल-दल में फँसे रहते हैं। मनुष्य आप ही अपना उद्धार करने वाला और आप ही अपना पतन करने वाला है। अतः जिनको उक्त आत्म-घात से बच कर अपना उद्धार करना हो, उनको उक्त "एक में अनेक और अनेकों में एक" के तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करके, उसके आधार पर अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबके साथ एकता के साम्य-भाव से करने-रूपी समत्व-योग में स्थित होना चाहिए।

॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥

चौदहवाँ अध्याय

तेरहवें अध्याय में प्रकृति-पुरुष के वर्णन में भगवान् ने कहा था कि गुण, विकार और कार्य-कारण-भावों की उत्पत्ति प्रकृति से होती है, और पुरुष प्रकृति के गुणों के संग से सुख-दुःख आदि भोगता है और ऊँच-नीच शरीर धारण करता है। अब इस चौदहवें अध्याय में पहले इस बात की पुष्टि करके कि प्रकृति और पुरुष मुक्त (सबके आत्मा = परमात्मा) से भिन्न नहीं हैं, फिर प्रकृति के फैलाव और उसके गुणों के संग से पुरुष अपने को किस तरह सुखी-दुखी, बद्ध-मुक्त तथा उन्नत-अवनत मानता है, और किस तरह उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट शरीर धारण करता है, उसका विस्तार-पूर्वक खुलासा करके, अन्त में गुणों की उलझन से ऊपर रहने वाले गुणातीत जीवन्मुक्त समत्वयोगी की स्थिति का वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ ६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ॥
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १६ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि (सब) ज्ञानों में परम उत्तम ज्ञान फिर से कहता हूँ, जिसे जान कर सब मुनि लोग यहाँ से परम सिद्धि पा गये। तात्पर्य यह कि भगवान् कहते हैं कि हमने पहले के अध्यायों में जिस परम उत्तम ज्ञान का वर्णन किया था, उसको फिर से विस्तार-पूर्वक समझाता कहता हूँ। इसी ज्ञान को प्राप्त करके विचारशील लोग मुक्त हुए हैं (१)। इस ज्ञान के अवलम्बन

से मेरे साथ एकत्व-भाव को प्राप्त होकर (मनुष्य) संसार में तो जन्मते हैं और न मरण की व्यथा से पीड़ित होते हैं। तात्पर्य यह कि इस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य—परमात्म-स्वरूप हो जाता है, फिर उसे विवशता पूर्वक जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ता (२)। हे भारत! महद्-ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है, जिसमें मैं गर्भ रखता हूँ, उससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि मैं अपने चैतन्य अथवा चेतन पुरुष भाव से क्षेत्र-रूप अपनी जड़ प्रकृति में चेतना अथवा स्फुरणा-रूप बीज डालता हूँ, जिससे, अर्थात् उस जड़-चेतन के संयोग से जगत् के नाना प्रकार के भौतिक बनाव बनते हैं (३)। हे कौन्तेय! सब योनियों में जो-जो नाना रूपों वाले बनाव अथवा शरीर उत्पन्न होते हैं उनकी प्रकृति माता है और मैं बीज देने वाला पिता हूँ। तात्पर्य यह कि जगत् के जो अनन्त प्रकार के बनाव बनते हैं उन सबको, मेरे सत्-चित्-भाव की सत्ता, चेतना एवं स्फुरणा-रूप बीज को धारण करके, मेरी जड़ प्रकृति उत्पन्न करती है (४)। हे महाबाहो! प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम ये गुण देह में अविकारी देही अर्थात् जीवात्मा को बांधते हैं। तात्पर्य यह कि प्रकृति और पुरुष के उपरोक्त संयोग से जो-जो बनाव बनते हैं, उनमें जो प्रकृति का जड़-भाव है, वह विकार वाला है, और जो पुरुष का चेतन-भाव है, वह वस्तुतः अविकारी है, परन्तु प्रकृति के सत्व, रज और तम भेद वाले तीन गुण, इस अविकारी चेतन पुरुष को नाना रूपों वाले शरीरों में उलझाते हैं (५)। हे अनघ! उनमें से निर्मल (स्वच्छ) होने के कारण प्रकाशवान् और सुख-रूप सत्वगुण, सुख के संग से और ज्ञान के संग से (जीवात्मा को) बांधता है। तात्पर्य यह कि उस सात्विक [illegible]

है (८)। हे भारत ! सत्त्वगुण सुख में जोड़ता है, रजोगुण कर्म में (प्रवृत्ति कराता है), और तमोगुण ज्ञान को ढाँक कर प्रमाद अर्थात् मूढ़ता में जोड़ता है। तात्पर्य यह कि देहधारियों को सत्त्वगुण सुख का उपभोग कराने वाला, रजोगुण *क्रियाशील रखने वाला और तमोगुण विचारशून्य* एवं मूढ़ बनाये रखने वाला है (९)। हे भारत ! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण की प्रधानता होती है; सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण की; एवं सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण की प्रधानता होती है। तात्पर्य यह कि शरीर में जब कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, तब रजोगुण और तमोगुण दबे हुए रहते हैं, जब रजोगुण की प्रधानता होती है, तब सत्त्वगुण और तमोगुण दबे हुए रहते हैं, और जब तमोगुण की प्रधानता होती है, तब सत्त्वगुण और रजोगुण दबे हुए रहते हैं (१०)। इस देह के सब द्वारों में जब ज्ञान-रूप प्रकाश उत्पन्न होता है, तब जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है। तात्पर्य यह कि जब शरीर में सत्त्वगुण बढ़ा हुआ होता है तब बुद्धि, मन एवं ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है (११)। हे भरतश्रेष्ठ ! लोभ, कर्मों में प्रवृत्ति अर्थात् निरन्तर क्रियाशील रहना, आरम्भ अर्थात् नित-नये आडम्बर रचने के मनसूबे बाँधना, कर्म करने में सन्तोष न होना और विषयों तथा पदार्थों की चाह बनी रहना—ये रजोगुण की वृद्धि में होते हैं। तात्पर्य यह कि जब शरीर में रजोगुण बढ़ा हुआ होता है, तब सांसारिक विषयों और पदार्थों की प्राप्ति का लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, निरन्तर कर्म करते रहने की प्रवृत्ति होती है, नित-नये बखेड़े खड़े करने के संकल्प उठते रहते हैं, काम करने में कभी तृप्ति नहीं होती और चाहनाएँ लगातार एक दूसरे के बाद उत्पन्न होती रहती हैं (१२)। हे कुरुनन्दन ! अप्रकाश अर्थात् अज्ञान, अकर्मण्यता, मूढ़ता और मोह—ये तमोगुण के बढ़ने से उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह कि जब शरीर में तमोगुण बढ़ा हुआ होता है, तब अन्तःकरण और इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, *आलस्य से निकम्मे रहने, विवेकशून्यता* अर्थात् कुछ भी विचार न करने अथवा असावधानी और मोह की दशा रहती है (१३)। जब सत्त्वगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय देहधारी (जीवात्मा) शरीर छोड़ता है तो उसे उत्तम विचारवालों के निर्मल लोक प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह कि जिस समय शरीर में सत्त्वगुण की प्रबलता होती है, उस समय जिसका शरीर छूटता है वह पुण्यात्मा ज्ञानी लोगों के कुल अथवा समाज में दूसरा जन्म लेता है (१४)। रजोगुण (की प्रबलता) में शरीर छोड़ने वाला कर्मों में आसक्त रहने वाले लोगों में जन्म लेता है, और तमोगुण (की प्रबलता) में शरीर छोड़ने वाला मूढ़ योनियों

में जन्म लेता है। तात्पर्य यह कि जब शरीर में रजोगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय शरीर छूटने पर, जो लोग रात-दिन कर्मों में लगे रहते हैं, उनके घर में दूसरा जन्म होता है; और जिस समय तमोगुण बढ़ा हुआ होता है, उस समय मरने से पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि ज्ञान-शून्य मूढ़ योनियों में जन्म होता है (१५)। सुकृत अर्थात् सात्विक कर्म का फल सात्विक, निर्मल (सुख-रूप) कहा गया है, और राजस कर्म का फल दुःख, (तथा) तामस कर्म का फल अज्ञान कहा गया है। तात्पर्य यह कि जो लोग सात्विक कर्म करते हैं, वे सुखी होते हैं; राजस कर्म करने वालों को दुःख होता है और तामस कर्म करने वाले अज्ञान में ही पड़े रहते हैं (१६)। सत्वगुण से ज्ञान होता है, रजोगुण से लोभ आदि होते हैं और तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं (१७)। सत्वगुण-प्रधान लोग ऊपर को जाते हैं, रजोगुणी बीच में ठहरते हैं, (और) निकृष्ट गुण की वृत्ति वाले तामसी लोग नीचे को जाते हैं। तात्पर्य यह कि जिनमें सत्वगुण की प्रधानता होती है वे उन्नत होते हैं और तमोगुण की प्रधानतावालों का अधःपतन होता है, तथा रजोगुण की प्रधानता वालों की स्थिति इन दोनों के बीच में रहती है (१८)। जब द्रष्टा पुरुष गुणों के सिवाय और किसी को कर्ता नहीं देखता, और (अपने-आप = आत्मा को) गुणों से परे जानता है, तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि विवेकी पुरुष जब यह अनुभव कर लेता है कि जगत् का सारा खेल तीन गुणों के परस्पर में बर्तने से ही होता है, और अपने-आप = आत्मा को गुणों से ऊपर, गुणों का द्रष्टा, उनका आधार एवं उनका स्वामी समझता है, तब वह परमात्म-स्वरूप हो जाता है (१९)। देह की उत्पत्ति कराने वाले इन तीन गुणों से अतीत होने पर देही अर्थात् पुरुष जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों से मुक्त होकर, अमृत अर्थात् अक्षय-आनन्द को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि शरीरों की उत्पत्ति के कारण प्रकृति के तीन गुण ही हैं अर्थात् तीन गुणों के परस्पर गुथन की विचित्रता से नाना प्रकार के शरीर होते हैं, अतः जो पुरुष इन तीन गुणों का अतिक्रमण कर जाता है उस पर शरीर के जन्मने, मरने, बुढ़ापे और रोगादि से ग्रस्त होने के दुःखों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता—वह इन दुःखों से अलिप्त एवं अविचलित रहता है, और वह परमानन्द-परमात्म-स्वरूप हो जाता है (२०)

अर्जुन बोला कि हे प्रभो! इन तीन गुणों से अतीत पुरुष के क्या-क्या लक्षण होते हैं? उसके आचरण कैसे होते हैं? और वह इन तीन गुणों से परे कैसे रहता है? तात्पर्य यह कि भगवान् ने जब यह कहा कि सब कर्म प्रकृति के तीन गुणों में ही होते हैं और शरीर के कारण भी उक्त तीन गुण ही हैं—गुणों के बिना

कुछ भी नहीं होता; और जो पुरुष इन गुणों से परे होता है, वही मुक्त होता है, तब यह शङ्का अवश्य उठती है कि, जब कि गुणों के बिना न तो शरीर रहता है और न कुछ व्यवहार ही होते हैं, तो गुणातीत अर्थात् गुणों से रहित हो जाने वाले पुरुष का शरीर कैसे रहता है और वह आचरण किस तरह करता है ? दूसरे शब्दों में शरीर के रहते मनुष्य गुणातीत अर्थात् गुणों से रहित कैसे हो सकता है ? तथा उस गुणातीत पुरुष की पहचान कैसे हो ? क्योंकि पहचानने के लिए चिन्ह भी गुणों से ही होते हैं। अर्जुन के प्रश्न का यही आशय है, जिसके उत्तर में भगवान् इस विषय का आगे खुलासा करते हैं (२१)। श्री भगवान् बोले कि प्रकाशरूप सत्त्वगुण, प्रवृत्तिरूप रजोगुण और मोहरूप तमोगुण के प्राप्त होने पर जो उनमें द्वेष नहीं करता, और उनकी निवृत्ति की इच्छा नहीं रखता; उदासीन की तरह स्थित हुआ जो गुणों से विचलित नहीं होता; "गुण ही गुणों में वर्तते हैं" यह समझ कर जो अविचल रूप से स्थिर रहता है; जो सुख-दुःख में सम अर्थात् एक समान अविचलित रहने वाला; अपने-आपमें मस्त; मिट्टी, पत्थर, सोने तथा प्रिय और अप्रिय को समान जानने वाला; धैर्य से युक्त; और अपनी निन्दा-स्तुति, मान-अपमान तथा शत्रु मित्र के विषय में एक समान रहने वाला; एवं सब आडम्बरों का परित्याग करने वाला है—वह गुणातीत कहलाता है। तात्पर्य यह कि अर्जुन की उपरोक्त शङ्का का समाधान करने के लिए भगवान् कहते हैं कि गुणातीत होने का अभिप्राय गुणों से सर्वथा अलग होकर निर्गुण होने का नहीं है, किन्तु गुणों से ऊपर उठ कर उनमें उलझे बिना, उनके स्वामी-भाव से उनको अपने आधीन रखते हुए उनके द्वारा जगत् के व्यवहार करने का है। जो इस प्रकार गुणों से परे अथवा गुणातीत होता है, वह न तो किसी गुण से और न गुणों के कार्य अथवा विस्तार से द्वेष करता है, और न उसे उनसे निवृत्त होने की ही इच्छा रहती है, क्योंकि वह गुणों और उनके विस्तार को अपनी ही कल्पना का खेल समझता है, इसलिए उसे उनसे कोई बाधा नहीं होती अतः वह तीनों गुणों में यथायोग्य वर्तता हुआ भी निःशङ्क एवं अविचलित रहता है। गुण-वैचित्र्य से उत्पन्न होने वाले जितने भी द्वन्द्व भाव—सुख-दुःख, अनुकूल प्रतिकूल, उत्कृष्ट निकृष्ट, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान अपमान, शत्रु मित्र आदि होते हैं, उनके विषय में उसका अन्तःकरण सम है*

* द्वन्द्वों में सम रहने का खुलासा छठे अध्याय के श्लोक ७ से ९ तक तथा बारहवें अध्याय में "समता" के स्पष्टीकरण में देखिए।

बना रहता है। किसी भी प्रकार की अनुकूलता-प्रतिकूलता में उसका धैर्य नहीं टूटता; क्योंकि उसको यह अनुभव रहता है कि यह सब गुणों की विचित्रता के खेल के सिवाय और कुछ नहीं है। इन गुण-वैचित्र्य के दिखावटी आडम्बरों में उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती (२२-२५)। और जो अनन्य-भाव के भक्ति-योग से मेरी उपासना करता है, वह इन गुणों से अतीत होकर ब्रह्म-रूप हो जाता है; क्योंकि अविनाशी एवं अविकारी ब्रह्म का, शाश्वत धर्म का और ऐकान्तिक सुख का आश्रय मैं ही हूँ। तात्पर्य यह कि सबके अन्दर "मैं" रूप से रहने वाले आत्मा अथवा परमात्मा के एकत्व-भाव की उपासना करने से मनुष्य स्वयं परमात्मा-स्वरूप हो जाता है, फिर उसके लिए गुणों का कोई विकार शेष नहीं रहता; क्योंकि "मैं" रूप से 'सबके अन्दर रहने वाला सबका आत्मा = परमात्मा सब प्रकार के विकारों से रहित ब्रह्म है; वही सबका आधार होने के कारण सबको धारण करने वाला धर्म है; और वही सदा आनन्द-रूप होने के कारण दुःखरहित पराकाष्ठा का सुख है। इन सबकी सिद्धि सबके अपने-आप = आत्मा से होती है (२६-२७)।

स्पष्टीकरण—तीन गुणों के पृथक्-पृथक् स्वभाव तथा उनके पृथक्-पृथक् कार्यों का वर्णन करने के पहले, भगवान् यह स्पष्ट कर देते हैं कि "मैं" सबका आत्मा ही अपनी इच्छा अथवा कल्पना से जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष-रूप होकर सारे ब्रह्माण्ड की रचना-रूप खेल करता हूँ। "मैं" सबका आत्मा अपने पुरुष-रूप पिता-भाव से प्रकृति-रूप माता-भाव में सृष्टि-रचना का स्फुरण-रूप बीज डाल कर जगत् का प्रसव करता हूँ, अर्थात् मेरे सत्-चित्-भाव-रूप पुरुष की सत्ता पाकर मेरी जड़ प्रकृति सत्त्व, रज और तम भेद से तीन गुणों को प्रसव करती है, जिनके परस्पर के गुंथन से अनन्त प्रकार के जगत् के बनाव बनते हैं, और पुरुष इन तीन गुणों के परस्पर के गुंथन से उत्पन्न होने वाले बनावों में उलझ कर अपने को सुखी-दुःखी आदि विकारों से युक्त मानता है। यद्यपि पुरुष मेरा सत्-चित्-भाव होने के कारण उसकी सत्ता ही से सब बनाव बनते हैं, इसलिए वस्तुतः वह इन गुणों का स्वामी होता है, परन्तु वह अपने स्वामी-भाव को भूल कर प्रकृति के गुणों के इन बनावों में ही तादात्म्य कर लेता है, अर्थात् अपने-आपको तीन गुणों का कोई विशेष बनाव यानी शरीर ही मान लेता है; अतः शरीर के साथ लगी हुई नाना प्रकार की उपाधियों के कारण अपने को सुखी, दुःखी, छोटा, बड़ा, धनी, गरीब, ऊँचा, नीचा आदि अनेक प्रकार के विकारों वाला तथा भाँति-भाँति के बन्धनों से बंधा हुआ अनुभव करता है। जिस तरह कोई राजा स्वप्न में अपने को एक अत्यन्त ही निर्बल,

निर्धन, विपद्ग्रस्त एवं भिखारी अनुभव करके दुखी होता है; उसी तरह पुरुष, अपने ही संकल्प से अपने को सुखी, दुखी आदि विकारों युक्त मान कर व्याकुल होता है। सत्त्वगुण प्रकाश अथवा ज्ञान-रूप है, अतः प्रत्येक वस्तु एवं विषय के ज्ञान, प्रकाश अथवा बोध होने का कारण सत्त्वगुण ही है—चाहे वह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा हो अथवा अन्तःकरण द्वारा; और वह ज्ञान ही सुख का जनक होता है, इसलिए सत्त्वगुण से ज्ञान और सुख होता है, और वह पुरुष को ज्ञान और सुख में उलझाता है। रजोगुण आकर्षण, क्रिया अथवा हलचल रूप है, इसलिए सब भूत प्राणियों एवं जगत् के पदार्थों का पारस्परिक खिंचाव अथवा प्रीति, तथा हलचल अर्थात् क्रियाशीलता रजोगुण से ही होती है, अतः रजोगुण पुरुष को जगत् के पदार्थों की प्रीति में और नाना प्रकार की क्रियाओं में उलझाता है। तमोगुण जड़ता, स्थिरता एवं अन्धकार रूप है, इसलिए उससे आलस्य, मूढ़ता, मोह, भूल, नींद, अकर्मण्यता, स्थिति-पालकता एवं विचार-शून्यता आदि होती हैं, अतः तमोगुण पुरुष को उपरोक्त मूढ़ता, आलस्य आदि में उलझाता है। यद्यपि पिण्ड और ब्रह्माण्ड-रूप जगत् त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव होने के कारण, इन तीनों में से किसी भी गुण का अभाव किसी भी दशा में नहीं होता—तीनों ही निरन्तर बने रहते हैं, परन्तु इनकी कमी-बेशी बनी रहती है, कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण की। जब एक गुण की प्रधानता होती है, तब दूसरे गुण उससे दबे हुए रहते हैं। जब शरीर में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, तब सब इन्द्रियों को अपने अपने विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है, अन्तःकरण में दूसरों के साथ एकता का प्रेम भाव होता है, बुद्धि में विवेक होता है, मन में शुभ संकल्प उठते हैं, चित्त में अच्छे संस्कारों की स्मृति होती है। जब रजोगुण की प्रधानता होती है, तब अन्तःकरण में दूसरों से पृथक्ता-जन्य राग-द्वेष के भावों की प्रबलता, कर्मों में प्रवृत्ति, पदार्थों के संग्रह का लोभ, तृष्णा और असंतोष उत्पन्न होते रहते हैं। और तमोगुण की प्रधानता में मूढ़ता, आलस्य, अकर्मण्यता, स्थिति-पालकता, निद्रा आदि दबाये रहते हैं। सत्त्वगुण की प्रधानता में यदि शरीर छूटता है तो दूसरा जन्म पुण्यवान् उत्तम विचारों वाले ज्ञानी पुरुषों के समाज में होता है। रजोगुण की प्रधानता में शरीर छूटने पर निरन्तर क्रियाशील रहने वाले अथवा कर्मों में आसक्ति रखने वाले लोगों के कुल अथवा समाज में दूसरा जन्म होता है; और तमोगुण की प्रधानता में शरीर छूटने पर जड़ पदार्थों के रूप में स्थिति होती है, अथवा पशु-पक्षी आदि विवेक शून्य योनियों में जन्म होता है। सात्त्विक कर्मों (गी० अ० १८ श्लो० २३) से सुख, राजस कर्मों (गी० अ० १८ श्लो० २४) से दुःख और तामस कर्मों (गी० अ० १८ श्लो० २५) से अज्ञान अथवा मूढ़ता उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह कि सत्त्वगुण ऊँचा उठाने वाला है, अतः वह सब

उपरोक्त गुणातीत अवस्था, सबके आत्मा=परमात्मा की अनन्य-भाव से उपासना करने से सहज ही प्राप्त होती है; क्योंकि मनुष्य जैसी उपासना करता है वैसा ही हो जाता है; अतः बारहवें अध्याय में विधान की हुई उपासना के अवलम्बन से, जब सारे भेद मिट कर सर्वत्र एकत्व-भाव का अनुभव हो जाता है, तब गुणों की पृथक्ता का समावेश "मैं" रूप से सबमें रहने वाले, सबके अपने-आप, सबके आत्मा=परमात्मा में हो जाता है। वह सबका अपना-आप सबका आत्मा=परमात्मा सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है, अतः वह सदा एक-सा बना रहता है; और वह सबका आधार है, अर्थात् सबकी सिद्धि अपने-आपसे होती है—अपने-आपके बिना किसी की सिद्धि नहीं होती। इसलिए सबकी एकता एवं सबके आधार, परमात्मा-स्वरूप अपने-आप=आत्मा के यथार्थ अनुभव की साक्षी स्थिति प्राप्त होने पर फिर गुणों का कोई बन्धन नहीं रहता।

॥ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥

अर्थ—श्री भगवान् बोले कि ऊपर की तरफ़ जड़, (और) नीचे की तरफ़ शाखावाले (संसार वृक्ष) को अश्वत्थ (और) अव्यय कहते हैं, (और) वेदों के मन्त्र जिस (संसार-वृक्ष) के पत्ते हैं, उसको जो (इस प्रकार) जानता है, वह वेद का जाननेवाला है। तात्पर्य यह कि संसार की उत्पत्ति सबके आत्मा = परमात्मा के संकल्प से होती है, और आत्मा अथवा परमात्मा सबके ऊपर है, इसलिए उस संसार वृक्ष का मूल ऊपर को और उसकी शाखाओं का फैलाव नीचे को कहा गया है; और उसके रूप निरन्तर बदलते रहते हैं, इसलिए उसे अश्वत्थ (कल तक जिसके रहने का भरोसा नहीं) कहते हैं; तथा प्रवाह-भाव में वह सदा बना ही रहता है, अर्थात् उसका प्रवाह कभी टूटता नहीं, इसलिए उसको अव्यय भी कहते हैं। कर्मकाण्डात्मक वेदादि-शास्त्रों ने संसार में अनेक प्रकार के सुख होने के वर्णन करके उसे बहुत ही शोभायमान बना रखा है, इसलिए वे उस संसार-वृक्ष के पत्ते कहे गये हैं, क्योंकि वृक्ष की शोभा पत्तों ही से होती है; जो इस प्रकार उस संसार-वृक्ष के रहस्य को जानता है वही सच्चा ज्ञानी है (१)। उस (संसार-वृक्ष) की शाखाएँ (सत्त्वादि) गुणों से बढ़ती हुई ऊपर और नीचे को फैल रही हैं; जिनमें (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-रूपी) विषयों के अङ्कुर निकल रहे हैं, और (उसकी) जड़ें नीचे को भी गहरी चली गई हैं, (वे) मनुष्य-लोक में कर्म के बन्धनों से बाँधने वाली हैं। तात्पर्य यह कि सात्त्विक, राजस और तामस भेद से ऊँची-नीची योनियों अथवा ऊँचे-नीचे के लोकों के रूप में उस संसार-वृक्ष की शाखाएँ सब-ओर फैली हुई हैं, और वे ऊँची-नीची योनियाँ अथवा ऊँचे और नीचे के लोक-रूपी शाखाएँ तीन गुणों के सुयान से पुष्ट हो रही हैं, और पाँच विषयों के संयोग से नये नये शरीर-रूपी अंकुर निकाल कर बढ़ रही हैं; तथा नाना प्रकार की वासना-रूपी उस संसार-वृक्ष की जड़ें नीचे की तरफ़ भी मज़बूती के साथ जम रही हैं, जिन (वासनाओं) के कारण मनुष्य कर्मों के बन्धनों से बन्धे रहते हैं (२)। यहाँ न तो इसके रूप का, न इसके अन्त का, न इसकी आदि का और न इसकी स्थिति का ही कुछ पता लगता है; अत्यन्त मज़बूती से जमी हुई जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को दृढ़ असंग शस्त्र से काट कर; फिर उस पद की खोज करना चाहिए, जिसमें गये हुए फिर नहीं लौटते; और ऐसी भावना करनी चाहिए कि जिस आदि पुरुष से (इस संसार-वृक्ष की) सदा से प्रवृत्ति चली आ रही है, उस ही को मैं प्राप्त हो रहा हूँ। तात्पर्य यह कि संसार-रूपी वृक्ष के नाना भाँति के कल्पित बनाव निरन्तर बदलते रहते हैं एक क्षण के-लिए भी एक-से नहीं रहते, तथा जिसकी जैसी कल्पना होती है, उसको वे उसी तरह प्रतीत होते हैं, इसलिए लौकिक ज्ञान के साधनों अर्थात् मन और इन्द्रियों द्वारा इसके यथार्थ स्वरूप का पता नहीं लग सकता; और यह भी नहीं जाना जा सकता

है। यह अपने-आपका यथार्थ अनुभव ही परम धाम है, जिसकी प्राप्ति होने पर फिर जगत् की भिन्नताओं के बनावों की उलझन नहीं होती (६)।

स्पष्टीकरण—सबके अपने-आप, सबके आत्मा = परमात्मा की इच्छा-शक्ति अथवा कल्पना के मायिक बनाव-रूप इस संसार का रहस्य भगवान् कल्पित वृक्ष का रूपक बाँध कर समझाते हैं। लौकिक (इन्द्रियगोचर) वृक्ष का बीज अथवा मूल नीचे होता है, और उसका धड़ तथा शाखाएँ ऊपर को होती हैं, परन्तु इस कल्पित अथवा मायिक वृक्ष का मूल ऊपर, और धड़ तथा शाखाएँ नीचे की तरफ़ कही गई हैं; जिसका भावार्थ यह है कि संसार का मूल कारण सबके आत्मा = परमात्मा की इच्छा अथवा कल्पना है, और परमात्मा सबसे ऊपर है, इसलिए संसार-रूपी वृक्ष का मूल ऊपर को कहा है; परमात्मा से ऊपर कुछ नहीं होता, जो कुछ होता है सो सब उससे नीचे ही होता है; इसलिए इस कल्पित वृक्ष का फैलाव नीचे की ओर कहा है। यदि इस कल्पित वृक्ष के रूपक को शरीर पर घटाया जाय तो प्रत्येक शरीर का आरम्भ चेतना-शक्ति के केन्द्र—सिर से होता है, और उसका पोषण भी सिर में स्थित मुख आदि ऊपर की इन्द्रियों द्वारा ही होता है; इसलिए मस्तक ही इसका मूल स्थान है। शरीर अथवा पिण्ड, ब्रह्माण्ड के एक छोटे-से मान का नमूना है, इसलिए जो व्यवस्था पिण्ड की है, वही ब्रह्माण्ड की है। संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है—कल क्या होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है, इसलिए इस वृक्ष का नाम अश्वत्थ रखा गया है, और इस कल्पित संसार के नाना भाँति के बनावों का प्रवाह निरन्तर चलता ही रहता है, कभी बंद नहीं होता, इसलिए एकत्व-भाव में इस वृक्ष को अव्यय अर्थात् अमर कहा है। वृक्ष के पत्ते होते हैं, जिनसे वह सुशोभित होता है, और पत्तों से ही वह सुरक्षित रहता है, अतः इस संसार-वृक्ष के वेदादि-शास्त्र पत्ते हैं, जो कि इसके विषय के नाना प्रकार के चित्ताकर्षक साहित्य से इसे शोभायमान बनाते हैं (गी० अ० २ श्लो० ४२) तथा इसमें जीवों को मोहित रख कर इसकी रक्षा करते हैं। जगत् में ऊँची-नीची नाना प्रकार की योनियाँ होती हैं, तथा स्वर्गादि लोक ऊपर की तरफ़ और पाताल आदि लोक नीचे की तरफ़ फैले हुए हैं; ये ही इस कल्पित वृक्ष की, ऊपर और नीचे फैली हुई डालियाँ कही गई हैं। जिस प्रकार जल के सींचने से वृक्ष पुष्ट होता है, उसी प्रकार तीन गुणों के विस्तार से सींचा जाकर यह संसार पुष्ट होता है। जिस प्रकार वृक्ष के नये नये अंकुर निकलने से वह बढ़ता है उसी प्रकार भूत प्राणियों के नाना प्रकार के विषय भोगों से शरीर उत्पन्न होते रहते हैं, जिनसे इस संसार की वृद्धि होती है। जिस तरह वृक्ष अपनी शाखाएँ नीचे की तरफ़ पसारता है और उनसे पृथ्वी में दूसरी

जड़ें जमाकर मज़बूत होता है, उसी तरह कल्पित संसार की जड़ें मनुष्यों की नाना प्रकार की वासनाओं से तथा उन वासनाओं युक्त कर्म करते रहने से दृढ़ता से गहरी जमी हुई हैं। आत्मा से भिन्न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व न होने के कारण आत्मज्ञान के बिना केवल लौकिक ज्ञान से इसका वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जाता—इसके भिन्न रूप की लौकिक दृष्टि से जाँच की जाय, वही कल्पित अतः मिथ्या सिद्ध होता है; इसलिए इसका कोई आदि, अन्त और मध्य भी नहीं जाना जा सकता। इस संसार वृक्ष को इस प्रकार कल्पित मानकर इसके नाना प्रकार के भिन्नता के भावों से प्रीति हटाकर, तथा अध्यात्म-विचार से व्यक्तित्व के अहंकार और ममत्व की आसक्ति तथा सांसारिक पदार्थों एवं विषयों की कामना से रहित होकर, जिसके संकल्प अथवा इच्छा से यह पसारा हुआ है, उस सबकी एकता-स्वरूप सबके आत्मा=परमात्मा के अनुभव-रूप परमपद में स्थित होना चाहिए। वह परमपद अपने-आपका अनुभव-रूप होने के कारण स्वतः प्रकाशित है—उसको प्रकाशित करने अथवा अनुभव कराने वाला दूसरा कोई नहीं है; और वह आँखों से देखने का, मन से कल्पना करने का तथा वाणी से कहने का विषय नहीं है। उस स्वप्रकाश अपने-आपके यथार्थ अनुभव-रूप परमपद में स्थित होने पर फिर इस जगत् के नाना प्रकार के कल्पित भावों का बन्धन नहीं रहता।

* * *

अब भगवान् इस कल्पित जगत् के मोह में उलझने वाले जीवात्मा के तथा परमात्मा के अलग-अलग स्वरूप का और दोनों की एकता का निरूपण करके फिर जीव, जगत् और ईश्वर—सबका समावेश अर्थात् सबकी एकता, सबके अपने आप=आत्मा अथवा परमात्मा अथवा पुरुषोत्तम में करके आत्मज्ञान के प्रकरण को समाप्त करते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

अर्थ—मेरा ही सनातन अंश जीव-लोक में जीव-भाव होकर, प्रकृति में रहने वाली, मन को आदि लेकर छः इन्द्रियों को खींच लेता है। ईश्वर, अर्थात् प्रकृति का स्वामी व्यष्टि-भावापन्न आत्मा (जीवात्मा), जिस शरीर को धारण करता है और जिसको छोड़ कर निकलता है, (उस समय) जिस तरह वायु (गन्ध वाले पदार्थों से) गन्ध को ले जाता है उसी तरह (यह) इनको अपने साथ ले जाता है। यह कान, आँख, त्वचा, जीभ,

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

अर्थ—मेरा ही सनातन अंश जीव-लोक में जीव-भाव होक[र] प्रकृति में रहने वाली, मन को आदि लेकर छः इन्द्रियों को खींच लेता है ईश्वर, अर्थात् प्रकृति का स्वामी व्यष्टि-भावापन्न आत्मा (जीवात्मा), जि[स] शरीर को धारण करता है और जिसको छोड़ कर निकलता है, (उस समय) जिस तरह वायु (गन्ध वाले पदार्थों से) गन्ध को ले जाता है उसी त[रह] (यह) इनको अपने साथ ले जाता है। यह जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, [रसना]

को पचाता हूँ (१४)। और मैं सबके हृदय में रहता हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथ
उनका अभाव होता है; और सब वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ; एवं वेदान्त का
कर्ता और वेदों के जानने वाला भी मैं ही हूँ (१५)। श्लोक १२ वें से १५ वें तक
का तात्पर्य यह है कि ७ वें से ११ वें श्लोक तक व्यष्टि-जीव-भाव का स्वरूप कह कर
इन श्लोकों में भगवान् अपने समष्टि—ईश्वर अथवा परमात्म-भाव का वर्णन करते
हैं कि विराट और ब्रह्माण्ड-रूप से जो भी कुछ संसार है, वह "मैं" रूप से सबके
अन्दर रहने वाले समष्टि आत्मा = परमात्मा का ही पसारा है, "मैं" ही तेज-रूप होकर
सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि द्वारा सारे विश्व को प्रकाशित करता हूँ, "मैं" ही पृथ्वी-
रूप होकर स्थावर-जंगम सब भूतों को धारण करता हूँ; "मैं" ही रस-रूप होकर
सब खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करता और बढ़ाता हूँ; और "मैं" ही सब प्राणियों के
शरीरों में जठराग्नि-रूप होकर, पृथ्वी से उत्पन्न, जल से उत्पन्न, तेज से उत्पन्न तथा
वायु से उत्पन्न, अथवा खाने, पीने, चूसने एवं चाटने योग्य—चार प्रकार के आहार
को पचाता हूँ। दूसरे शब्दों में "मैं" ही खाद्य पदार्थ हूँ और "मैं" ही खाने वाला
हूँ। सब प्राणियों के हृदय में रह कर सब प्रकार की चेष्टाएँ "मैं" ही करवाता हूँ।
अनित्य परिवर्तनशील, अनित्य एवं जड़ शरीरों के अन्दर भी "मैं" सत्-चेतन
आत्मा सदा एक समान रहता हूँ, इसलिए पहले के अनुभवों की स्मृति
अर्थात् याददाश्त का कारण "मैं" ही हूँ, और "मैं" सत्-चेतन आत्मा ही
वर्तमान के अनुभवों के ज्ञान का कारण हूँ, एवं भूल तथा अज्ञान का कारण भी
"मैं" सत्-चेतन आत्मा ही हूँ, क्योंकि भूल और अज्ञान भी अचेतन में नहीं हो
सकते। वेदादि सब शास्त्रों के अवलंबन से जिस अन्तिम लक्ष्य अर्थात् सत्य वस्तु
को जानना चाहिए, वह "मैं" ही हूँ, अर्थात् शास्त्रों में जो भी कुछ वर्णन है वह
सब "मेरा" ही है। वेदान्त अर्थात् जिसमें जानने का अन्त अथवा ज्ञान की
परिसमाप्ति होती है, वह सबका अपना-आप "मैं" ही हूँ और वेद का जानने वाला
अर्थात् ज्ञाता भी "मैं" ही हूँ (१२ से १५)। इस जगत में दो अर्थात् निरन्तर

विकार और कार्य-कारण-भाव जड़ प्रकृति के धर्म बताये, और पुरुष अर्थात् जीवात्मा को प्रकृति के गुणों का भोक्ता एवं परम-पुरुष परमात्मा कहा (गी० अ० १३ श्लो० २२)। अब उसी विषय का फिर से खुलासा करते हुए भगवान् कहते हैं कि जीव मेरा ही अंश है; वह प्रकृति से उत्पन्न मन और सूक्ष्म इन्द्रियों के लिंग शरीर से युक्त होकर स्थूल शरीर में रहता हुआ विषयों को भोगता है। यहाँ "मेरा अंश" कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि जीवात्मा-परमात्मा से निकला हुआ—अग्नि से निकली हुई चिनगारी की तरह—कोई टुकड़ा है। यहाँ अंश से मतलब व्यष्टि-भाव से है, जो अपने समष्टि-भाव से वस्तुतः अलग नहीं होता। जिस तरह समुद्र में छोटी-बड़ी अनन्त लहरें होती हैं, वे समुद्र से भिन्न नहीं होतीं—लहरों से समुद्र के टुकड़े नहीं हो जाते, क्योंकि लहरें वस्तुतः समुद्र ही हैं, अथवा जिस तरह बर्तनों और मकानों के अन्दर जो पोल-रूप आकाश होता है, वह बाहर के महा-आकाश से भिन्न नहीं होता—बर्तनों और मकानों में जो आकाश का अंश आ जाता है, उससे आकाश के टुकड़े नहीं हो जाते, किन्तु आकाश सब दशाओं में एक ही रहता है; अथवा जिस तरह राष्ट्र अथवा जाति का व्यक्ति उस राष्ट्र अथवा जाति का अंश होता है, परन्तु उस राष्ट्र अथवा जाति से भिन्न नहीं होता, प्रत्युत राष्ट्र अथवा जाति-रूप ही होता है; उसी तरह सबके आत्मा = परमात्मा में व्यष्टि जीव-भाव और समष्टि ईश्वर अथवा ब्रह्म-भाव होते हुए भी सब एक ही है, भिन्नता कुछ नहीं है। अजन्ता आदि गुफा-मन्दिरों में पर्वतों को काटकर जो बहुत-सी मूर्तियाँ बनाई हुई हैं, वे पर्वत से पृथक् नहीं हैं, किन्तु पर्वत ही हैं; उसी तरह यह सब एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनन्त नामों और रूपों का बनाव है। सबका आत्मा = परमात्मा ही सूर्य, चन्द्र और अग्नि-रूप होकर प्रकाश करता है; वही पृथ्वी-रूप होकर सब भूत-प्राणियों को धारण करता है; वही नाना प्रकार के खाद्य-पदार्थ-रूप होता है; वही उनको खाता और पचाता है; वही शरीर-रूप होता है; वही शरीर के अन्दर निवास करता है; वही बुद्धि होकर विचार करता है; वही मन होकर मनन करता है; वही चित्त होकर चिन्तन करता है; वही अहंकार होकर अहंकार करता है; और वही इन सब भावों का अपने में लय कर लेता है, वही ज्ञाता अर्थात् जानने वाला है; वही ज्ञान अर्थात् जानने की क्रिया है और वही ज्ञेय अर्थात् जानने की वस्तु है ज्ञान के जितने साधन हैं, उनमें यही रहस्य जानने योग्य है। जो सबकी एकता के निश्चय से समत्व-योग का आचरण करता है, उसको जीवात्मा = परमात्मा की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है, परन्तु जिनकी बुद्धि भेद-ज्ञान से दूषित रहती है, जिससे
जीवात्मा-परमात्मा की उपरोक्त एकता।

जिन जड़ और चेतन भावों से जगत् के अनन्त प्रकार के बनाव होते हैं, वे दोनों भाव सबके आत्मा = परमात्मा ही के हैं; उनमें नामों और रूपों वाला जड़-भाव परिवर्तनशील एवं नाशवान् है; और चेतन-भाव सदा एक-सा बना रहने वाला है। जो मनुष्य व्यष्टि-भाव के अहंकार से ऊपर उठ कर उन दोनों भावों की एकता का अनुभव अपने-आपमें कर लेता है, अर्थात् नाम-रूपात्मक जड़-भाव को परिवर्तनशील एवं अनित्य दिखाव मात्र समझ कर उसमें मोहित नहीं होता; और चेतन-भाव को अपना अंश समझ कर अपने-आपमें उसका समावेश समझता है, उसकी पुरुषोत्तम संज्ञा होती है। अतः जो ज्ञानवान् पुरुष अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्त के शास्त्रों के रहस्य को अच्छी तरह समझ कर अपने-आपको इस प्रकार सबकी एकता-स्वरूप पुरुषोत्तम अनुभव करता है, उसे फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता—यही पुरुषार्थ की परमावधि अथवा चरम सीमा है, और यही ज्ञान की पराकाष्ठा एवं अन्तिम गति है।

॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

——

सोलहवाँ अध्याय

सबकी एकता के ज्ञान-विज्ञान का निरूपण, सातवें अध्याय से आरम्भ करके, पहले भक्ति अथवा उपासना के विभाग में श्रद्धा को प्रधानता देकर किया गया, और फिर तेरहवें अध्याय से पन्द्रहवें अध्याय तक दार्शनिक विवेचन करके उसकी समाप्ति की गई। उस निरूपण के बीच-बीच में उक्त ज्ञान-विज्ञान के आधार पर, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से, संसार के व्यवहार करने का वर्णन भी प्रसंगानुसार यथा-स्थान विविध प्रकार से किया गया है। अब भगवान् उक्त सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव-युक्त किये जाने वाले आचरणों का, तथा उसके विरुद्ध सबकी पृथक्ता के मिथ्या ज्ञान-युक्त विषमता के आचरणों का तुलनात्मक विवेचन आगे के तीन अध्यायों में करते हैं, ताकि लोग भेद-भावजन्य विषमता के आचरणों को छोड़ कर सबकी एकता के साम्य-भाव के आचरणों में प्रवृत्त हों, क्योंकि जब तक सबकी एकता के ज्ञान का व्यवहार में उपयोग नहीं होता, अर्थात् उक्त ज्ञान के अनुसार सबके साथ एकता के साम्य-भाव के आचरण करने में जब तक प्रवृत्ति नहीं होती, तब तक उससे कोई लाभ नहीं होता। इस सोलहवें अध्याय से उस तुलनात्मक विवेचन का आरम्भ करते हैं; जिसमें, जिन लोगों के पूर्वजन्म में किये हुए समत्व योग के अभ्यास के शुभ संस्कारों के कारण यहाँ दैवी प्रकृति के शरीर होते हैं, तथा जिनके पूर्वजन्म के अशुभ संस्कारों के कारण यहाँ आसुरी प्रकृति के शरीर होते हैं, उन दोनों के आचरणों का विवेचना-त्मक वर्णन विस्तार-पूर्वक करते हैं। यहाँ पर इस विषय का खुलासा कर देना आव-श्यक प्रतीत होता है कि पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार यहाँ जिस प्रकृति का शरीर प्राप्त होता है, वही प्रकृति जन्मभर वैसी ही बनी रहे, यह आवश्यक नहीं है। शिक्षा, संगति और पुरुषार्थ से मनुष्य अपनी प्रकृति में बहुत-कुछ परिवर्तन कर सकता है। अच्छी शिक्षा, सत्संग और सत्पुरुषार्थ से मनुष्य अपनी आसुरी प्रकृति को शनैः-शनैः बदल कर दैवी बना सकता है, और कुशिक्षा, कुसंगति और विपरीत पुरुषार्थ से मनुष्य दैवी प्रकृति को बदल कर आसुरी बना सकता है। इसलिए अपनी उन्नति के इच्छुक व्यक्तियों को प्रयत्नपूर्वक सुशिक्षा एवं सत्संग प्राप्त करना तथा शुभ पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए।

इन्द्रियों को अपने वश में रखना; यज्ञ अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित सात्विक यज्ञ करना; स्वाध्याय* अर्थात् विद्याध्ययन करना; तप अर्थात् आगे सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन के द्वारा सात्विक तप यानी शिष्टाचार की प्रवृत्ति; आर्जव अर्थात् सरलता*; अहिंसा* अर्थात् शरीर, मन और वाणी से किसी को शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा न देना, और किसी की आजीविका में आघात न पहुँचाना; सत्य* अर्थात् सच बोलना तथा सचाई का व्यवहार करना; अक्रोध अर्थात् क्रोध† के वश में न होना; त्याग अर्थात् आगे अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्विक त्याग†; शान्ति† अर्थात् मन की शीतलता; अपैशुन्य* अर्थात् किसी की निन्दा अथवा चुगली न करना; प्राणियों पर दया† अर्थात् दुखी प्राणियों पर दया करना, अलोलुपत्व अर्थात् अति लोभ* न करना; मार्दव* अर्थात् मधुरता; ह्री अर्थात् बुरे कामों में लज्जा* रखना; अचपलता* अर्थात् निकम्मी चेष्टाएँ न करना; तेज* अर्थात् प्रभावशालीपन; क्षमा† अर्थात् दूसरों के अपराधों का बदला लेने का भाव न रखना; धृति अर्थात् धैर्य* अथवा अठारहवें अध्याय में वर्णित सात्विकी धृति; शौच† अर्थात् शरीर की शुद्धता, अद्रोह अर्थात् किसी से द्वेष† न करना; और अतिमानी न होना अर्थात् अपने बड़प्पन का अनुचित अभिमान† न करना—(ये लक्षण), हे भारत! दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए लोगों के होते हैं, अर्थात् दैवी प्रकृति के लोगों में ये गुण होते हैं (१-३)। दंभ* अर्थात् मन में कुछ हो और बाहर कुछ और ही दिखाकर लोगों को भुलावा अथवा धोखा देना, अथवा वास्तविकता के विरुद्ध आडम्बर करके लोगों पर अपना मिथ्या प्रभाव या रोब जमाना, अथवा भीतर कुछ भी न होते हुए भी ऊपर से थोथे दिखाव का ढोंग करना; दर्प* अर्थात् अपने धन, मान, बल, यौवन, कुलीनता, पवित्रता, विद्वत्ता आदि के घमण्ड में दूसरों को दबाना अथवा लोगों का तिरस्कार करना; अभिमान† अर्थात् अपने बड़प्पन, उच्चता, श्रेष्ठता, कुलीनता, बुद्धिमत्ता, धन, पद, प्रतिष्ठा, धार्मिकता आदि का अहङ्कार रखना; क्रोध† अर्थात् अपने मन के अनुकूल कोई बात न होने पर क्रोध के वश होकर आप तपना तथा दूसरों को सताना, पारुष्य* अर्थात् सूखे लक्कड़ की तरह कठोर, रूखा एवं ऐंठा हुआ रहना; और अज्ञान अर्थात् सत्यासत्य के विवेक से रहित होना -(ये लक्षण), आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए लोगों के होते हैं, अर्थात् आसुरी प्रकृति के लोगों में ये गुण होते हैं (४)। दैवी सम्पत्ति मोक्ष का कारण और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण मानी गई है। हे पाण्डव! तू तो दैवी सम्पत्ति में जन्मा हुआ है,

* आगे तेरहवें अध्याय में इन भावों का स्पष्ट अर्थ लिखित।

† बारहवें अध्याय में इन भावों का स्पष्ट अर्थ लिखित।

(इसलिए) चिन्ता मत कर। तात्पर्य यह कि जो लोग दैवी सम्पत्ति के गुणों से युक्त होते हैं, अर्थात् उपरोक्त दैवी सम्पत्ति के आचरण करते हैं, वे मुक्त अथवा स्वतन्त्र हो जाते हैं; और जो आसुरी सम्पत्ति के आचरण करते हैं, वे अनेक बन्धनों से बँधे हुए पराधीन रहते हैं; तू तो दैवी सम्पत्ति से युक्त है, इस कारण तेरे लिए कोई बन्धन नहीं है; तू चिन्ता मत कर (२)।

स्पष्टीकरण—दैवी और आसुरी प्रकृतियों के तुलनात्मक वर्णन का सूत्रपात नवमें अध्याय के ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें श्लोकों में कर दिया गया था। वहाँ भगवान् ने कहा था कि दैवी प्रकृति के महात्मा लोग अनन्य-भाव से मेरा भजन करते हैं, अर्थात् मुझ परमात्मा को सारे विश्व में एक समान व्यापक समझ कर सबके साथ एकता का प्रेम करते हैं; और राक्षसी एवं आसुरी प्रकृति के लोग अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार में आसक्त होकर सबकी एकता-स्वरूप मेरा तिरस्कार करते हैं*। वहाँ पर उस विषय की विस्तृत व्याख्या की गई है। छठे अध्याय के ४१ वें श्लोक से ४४ वें श्लोक तक के वर्णनानुसार पूर्वजन्म में समत्व-योग के अभ्यास में लगे रहने वाले लोगों को इस जन्म में सात्त्विकी प्रकृति का शरीर प्राप्त होता है, और साधारणतया उनके आचरण सबके साथ एकता के साम्य-भाव-युक्त होते हैं, जिससे उनके कर्मों के बन्धन कम होते जाते हैं, और उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए अन्त में वे सब बन्धनों से मुक्त होकर परमात्म-भाव में स्थित हो जाते हैं। एक तरफ़ सबकी एकता के ज्ञान के अभ्यास से सात्त्विक आचरण बनते हैं, और दूसरी तरफ़ इन सात्त्विक आचरणों से सबकी एकता का ज्ञान बढ़ता और दृढ़ होता है—इस प्रकार यह दोनों ही परस्पर में सहायक अथवा उपकारी-उपकार्य होते हैं। "अभय" से लेकर "नातिमानिता" तक दैवी प्रकृति के जो २६ गुण कहे हैं, उनके आचरण ज्ञान-योग की व्यवस्था से, अर्थात् सबकी एकता की समत्व-बुद्धि से किये जायँ, तभी वे सात्त्विक अर्थात् सुख-दायक होते हैं; परन्तु यदि ये ही आचरण पृथक्ता के राग-द्वेष आदि भावों से किये जायँ तो वे राजस-तामस अर्थात् दुःखदायक एवं बन्धन के हेतु हो जाते हैं। इसी अभिप्राय को भगवान् ने प्रथम श्लोक में "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः" के बाद "ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः" कह कर स्पष्ट कर दिया है। इस विषय का खुलासा बारहवें अध्याय के श्लोक १३ वें से २० वें तक के स्पष्टीकरण में कर चुके हैं। जिन आचरणों का स्पष्टीकरण वहाँ नहीं हुआ है, उनका यहाँ किया जाता है।

अभय

अपने कर्तव्य-कर्म करने में किसी प्रकार का इहलौकिक अथवा पारलौकिक,

* नवमें अध्याय में उक्त श्लोकों का स्पष्टीकरण देखिए।

दण्ड अथवा अन्य भय न रखना, यदि अपने कर्तव्य-पालन में शरीर के छूटने, अर्थात् मृत्यु हो जाने तक की भी आशंका हो तो भी नहीं डरना, क्योंकि शरीर तो नाशवान् ही है और आत्मा अमर है, इसलिए वास्तव में डर का कोई कारण नहीं है; लोक-हित के कार्यों में और आत्मिक उन्नति के उद्योग में किसीसे भी न डरना, तथा ऐसा करने में शरीर पर आपत्ति आने की संभावना हो तो भी न घबराना; तथा दूसरों को भी इस प्रकार के कामों में सहायता देकर और इस तरह की शिक्षा देकर अभय करना—यह अभय का सच्चा स्वरूप है; और इस प्रकार निर्भय होना दैवी प्रकृति के पुरुषों का सबसे पहला लक्षण है। परन्तु राक्षसी-आसुरी आचरण करने में तथा दूसरों पर अत्याचार करने में निर्भय हो जाना, और दुष्ट-दुराचारियों को कुकर्म करने में निर्भय कर देना—यह अभय का दुरुपयोग है; दैवी प्रकृति के बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार अभय का विरुद्धाचरण नहीं करते। अभय का यह तात्पर्य नहीं है कि अनर्थ करने में किसी का डर न रख कर मनुष्य उद्दण्ड एवं ढीठ हो जाय, तथा दूसरों को भी अनर्थ करने में स्वच्छन्द कर दे। इसी तरह निर्भय होने का यह तात्पर्य भी नहीं है कि निडर होने के घमण्ड में सबकी अवहेलना और तिरस्कार करके लड़ाइयाँ खरीदी जायँ अथवा समुचित कारण के बिना अपने को खतरे (जोखम) में डाला जाय।

ज्ञान-योग-व्यवस्थिति

स्वयं अपने में तथा दूसरों में, अर्थात् संसार के सब जड़ एवं चेतन पदार्थों में एक ही आत्मा परमात्मा एक समान व्यापक है, जो अपने में है वही दूसरों में है, एक आत्मा अथवा परमात्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है, यह जगत्-प्रपंच उस एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूपों का बनाव है—यह निश्चय बुद्धि में निरन्तर रखना, और सबकी एकता के इस निश्चय-पूर्वक अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार साम्य-भाव से करना तथा अपने वास्तविक आप = आत्मा अथवा परमात्मा से भिन्न किसी भी पदार्थ अथवा विषय में ममत्व की आसक्ति न रखना और न उनसे सुख की प्राप्ति की ही आशा करना—यह सच्चा ज्ञान-योग है; दैवी प्रकृति के मनुष्य इस प्रकार के ज्ञान-योग में अवस्थित रहते हैं। परन्तु मुँह से तो आत्मज्ञान और सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव की बातें बनाना तथा शास्त्रार्थ करना, किन्तु व्यवहार उसके अनुसार कुछ भी न करना, अर्थात् मुँह से अपने को "आत्मा" अथवा "ब्रह्म" कहना, और साथ ही शरीर तथा शरीर की नाना प्रकार की उपाधियों का अभिमान रखना, तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों एवं पदार्थों में अत्यन्त आसक्त रहना और दूसरों

को भिन्न समझ कर उनसे राग, द्वेष, घृणा, तिरस्कार आदि भेद-भाव के आचरण करके, तथा सांसारिक पदार्थों एवं विषयों में आसक्त होकर नाना प्रकार के अनर्थ और कुकर्म करना—यह ज्ञान-योग का दुरुपयोग एवं पाखण्ड है।

स्वाध्याय

ज्ञान की वृद्धि एवं बुद्धि को सूक्ष्म करने के लिए, तथा लोक-सेवा के निमित्त अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए, एवं अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करने के लिए वेदादि सत्-शास्त्रों तथा अन्य प्राचीन एवं नवीन विद्याओं एवं भाषाओं का अध्ययन करना और लोक-हित के लिए उनका उपयोग एवं प्रचार करना—यह सच्चा स्वाध्याय है। दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष इस प्रकार स्वाध्याय में लगे रहते हैं। परन्तु केवल ग्रन्थों को रटकर कण्ठ कर लेना, अथवा अनेक ग्रन्थ पढ़ते ही जाना, और बुद्धि से कुछ भी काम न लेना, अर्थात् बुद्धि को ग्रन्थों के गिरवी रख कर केवल शास्त्रों के कीड़े बन जाना; अपनी बुद्धि से उन पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करके उनसे वास्तविक लाभ न उठाना; शास्त्रों की प्रक्रियाओं को याद करके वाद-विवाद ही में लगे रहना; पढ़ी हुई विद्याओं के वास्तविक अर्थ की तरफ़ विचार न करके उनके सूखे कलेवर का अध्ययन करते रहना, तथा बहुत शास्त्रों के ज्ञाता अर्थात् पण्डित होने का अभिमान करना—यह स्वाध्याय का दुरुपयोग अथवा उसका विपर्यास है।

सरलता

साधारणतया स्वभाव सरल अर्थात् सीधा रखना, अपनी तरफ़ से किसी के साथ छल, कपट, टेढ़ेपन, ऐंठन, चतुराई अथवा कूट-नीति के भाव चित्त में न रखना, तथा वाणी और शरीर से ऐसे व्यवहार न करना—यह सच्ची सरलता है; दैवी प्रकृति के महापुरुष इस प्रकार सरल स्वभाव के होते हैं। परन्तु मूर्खों, दम्भियों, ठगों, धूर्तों तथा दुष्टों के साथ सरलता तथा सीधेपन का भाव रख कर उनसे प्रभावित हो जाना एवं उनके फंदे में फंस जाना, और उनके कुकर्मों को न पहचान कर उन पर विश्वास करके अपने कर्तव्य बिगाड़ देना—यह सरलता का दुरुपयोग एवं भोंदूपन है।

अहिंसा

प्राणीमात्र एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, इस निश्चय से मन वाणी तथा शरीर से किसी भी प्राणी को बिना कारण अपनी तरफ़ से शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न पहुँचाना, अपने भोग-विलास अथवा विनोद के लिए, अथवा प्रमादवश किसी के शरीर से प्राणों का वियोग न करना, न करवाना; तथा किसी की आजीविका में बाधा न देना—यह सच्ची अहिंसा है; दैवी प्रकृति के सज्जन

के उद्देश्य से, अथवा अन्य प्रकार के कष्ट देने के निमित्त उसकी पीठ पीछे निन्दा या चुगली करना, अथवा झूठी गवाही देना—यह पैशून्य है; दैवी प्रकृति के सज्जन ऐसा नहीं करते। परन्तु किसी के सच्चे दोषों अथवा चालबाजियों अथवा छल, कपट, पाखण्ड आदि से दूसरों को हानि पहुँचती हो तो उस हानि से लोगों को बचाने के उद्देश्य से, जिनको हानि पहुँचती हो उन्हें सावधान करना, तथा उन दोषों और चालबाजियों अथवा पाखण्ड आदि को प्रकट कर देना—यह पैशून्य का सदुपयोग है, और दैवी प्रकृति के लोग, लोक-हित के लिए इसका यथावसर उपयोग करते हैं।

निर्लोभ

सांसारिक पदार्थों में आत्मा से भिन्न सुख समझ कर अपने व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक येन-केन-प्रकारेण धनादि पदार्थों का संग्रह करने में ही लगे रहना, और संग्रह किये हुए पदार्थों को अपने तथा दूसरों के हित के लिए तथा आवश्यक कामों के निमित्त न लगाना—यह लोभ है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार का लोभ नहीं करते। परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति की लालसा रखना; लोगों से प्रेम करने, सबका हित करने और अपने कर्तव्य-कर्म करने में सन्तोष न रखना; लोक-हित के कामों में लगाने के लिए धनादि पदार्थों का संग्रह करना, तथा अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभ का सदुपयोग है। इस प्रकार का लोभ दैवी प्रकृति के पुरुष भी करते हैं।

मृदुता

साधारणतया लोगों के साथ मधुरता, कोमलता और नम्रतायुक्त प्रेम का बर्ताव करना, जिससे उनके अन्तःकरण में प्रसन्नता हो; मीठी बोली बोलना, बिना कारण किसी के दिल को चोट लगे अथवा किसी को नागवार गुज़रे, ऐसी चेष्टा न करना—यह मृदुता का बर्ताव है दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार मधुरता का बर्ताव किया करते हैं परन्तु आसुरी प्रकृति के क्रूर एवं दुष्ट लोगों से उपरोक्त मधुरता का बर्ताव करने से उनकी क्रूरता एवं दुष्टता बढ़ती है अतः ऐसे लोगों के साथ दैवी प्रकृति के पुरुष मृदुता का बर्ताव नहीं करते

[illegible]

[illegible] के विरुद्ध अनुचित और बुरे काम करने में स्वाभाविक [illegible] होना है दैवी प्रकृति के पुरुष इस [illegible] को [illegible] में शामिल होते हैं परन्तु [illegible]

के उद्देश्य से, अथवा अन्य प्रकार के कष्ट देने के निमित्त उसकी पीठ पीछे निन्दा या चुगली करना, अथवा झूठी गवाही देना —यह पैशुन्य है; दैवी प्रकृति के सज्जन ऐसा नहीं करते। परन्तु किसी के सच्चे दोषों अथवा चालबाज़ियों अथवा छल, कपट, पाखण्ड आदि से दूसरों को हानि पहुँचती हो तो उस हानि से लोगों को बचाने के उद्देश्य से, जिनको हानि पहुँचती हो उन्हें सावधान करना, तथा उन दोषों और चालबाजियों अथवा पाखण्ड आदि को प्रकट कर देना—यह पैशुन्य का सदुपयोग है; और दैवी प्रकृति के लोग, लोक-हित के लिए इसका यथावसर उपयोग करते हैं।

निर्लोभ

सांसारिक पदार्थों में आत्मा से भिन्न सुख समझ कर अपने व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक येन-केन-प्रकारेण धनादि पदार्थों का संग्रह करने में ही लगे रहना, और संग्रह किये हुए पदार्थों को अपने तथा दूसरों के हित के लिए तथा आवश्यक कामों के निमित्त न लगाना—यह लोभ है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार का लोभ नहीं करते। परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति की लालसा रखना; लोगों से प्रेम करने, सबका हित करने और अपने कर्तव्य-कर्म करने में सन्तोष न रखना; लोक-हित के कामों में लगाने के लिए धनादि पदार्थों का संग्रह करना, तथा अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभ का सदुपयोग है। इस प्रकार का लोभ दैवी प्रकृति के पुरुष भी करते हैं।

मृदुता

साधारणतया लोगों के साथ मधुरता, कोमलता और नम्रतायुक्त प्रेम का बर्ताव करना, जिससे उनके अन्तःकरण में प्रसन्नता हो; मीठी बोली बोलना; बिना कारण किसी के दिल को चोट लगे अथवा किसी को नागवार गुज़रे, ऐसी चेष्टा न करना—यह मृदुता का बर्ताव है; दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार मधुरता का बर्ताव किया करते हैं। परन्तु आसुरी प्रकृति के क्रूर एवं दुष्ट लोगों से उपरोक्त मधुरता का बर्ताव करने से उनकी क्रूरता तथा दुष्टता बढ़ती है, अतः ऐसे लोगों के साथ दैवी प्रकृति के पुरुष मृदुता का बर्ताव नहीं करते।

लज्जा

अपने कर्तव्य के विरुद्ध, अनुचित और बुरे काम करने में ग्लानि रखना सच्ची लज्जा है दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार की लज्जा से शोभित होते हैं। परन्तु अपने

के उद्देश्य से, अथवा अन्य प्रकार के कष्ट देने के निमित्त उनकी पीठ पीछे निन्दा या चुगली करना, अथवा झूठी गवाही देना—यह पैशुन्य है, दैवी प्रकृति के सज्जन ऐसा नहीं करते। परन्तु किसी के सच्चे दोषों अथवा आततायियों अथवा चोर, जार, पाखण्ड आदि से दूसरों को हानि पहुँचती हो तो उस हानि से लोगों को बचाने के उद्देश्य से, जिनको हानि पहुँचती हो उन्हें सावधान करना, तथा उन दोषों और आततायियों अथवा पाखण्ड आदि को प्रकट कर देना—यह पैशुन्य का सदुपयोग है, और दैवी प्रकृति के लोग, लोक-हित के लिए इसका यथावश्यक उपयोग करते हैं।

निर्लोभ

सांसारिक पदार्थों में आत्मा से भिन्न सुख समझ कर अपने व्यक्तिगत भोग-विलास के लिए उनका संग्रह करने में सन्तोष न करना, किन्तु आवश्यकता से भी अधिक येन-केन-प्रकारेण धनादि पदार्थों का संग्रह करने में ही लगे रहना, और संग्रह किये हुए पदार्थों को अपने तथा दूसरों के हित के लिए तथा आवश्यक कामों के निमित्त न लगाना—यह लोभ है; दैवी प्रकृति के सज्जन इस प्रकार का लोभ नहीं करते। परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति की लालसा रखना; लोगों से प्रेम करने, सबका हित करने और अपने कर्तव्य-कर्म करने में सन्तोष न रखना; लोक-हित के कामों में लगाने के लिए धनादि पदार्थों का संग्रह करना, तथा अनावश्यक एवं अयोग्य व्यवहारों में उनका व्यय न करना—यह लोभ का सदुपयोग है। इस प्रकार का लोभ दैवी प्रकृति के पुरुष भी करते हैं।

मृदुता

साधारणतया लोगों के साथ मधुरता, कोमलता और नम्रतायुक्त प्रेम का बर्ताव करना, जिससे उनके अन्तःकरण में प्रसन्नता हो; मीठी बोली बोलना; बिना कारण किसी के दिल को चोट लगे अथवा किसी को नागवार गुज़रे, ऐसी चेष्टा न करना—यह मृदुता का बर्ताव है, दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार मधुरता का बर्ताव किया करते हैं। परन्तु आसुरी प्रकृति के क्रूर एवं दुष्ट लोगों से उपरोक्त मधुरता का बर्ताव करने से उनकी क्रूरता तथा दुष्टता बढ़ती है, अतः ऐसे लोगों के साथ दैवी प्रकृति के पुरुष मृदुता का बर्ताव नहीं करते।

लज्जा

अपने कर्तव्य के विरुद्ध, अनुचित और बुरे काम करने में ग्लानि रखना सच्ची लज्जा है दैवी प्रकृति के पुरुष इस प्रकार की लज्जा से शोभित होते हैं। परन्तु अपने

दर्प

अपनी जाति, कुल, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, धन, परिवार, सत्ता, ऐश्वर्य, बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, धर्म, तप, रूप, यौवन आदि शरीर की उपाधियों का मिथ्या घमण्ड करके दूसरों का अपमान एवं तिरस्कार करना, तथा दूसरों को तुच्छ अथवा नीच समझ कर दबाना, और सबकी अवहेलना करना—यह दर्प अथवा घमण्ड है। आसुरी-राक्षसी प्रकृति के लोग इस प्रकार घमण्डी होते हैं। इस तरह दूसरों को तुच्छ समझने वाले घमण्डी लोग स्वयं तुच्छ होते हैं। परन्तु आसुरी-राक्षसी प्रकृति के घमण्डी लोगों के साथ व्यवहार करने में उनसे भी अधिक घमण्ड का दिखाव करके उनके घमण्ड को चूर करना; तुच्छ सांसारिक सुखों के लिए रजोगुणी-तमोगुणी पुरुषों के सामने दीनता न करने का आत्म-गौरव रखना; स्वावलम्बी होना तथा अपनी परिस्थिति में मस्त रहना; किसी से दबकर या डरकर अपने कर्तव्य-कर्म से न हटना—यह घमण्ड का सदुपयोग है। दैवी प्रकृति के श्रेष्ठाचारी पुरुष समाज की सुव्यवस्था के लिए यथावसर इसका उपयोग करते हैं। परन्तु उनका वह घमण्ड का बर्ताव केवल दिखाव मात्र होता है; साधारण लोगों से वे कभी घमण्ड का बर्ताव नहीं करते, और उनके अन्तःकरण वस्तुतः घमण्ड से दूषित नहीं होते।

पारुष्य (रूखापन, कठोरता)

लोगों के साथ बर्ताव करने में रुखाई, कठोरता अथवा अकड़न का भाव रखना तथा ऐंठे हुए रहना; मुँह से रूखे, कठोर एवं कर्कश वचन बोलना—यह पारुष्य है, और आसुरी प्रकृति के लोगों का एक लक्षण है। परन्तु उन्हीं आसुरी प्रकृति के लोगों की रुखाई और अकड़न मिटाने के लिए उनके साथ इसी प्रकार का बर्ताव करना आवश्यक एवं उचित होता है; अतः उनके साथ बर्ताव करने में दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष भी उक्त पारुष्य का दिखाव यथावसर किया करते हैं।

× × ×

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

जो लोग पूर्वजन्म की बुरी वासनाओं को लेकर यहाँ जन्मते हैं, उनके शरीर आसुरी प्रकृति के होते हैं। उनमें साधारणतया व्यक्तित्व का अहंकार बहुत बढ़ा हुआ और अत्यन्त दृढ़ होता है, जिसके कारण वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों ही में आसक्त रहते हैं। वे लोग दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए, दम्भ, दर्प, अभिमान, कठोरता एवं क्रोध आदि से दूसरों को ठगते, दबाते और कष्ट देते रहते हैं। यद्यपि साधारणतया यह दम्भ, दर्प आदि के दुष्ट भाव आसुरी प्रकृति के लोगों में ही होते हैं, परन्तु कभी-कभी लोक-हित के निमित्त, ऐसे आसुरी प्रकृति के लोगों को दबाने के लिए, इन्हीं भावों का उपयोग करना श्रेष्ठाचार होता है, और दैवी प्रकृति के लोगों को भी इनका उपयोग करना आवश्यक होता है। इसलिए इस विषय का भी विशेष रूप से स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

दम्भ

छल-कपट करके लोगों को धोखा देना; मन में कुछ हो और ऊपर से कुछ और ही बताकर किसीको ठगना; जो गुण अपने में न हों, उनके होने की डींगें हाँक कर, तथा भीतर से मलिन, पापाचारी अथवा वस्तुतः धनहीन होते हुए भी ऊपर से पवित्र, धर्मात्मा अथवा धनवान होने का ढोंग करके लोगों को भुलावा देना और अपना कलुषित स्वार्थ साधना—यह दम्भ है; और यह आसुरी प्रकृति के गुणों का प्रधान लक्षण है। ऐसे दम्भ अथवा पाखण्ड से दूसरों का तथा स्वयं दम्भ करने वाले का भी अनिष्ट होता है। परन्तु दुष्ट, दुराचारी, आसुरी-राक्षसी प्रकृति के लोगों के अत्याचारों से जनता को बचाने के लिए, और विशेष करके अपनी तथा अपने संरक्षण में आये हुओं की रक्षा करने के लिए उन दुष्टों से छल-कपट का व्यवहार करना, तथा दम्भ से उनको भुलावा देना आवश्यक एवं न्याय-संगत होता है। भगवान् ने स्वयं १० वें अध्याय में "द्यूतं छलयतामस्मि" कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि छल करने वालों को छल से ही जीतने के लिए सबसे बड़ा छल जुआ भी "मैं" परमेश्वर ही हूँ। इस प्रकार छल का उपयोग दैवी प्रकृति के सज्जन भी किया करते हैं, परन्तु वह छल किसी निर्दोष व्यक्ति को हानि पहुँचाने की नीयत से अथवा द्वेष-भाव से नहीं किया जाता किन्तु लोगों के तथा स्वयं छल करने वालों के हित को लक्ष्य में रखते हुए समाज की सुव्यवस्था के लिए किया जाता है। कभी-कभी शत्रुओं और बालकों को हानि से बचाने के लिए छल करना आवश्यक होता है जैसे कि शत्रुओं को हमारा से बचाने तथा बुरी आदतें छुड़ाने के लिए उनको छल-बल डर-भय का देना तथा बालक को औषधि देने के लिए मिठाई दिखाना आदि यह छल का सदुपयोग एवं श्रेष्ठाचार है

दर्प

अपनी जाति, कुल, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, धन, परिवार, सत्ता, ऐश्वर्य, बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान, धर्म, तप, रूप, यौवन आदि शरीर की उपाधियों का मिथ्या घमण्ड करके दूसरों का अपमान एवं तिरस्कार करना, तथा दूसरों को तुच्छ अथवा नीच समझ कर दबाना, और सबकी अवहेलना करना—यह दर्प अथवा घमण्ड है। आसुरी-राक्षसी प्रकृति के लोग इस प्रकार घमण्डी होते हैं। इस तरह दूसरों को तुच्छ समझने वाले घमण्डी लोग स्वयं तुच्छ होते हैं। परन्तु आसुरी-राक्षसी प्रकृति के घमण्डी लोगों के साथ व्यवहार करने में उनसे भी अधिक घमण्ड का दिखाव करके उनके घमण्ड को चूर करना; तुच्छ सांसारिक सुखों के लिए रजोगुणी-तमोगुणी पुरुषों के सामने दीनता न करने का आत्म-गौरव रखना; स्वावलम्बी होना तथा अपनी परिस्थिति में मस्त रहना; किसी से दबकर या डरकर अपने कर्तव्य-कर्म से न हटना—यह घमण्ड का सदुपयोग है। दैवी प्रकृति के श्रेष्ठाचारी पुरुष समाज की सुव्यवस्था के लिए यथावसर इसका उपयोग करते हैं। परन्तु उनका यह घमण्ड का बर्ताव केवल दिखाव मात्र होता है; साधारण लोगों से वे कभी घमण्ड का बर्ताव नहीं करते, और उनके अन्तःकरण वस्तुतः घमण्ड से दूषित नहीं होते।

पारुष्य (रूखापन, कठोरता)

लोगों के साथ बर्ताव करने में रुखाई, कठोरता अथवा अक्खड़पन का भाव रखना तथा ऐंठे हुए रहना; मुँह से रूखे, कठोर एवं कर्कश वचन बोलना—यह पारुष्य है, और आसुरी प्रकृति के लोगों का एक लक्षण है। परन्तु उन्हीं आसुरी प्रकृति के लोगों की रुखाई और अक्खड़पन मिटाने के लिए उनके साथ इसी प्रकार का बर्ताव करना आवश्यक एवं उचित होता है, अतः उनके साथ बर्ताव करने में दैवी प्रकृति के सज्जन पुरुष भी इस पारुष्य का दिखाव यथावसर किया करते हैं।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

जो लोग पूर्वजन्म की बुरी वासनाओं को लेकर यहाँ जन्मते हैं, उनके शरीर आसुरी प्रकृति के होते हैं। उनमें साधारणतया व्यक्तित्व का अहंकार बहुत बढ़ा हुआ और अत्यन्त दृढ़ होता है, जिसके कारण वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों ही में आसक्त रहते हैं। वे लोग दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए, दम्भ, दर्प, अभिमान, कठोरता एवं क्रोध आदि से दूसरों को ठगते, दबाते और कष्ट देते रहते हैं। यद्यपि साधारणतया यह दम्भ, दर्प आदि के दुष्ट भाव आसुरी प्रकृति के लोगों में ही होते हैं, परन्तु कभी-कभी लोक-हित के निमित्त, ऐसे आसुरी प्रकृति के लोगों को दबाने के लिए, इन्हीं भावों का उपयोग करना श्रेष्ठाचार होता है, और दैवी प्रकृति के लोगों को भी इनका उपयोग करना आवश्यक होता है। इसलिए इस विषय का भी विशेष रूप से स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

दम्भ

छल-कपट करके लोगों को धोखा देना; मन में कुछ हो और ऊपर से कुछ और ही बताकर किसीको ठगना; जो गुण अपने में न हों, उनके होने की डींगें हाँक कर, तथा भीतर से मलिन, पापाचारी अथवा वस्तुतः धनहीन होते हुए भी ऊपर से पवित्र, धर्मात्मा अथवा धनवान होने का ढोंग करके लोगों को भुलावा देना और अपना कलुषित स्वार्थ साधना—यह दम्भ है; और यह आसुरी प्रकृति के पुरुषों का प्रधान लक्षण है। ऐसे दम्भ अथवा पाखण्ड से दूसरों का तथा स्वयं दम्भ करने वाले का भी अनिष्ट होता है। परन्तु दुष्ट, दुराचारी, आसुरी-राक्षसी प्रकृति के लोगों के अत्याचारों से जनता को बचाने के लिए, और विशेष करके अपनी तथा अपने संरक्षण में आये हुओं की रक्षा करने के लिए उन दुष्टों से छल-कपट का व्यवहार करना, तथा दम्भ से उनको भुलावा देना आवश्यक एवं न्याय-संगत होता है। भगवान् ने स्वयं १० वें अध्याय में "द्यूतं छलयतामस्मि" कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि छल करने वालों को छल से ही जीतने के लिए सबसे बड़ा छल जुआ भी "मैं" परमेश्वर ही हूँ। इस प्रकार छल का उपयोग दैवी प्रकृति के सज्जन भी किया करते हैं; परन्तु यह छल किसी निर्दोष व्यक्ति को हानि पहुँचाने की नीयत से अथवा द्वेष-भाव से नहीं किया जाता; किन्तु लोगों के तथा स्वयं छल करने वालों के हित को लक्ष्य में रखते हुए जगत् की सुव्यवस्था के लिए किया जाता है। कभी-कभी मूर्खों और बालकों को हानि से बचाने के लिए छल करना आवश्यक होता है—जैसे कि मूर्खों को कुमार्ग से बचाने तथा बुरा आदतें छुड़ाने के लिए उनको लालच देकर भुलावा देना, तथा बालक को औषधि देने के लिए मिठाई दिखाना, आदि—यह छल का सदुपयोग एवं श्रेष्ठाचार है।

नहीं करते, किन्तु जिन चेष्टाओं से उनको अपने प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों की प्राप्ति होने का निश्चय होता है, उन्हें ही करते हैं। उनका अन्तःकरण दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, द्वेष आदि विकारों से सदा ग्रसित रहने के कारण मलिन रहता है, एवं उनका शरीर तथा रहन-सहन अत्यन्त मैला-कुचैला रहता है, एवं सभ्यता और शिष्टता के आचरणों से वे सर्वथा शून्य होते हैं, क्योंकि देह-अभिमान, स्वार्थपरता, ऐंठन, कठोरता एवं उजड्डपन उनमें कूट-कूटकर भरे हुए रहते हैं, और झूठ बोलने तथा झूठे व्यवहार करने में वे कुशल होते हैं—सत्य के महत्त्व को वे कुछ समझते ही नहीं (७)। वे कहते हैं कि जगत् असत्य, आधार-रहित और बिना ईश्वर का है; काम-वासना के कारण नर और मादा के संयोग से उत्पन्न होता है इसके सिवाय दूसरा अदृष्ट हेतु इसका क्या हो सकता है? तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोग केवल प्रत्यक्ष-वादी होते हैं; अदृष्ट आत्मा अथवा परमात्मा को वे नहीं मानते। उनके मत में न कोई आत्मा है, न कोई ईश्वर, न कोई पुण्य है, न पाप; आत्मा, ईश्वर, परलोक एवं पुण्य-पाप का अदृष्ट फल आदि सब कल्पनाएँ झूठी हैं; जो कुछ है वह (भौतिक) स्थूल जगत् ही है। शरीरों के जन्म से पहले कुछ भी नहीं होता और मरने के बाद कुछ शेष नहीं रहता; काम-वासना से प्रेरित नर और मादा के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और मरने पर उसकी समाप्ति हो जाती है; इस तरह जगत् का प्रवाह आप ही चलता रहता है; इसके सिवाय इसका कोई अदृष्ट अथवा सूक्ष्म कारण नहीं है, और न कोई इसका अदृष्ट अथवा सूक्ष्म आधार ही है। इसलिए स्थूल शरीरों के प्रत्यक्ष के भौतिक सुखों के साधन जिस तरह भी बन सकें, उसी तरह करते रहना चाहिए, इसके सिवाय और कुछ भी कर्तव्य नहीं है। खाने-पीने, विषय भोगने एवं ऐशो-आराम करने के सिवाय किसी अदृष्ट अथवा सूक्ष्म विषय पर विचार करने की उनके नज़दीक कोई आवश्यकता नहीं रहती (८)। इस दृष्टि का अवलंबन किये हुए (वे) उग्र कर्म करने वाले तथा (सबका) अहित यानी बुरा करने वाले, विवेकहीन, मूर्ख लोग जगत् का क्षय करने के लिए ही होते हैं। तात्पर्य यह कि इस तरह स्थूल शरीर और इसके विषय-भोगों ही को सब-कुछ मानने, तथा स्थूल शरीर ही में आसक्ति रखने वाले प्रत्यक्ष-वादी नास्तिक लोगों को सत्यासत्य एवं अच्छे बुरे का कुछ भी विवेक नहीं होता; अतः वे अपने शारीरिक सुखों और विषय भोगों के लिए चोरी, डकैती, ठगी, लूट-खसोट, ज़बरदस्ती, झूठ, कपट, पाखण्ड आदि भयानक उग्र कर्म करके लोगों पर जुल्म करते हैं। वे लोग समाज में उच्छृंखलता उत्पन्न करने और अशान्ति को पैदा करने के ही कारण होते हैं, इसके सिवाय उनसे किसी भी प्रकार का भलाई नहीं होती (९)

आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोगों का वर्णन तीन श्लोकों में करके अब आसुरी प्रकृति के आस्तिक लोगों का वर्णन करते हैं, जो प्रत्यक्ष के दृष्टिगोचर विषयों के अतिरिक्त परोक्ष के सुखों तथा अदृष्ट विषयों में भी अन्ध-विश्वास रखते हैं।

कभी समाप्त न होने वाली कामनाओं के आधीन होकर दंभ, अभिमान और मद में ग्रस्त हुए (आसुरी प्रकृति के लोग) मूढ़ता से झूठी भावनाओं का आसरा लेकर (अन्ध-विश्वास से) अपवित्र मतों में प्रवृत्त होते हैं। तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के आस्तिक लोग इहलौकिक दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष के तथा पारलौकिक अदृष्ट अथवा परोक्ष के सांसारिक सुखों, एवं धन, मान, कुटुम्ब-परिवार आदि की अनन्त प्रकार की कामनाओं में दिन-रात उलझे रहते हैं; और कामनाएँ लगातार एक के बाद दूसरी नित-नयी उत्पन्न होती रहती हैं, इसलिए उनकी कभी पूर्ति नहीं होती। उन कामनाओं की सिद्धि के लिए वे लोग मिथ्या विश्वासों के आधार पर नाना प्रकार के मलिन कर्मकाण्डों में लगे रहते हैं; अर्थात् मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि के मैले मन्त्र साधने, देवी-देवताओं के नाम पर पशुओं की बलि देने, रात के समय श्मशान आदि अपवित्र स्थानों में जाकर भैरव, योगिनी एवं भूत-प्रेतादि को जगाने का ढोंग करके मैले मन्त्रों को जपने, उनके नाम पर अपवित्र एवं मादक खान-पान करने, तथा अश्लील अंगों की पूजा करके ग्लानि उत्पन्न करने वाली क्रियाएँ करने में लगे रहते हैं; अथवा तामसी तप से शरीर को कृश करते हैं; और नख, केश आदि बढ़ाकर एवं नहाना-धोना आदि बंद करके मैले-कुचैले रहते हैं। इस प्रकार अत्यन्त मलिन एवं पापकर्म करते हुए भी वे बड़े पवित्र एवं धर्मात्मा होने का ढोंग करते हैं, और चौके-चूल्हे आदि की छुआछूत का बड़ा पाखण्ड करते हैं, अपनी पवित्रता, धार्मिकता एवं कुलीनता का बहुत अभिमान करते हैं, और उस मद में चूर हुए दूसरों का अपमान और तिरस्कार करते हैं (१०)। जन्मभर बनी रहने वाली अनन्त प्रकार की चिन्ताओं में ग्रसित हुए, "विषय-भोग ही सब-कुछ है" इस निश्चय में इन्हीं में दिन-रात लगे रहने वाले, आशाओं के सैकड़ों बन्धनों में जकड़े हुए, काम-क्रोध-परायण (वे असुर लोग) विषय-भोगों की पूर्ति के निमित्त अन्याय से धन-संग्रह की चेष्टाएँ करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि वे असुर लोग विषय-सुखों को ही सब-कुछ मानते हैं, इसलिए इस जन्म में विषय-भोगों की प्राप्ति और [illegible] तथा परलोक में स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति के लिए [illegible] इनको [illegible] कि [illegible] नहीं होता [illegible] दूसरी [illegible] ही रहती है, [illegible] और [illegible] विषय-भोगों की पूर्ति के लिए [illegible]

तिरस्कार करते हैं; तथा उनके पास थोड़ा या बहुत जो कुछ धन आदि होता है, और उस धन आदि के कारण लोगों में जो प्रतिष्ठा होती है—उसके नशे में मतवाले होकर दूसरे लोगों को तुच्छ समझते हैं। संसार में धर्मात्मा कहलाने के लिए वे लोग यज्ञों के आडम्बर करते हैं; परन्तु वे यज्ञ नाममात्र के होते हैं, न तो उनमें उनकी श्रद्धा होती है और न शास्त्र की विधि ही (१७)। अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध से भरे हुए, दूसरों में दोष देखने वाले (वे) ईर्षालु लोग, अपने तथा दूसरों के शरीरों में रहने वाले मुझ (परमात्मा) से द्वेष करते हैं। तात्पर्य यह कि दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार, बड़प्पन, कुलीनता, धार्मिकता, विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता एवं शारीरिक बल आदि के घमण्ड में चूर, तथा नाना प्रकार की कामनाओं से उत्पन्न होने वाले क्रोध से भरे हुए, वे आसुरी प्रकृति के लोग सदा अपनी बड़ाई करने तथा दूसरों के दोष निकालने में तत्पर रहते हैं, तथा वे दूसरों से ईर्षा-द्वेष करते रहते हैं; और परमात्मा सबमें व्यापक है, इसलिए वह द्वेष सबके आत्मा=परमात्मा के साथ ही होता है (१८)। उन द्वेष करने वाले दुष्ट, पातकी, अधम पुरुषों को "मैं" संसार में सदा आसुरी योनियों में ही पटकता हूँ। तात्पर्य यह कि सबके साथ द्वेष करने वाले उन दुष्ट प्रकृति के नीच पापियों को "मैं" सबका आत्मा=परमात्मा उनके पापाचार के फलस्वरूप बिल्ली, कुत्ते, सिंह, व्याघ्र, सर्प, शूकर, गीध, बाज, चील आदि हिंसक पशु-पक्षियों की पापयोनियों में गिराता हूँ (१९)। हे कौन्तेय! वे मूढ़ लोग जन्म-जन्म में उन आसुरी योनियों को प्राप्त होते हुए मुझे न पाकर उत्तरोत्तर नीचे ही गिरते रहते हैं। तात्पर्य यह कि उन पापयोनियों को भुगतते हुए वे मूर्ख लोग उत्तरोत्तर अधोगति ही की तरफ लुढ़कते रहते हैं; उन्हें कभी अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्म-भाव के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती (२०)।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ २२॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ २३॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ २४॥

अर्थ—काम, क्रोध और लोभ (ये) तीन प्रकार के नरक के दरवाज़े बुद्धि का नाश करने वाले हैं; इसलिए इन तीनों को त्यागना चाहिए। हे कौन्तेय! इन तीन अन्धकारमय दरवाज़ों से मुक्त होकर, (जो) मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, तो उससे (वह) परम गति को जाता है। तात्पर्य यह कि काम, क्रोध और लोभ मनुष्य को अधोगति-रूप नरक में ले जाने वाले हैं, इसलिए इनकी आधीनता से छूटना चाहिए; जो इनके आधीन नहीं होते, वे ही कल्याण-कारक आचरण करके परम पद को पहुँच जाते हैं, अर्थात् परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं (२१-२२)। जो शास्त्र* की विधि को छोड़ कर मनमानी करता है उसको न सिद्धि अर्थात् किसी भी प्रकार की सफलता प्राप्त होती है, न सुख और न परम गति ही। इसलिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था के विषय में, अर्थात् कौनसा कर्म करना चाहिए और कौनसा नहीं करना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए तुझे शास्त्रों* को प्रमाण मानना चाहिए; शास्त्रों* में जो विधान किया हुआ है, उसे समझ कर तुझे इस संसार में कर्म करना चाहिए। तात्पर्य यह कि जो लोग पहले के दो श्लोकों में कहे हुए काम, क्रोध और लोभ के वश होकर अभेद प्रतिपादक सत्-शास्त्रों में वर्णित वर्ण-व्यवस्थानुसार अपने-अपने कर्तव्य-कर्म लोक-संग्रह के लिए नहीं करते, किन्तु उसके विरुद्ध पृथकता के भाव से अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए, लोगों को हानि पहुँचाने और दुःख देने वाली मनमानी चेष्टाएँ करते हैं, वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते; न उनको सच्ची सुख-शान्ति मिलती है और न उन्हें कल्याण की प्राप्ति ही होती है। इसलिए भगवान् अर्जुन को लक्ष्य करके सबको उपदेश देते हैं कि परमात्मा की एकता एवं सर्व-व्यापकता के सच्चे ज्ञान के आधार पर अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म की व्यवस्था बाँधने वाले जो अभेद-प्रतिपादक सार्वभौमिक सत्-शास्त्र हैं—जैसे ज्ञानकाण्डात्मक वेद, उपनिषद् एवं गीता आदि—वे ही कर्तव्या-कर्तव्य के विषय में यथार्थ प्रमाण हैं, अतः उन सत् शास्त्रों के यथार्थ तात्पर्य को, और

---

* यहाँ "शास्त्र" शब्द का अभिप्राय आत्मा अथवा परमात्मा की एकता एवं सर्वव्यापकता के अभेद-प्रतिपादक उपरोक्त सार्वभौमिक शास्त्रों से ही है, क्योंकि गीता में सर्वत्र सबकी एकता के आधार पर सांसारिक व्यवहार करने ही का विधान है। पन्द्रहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में अभेद प्रतिपादक उपदेश को ही शास्त्र कहा है, और तेरहवें अध्याय के चौथे श्लोक में भी इन्हीं का उल्लेख किया है। भेद-वाद के साम्प्रदायिक शास्त्रों को तो अनेक स्थलों पर त्याज्य कहा है, इसलिए यहाँ पर भेद-वाद के शास्त्रों के विधान को प्रमाण मानना पूर्वापर के सामञ्जस्य के विरुद्ध पड़ता है। सारांश यह कि अभेद प्रतिपादक शास्त्रों का विधान ही यहाँ अभिप्रेत है।

कई आसुरी प्रकृति के—इस बात को भगवान् ने इस वर्णन के आरम्भ ही स्पष्ट रूप से कह दिया है। इसलिए इस वर्णन पर हमको गंभीरता से विचार करना चाहिए, और हममें जो दैवी एवं आसुरी आचरण करते हैं, और जो आचरण हम कर रहे हैं, उनका मिलान करके देखना चाहिए कि हमारे आचरण कैसे हैं? क्या वे असुरों के-से तो नहीं हैं?

यदि हम अपने पूर्वजों के बड़प्पन और उनकी उन्नत अवस्था के अभिमान को उन्हीं के लिए छोड़ कर अपनी वर्तमान दशा पर शुद्ध अन्तःकरण से गंभीरता-पूर्वक विचार करें तो अत्यन्त खेद के साथ हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वर्तमान समय में हम लोगों के अधिकांश आचरण उपरोक्त वर्णन के अनुसार राक्षसों एवं असुरों के-से हो रहे हैं। राक्षस उनको कहते हैं जो कि दूसरों को दबा-दबाकर खाते हैं। वर्तमान समय में हम लोगों में से जो गुरु, पुरोहित आचार्य, साधु, महन्त, पण्डे, पुजारी आदि धर्म का व्यवसाय करने वाले लोग हैं अर्थात् जो धर्म के ठेकेदार हैं, और जो राज्य-शासन के अधिकारी—सरकारी अफसर, राजे-महाराजे, जागीरदार, ओहदेदार आदि सत्ताधारी अर्थात् जो राज्य-शासन के ठेकेदार हैं; तथा जो बड़े बड़े लक्षाधीश एवं कोट्याधीश श्रीमन्त लोग हैं यानी जो धन के ठेकेदार हैं, एवं जो अलग-अलग जातियों के पंच हैं यानी जो समाज के ठेकेदार हैं, उनके आचरणों की तरफ दृष्टि डालें तो उनमें अधिकतर ये ही लक्षण पाये जाते हैं। उन लोगों में से अधिकांश को इस बात का ज्ञान भी नहीं रहा है कि हमारा सच्चा कर्तव्य क्या है? हमारे अलग-अलग कार्य-विभाग की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था किस उद्देश्य से बनाई गई थी, और हम उस व्यवस्था का यथावत् पालन करते हैं कि नहीं? और उनमें यह विचारने की योग्यता भी नहीं रही कि जो आचरण हम इस समय कर रहे हैं वे उचित हैं या अनुचित? समाज की सुव्यवस्था एवं सुख-शान्ति पर उन आचरणों का क्या प्रभाव पड़ता है? तथा पारस्परिक सेवा करने का जो हमारा मुख्य कर्तव्य है, उसे हम पूरा करते हैं कि नहीं?

अधिकतर धर्म के ठेकेदार लोगों का प्रधान लक्ष्य, जिस तरह हो सके, साधारण जनता से धन ऐंठना और अपनी सेवा करवाना मात्र रह गया है, और उसके प्रत्युपकार में उसे अज्ञानान्धकार में अपने आधीन रख कर पुरुषार्थ-हीन एवं स्वतन्त्र विचार करने के अयोग्य बनाये रखना ही है। जनता कभी इनके चंगुल से बाहर न निकल जाय, इसलिए ये लोग अपने मनमाने भेद वाद के शास्त्र भोले लोगों को सुनाया करते हैं, जिनमें इकतरफ़ अपने स्वार्थ का ध्यान होता है। श्रद्धालु लोगों

ऊट-पटाँग क्यों न हों; अतः इन कपोल-कल्पित शास्त्र-रूप शस्त्रों से ये धर्म के ठेकेदार लोग ख़ूब शिकार करते हैं। उपनिषद्, गीता एवं वेदान्त-सूत्र आदि सत्-शास्त्रों के सच्चे अर्थ को कोई न समझने कि जिससे इनकी पोल खुल जाय—इस बात की ये लोग ख़ूब सावधानी रखते हैं। अपने मनमाने भेद-वाद के शास्त्रों के सहारे से ये लोग जनता का सर्वस्व तक छीन लेते हैं—विशेषकर स्त्रियों का जो सतीत्व-रूपी अमूल्य धन होता है, उसे ही हर लेते हैं। यजमान अथवा शिष्य के पास खाने के लिए अन्न भी न हो और पहिनने के लिए वस्त्र भी न हो, परन्तु ये लोग तो उनसे अपने मनमाने धर्म का दण्ड चुकाये बिना नहीं रहते। चाहे कोई चोरी करके धन लावे या किसी को ठग कर अथवा अपना सब-कुछ गिरवी रख कर कर्ज़ उठावे या भीख माँग कर लावे, और चाहे घर के बाल-बच्चे भूखे ही क्यों न मरें, परन्तु इन लोगों की भेंट-पूजा करनी तो लाज़मी होती है। जब किसी के घर में मृत्यु होती है तो उस रोने-चिल्लाने के बीच ही में ये लोग बड़े हर्ष-उल्लास से तरह-तरह के मिष्टान्न भोजन करते हैं। जिसकी मृत्यु हुई हो वह चाहे कितनी ही छोटी उमर का हो, अथवा उसके मरने से घर तबाह हो गया हो और बाल-बच्चे रुल गये हों, उनके पालन-पोषण का कुछ भी प्रबन्ध न हो, तथा उसकी विधवा स्त्री का जीवन नष्ट हो गया हो, परन्तु उस करुणा-जनक दशा पर भी इनको कोई तरस नहीं आता—ये तो अपनी मूछों पर ताव देते हुए माल उड़ाकर दक्षिणा ऐंठ ही लेते हैं। यदि कोई इनकी आज्ञानुसार इनकी माँगों की पूर्ति न करे तो ये लोग क्रोध से आगबबूला हो जाते हैं, और गालियाँ एवं शाप देकर, तथा इस लोक एवं परलोक दोनों के बिगड़ जाने की धमकी देकर बेचारे को विवश कर देते हैं। इनके अन्तःकरण में न किसी बात की ग्लानि होती है, न इन्हें किसी की करुणा-जनक अवस्था पर दया ही आती है। यद्यपि ये लोग दूसरों का तिरस्कार करने के लिए छुआछूत का ढोंग ख़ूब करते हैं, परन्तु इनके अपने शरीर और कपड़ों की शुद्धता ज़रा भी नहीं रहती; ये लोग अधिकतर इतने मैले-कुचैले रहते हैं कि जिनसे स्वच्छ-शुद्ध रहने वाले आदमियों को घृणा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। नैतिकता अथवा शिष्टाचार से इन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। सत्य बोलने और सत्य व्यवहार करने को ये लोग कुछ भी महत्त्व नहीं देते। झूठ, कपट, छल छिद्र [illegible] और [illegible] इनका [illegible] हुआ [illegible] रहता है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] की पुष्टि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, परन्तु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible]।

में भी इनका यही प्रयोजन होता है कि ईश्वर और धर्म के नाम पर खूब स्वार्थ साधा जाय। इनका दावा है कि इनको धनादि पदार्थ देने से और इनकी सेवा-शुश्रूषा एवं पूजा करने से वे सब ईश्वर को पहुँचती हैं, जिससे ईश्वर प्रसन्न होकर उनके पाप क्षमा कर देता है, धन-धान्य-पुत्रादि सुखों की सारी सामग्रियाँ देता है, शत्रुओं पर विजय कराता है और मरने के बाद स्वर्ग और मोक्ष भी देता है, इस तरह भोली-भाली जनता को मिथ्या विश्वास दिलाकर ये लोग ठगते हैं। ये लोग ईश्वर के भी ठेकेदार बन जाते हैं—ठेकेदार ही नहीं किन्तु स्वयं ईश्वर के प्रतिनिधि होने का भी दावा करते हैं। ये लोग परलोक के ठेकेदार बनकर, पारलौकिक सुख और स्वर्ग आदि की प्राप्ति करवाने का भी ठेका लेते हैं, और श्रद्धालु लोगों को यह मुगालता देकर कि यहाँ जो कुछ इनको दिया जाता है, उससे कई गुना अधिक परलोक में मिलता है, उनसे बहुत-सा धन-माल एवं अपने उपयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु दान के रूप में लेते हैं, परन्तु ये लोग खुद परलोक को नहीं मानते—यदि मानते तो परलोक में देने के लिए इतना कर्ज़ा अपने सिर पर नहीं उठाते। भगवान् ने आसुरी सम्पत्ति का जो सबसे पहला लक्षण दंभ अथवा पाखण्ड कहा है, सो इससे बड़ा पाखण्ड और क्या हो सकता है? इनका सबसे बड़ा अनर्थ तो यह है कि ये लोग श्रद्धालु शिष्यों और सेवकों के विवेक-रूपी भीतरी नेत्र फोड़ देते हैं जिससे वे सत्यासत्य का विचार करने योग्य भी नहीं रहते, और अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप के अज्ञान-अन्धकार में रह कर सदा परावलम्बी एवं नाना प्रकार के बन्धनों से जकड़े रहते हैं, जिससे उनकी आत्मा ही की हत्या होती है। धर्मभीरु लोगों को गर्भाधान से लेकर मरने के बाद भी बहुत काल तक अपने बन्धनों से बाँधे रखने के लिए इन्होंने इतने जाल फैला रखे हैं कि वे इनसे किसी भी प्रकार छुटकारा नहीं पा सकते, और संसार का कोई कार्य भी इनके बिना अथवा इनकी आज्ञा के बिना सम्पादित नहीं कर सकते।

जो राज्य-शासन के ठेकेदार हैं, उनमें भी अधिकांश लोगों के आचरण राक्षसी एवं आसुरीपन के हैं। किसान लोग कड़ी गरमी और दारुण शीत में सालभर तक घोर परिश्रम करके जिस फसल को तैयार करते हैं, उसमें से अधिकांश ये लोग अनेक प्रकार के करों (टैक्सों) के रूप में उनसे छीन लेते हैं, और उन बेचारों के पास बहुत ही थोड़ा बचता है, अतः उन्हें बाल-बच्चों सहित आधे पेट भूखे रह कर ही जीवन व्यतीत करना पड़ता है। प्रजा चाहे कितनी ही भूखों मरे, वस्त्रहीन, गृहहीन होकर ऋतुओं की दारुणता से तड़फती रहे, उससे इन लोगों के मन में करुणा अर्थात् दया उत्पन्न नहीं होती—ये लोग तो प्रजा से कर वसूल करके अपने शराब, कबाब, रंडियों से नाच-गान एवं ऐशो-आराम तथा शिकार आदि में मस्त रहते हैं। ग्रामीण जनता

पर छोटे-बड़े ओहदेदारों एवं राज्य-कर्मचारियों के अत्याचार अत्यन्त ही भयंकर होते हैं; किसी राज्य-कर्मचारी का आगमन (दौरा) ग्रामवासियों को यमराज के आगमन-सा अनुभव होता है—न प्रजा के धन की कुशल होती है, न मान की, न शरीर की और न स्त्रियों के सतीत्व की ही। इनके अपने अत्याचारों के अतिरिक्त दूसरे धनी लोग भी अपने धन के ज़ोर से इनसे चाहे जैसे अत्याचार करवा सकते हैं। न्याय-विभाग केवल धनवानों के लिए है। न्याय प्राप्त करने के लिए कोर्ट-फीस के अतिरिक्त वकीलों और बैरिस्टरों की फीस इतनी भारी होती है कि साधारण लोगों की तो न्यायालयों तक पहुँच होनी ही अत्यन्त कठिन होती है, क्योंकि वकील-बैरिस्टरों के बिना किसी की भी सुनवाई नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त न्याय प्राप्त करने के लिए दूसरे इतने खर्च—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में लगते हैं कि जिनका कोई हिसाब नहीं। तात्पर्य यह कि ग़रीबों के लिए न्याय की प्राप्ति असंभव-सी है।

धन के ठेकेदार लोग भी प्रायः राक्षसी-आसुरी आचरण करने में दूसरों से पीछे नहीं रहते। ये लोग अपने हथकण्डों से साधारण लोगों के अत्यन्त परिश्रम से उत्पन्न किये हुए पदार्थों की हेरा-फेरी अर्थात् लेवा-बेची से धन-संग्रह करते हैं, और फिर उसी धन को भोले-भाले ग़रीब लोगों को अधिकाधिक सूद पर देकर उन्हें सदा के लिए अपनी गुलाम बना लेते हैं। सूद के रूप में कर्ज़ से कई गुना अधिक वसूल कर लेने पर भी कर्ज़ा ज्यों का त्यों बनाये ही नहीं रखते, किन्तु बढ़ाये जाते हैं, और जो ग़रीब आदमी एक बार इनके चंगुल में फँस जाता है, वह फिर कभी उसमें निकल नहीं सकता। ग़रीबों का जो कुछ धन और माल उक्त धर्म और शासन के ठेकेदारों की लूट-खसोट से बच जाता है, वह सब ये साहूकार लोग हड़प जाते हैं, और वे बेचारे सब ऐसे ही रोते-बिलखते इन साहूकारों की गुलामी में जीवन व्यतीत करते हैं। ये धनाढ्य लोग अपने धन के ज़ोर से अपने लाभ के लिए कभी लोगों की जीवन-यात्रा के आवश्यकीय पदार्थों का संग्रह करके उन्हें महँगा कर देते हैं, और कभी अपनी सुविधानुसार उन्हें सस्ता कर देते हैं, जिससे साधारण जनता को बड़ी हानि और कष्ट उठाने पड़ते हैं। अपने धन के ज़ोर से ये लोग धर्म के ठेकेदारों और राज्य के ठेकेदारों तथा समाज के ठेकेदारों द्वारा बड़े-बड़े अनर्थ और ज़ुल्म करवाते हैं।

समाज के ठेकेदार इन लोगों के राक्षसी-आसुरी आचरणों की तुलना पूर्वकथित [illegible] प्रकार के ठेकेदारों से [illegible] भी [illegible] अपने [illegible] से दूसरों से कम नहीं उतरते। ये लोग अपने अपने समाज व जाति-बिरादरी पर इनका आतंक बनाये रखते हैं कि वे बेचारे सदा इनसे डरते रहते हैं। ये लोग जब चाहें तब इनको सामाजिक दण्ड दे देते हैं और सामाजिक बहिष्कार का [illegible] लोगों का [illegible]

सामने सदा तैयार रखते हैं। शादी और ग़मी अर्थात् विवाह और मृत्यु से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी कामों में पंच लोगों की आज्ञा एवं उनका सहयोग अनिवार्य होता है। यदि पंचों की अनुमति बिना कोई कुछ कर ले तो वह दण्डनीय होता है। अतः इन अवसरों पर पंचों की खूब बन आती है। जब किसीके घर में मृत्यु हो जाती है, तब तो इनके पौबारह हो जाते हैं। मृत्यु छोटी उमर के नौजवान की हो, या बड़ी उमर वाले की, उसके पीछे बिरादरी अथवा समाज को खिलाना लाज़मी होता है, और समाज को खिलाने के लिए पंचों की दुहायती (आज्ञा) पहले लेनी पड़ती है। उस समय ये लोग उन्हें खूब तंग करते हैं। जिसके घर में मृत्यु होती है उससे ग़रज़-ख़ुशामद करवाने के अतिरिक्त, काफ़ी रिश्वतें लिये बिना ये लोग प्रायः दुहायती (आज्ञा) नहीं देते। फिर उस रोने-चिल्लाने के हाहाकार के बीचमें बैठ कर ये लोग माल उड़ाते और प्रसन्न होते हैं। मरने वाले का तो घर तबाह हो जाता है, और विधवा के लिए तथा बालकों के लिए रोटी का भी कोई प्रबन्ध नहीं रहता, परन्तु ये पंच लोग, जिस तरह मुरदा लाशों पर गिद्ध मंडराते हैं, उसी तरह उन बेचारे दुखियाओं पर मंडराते हैं। अनेक अवसरों पर क़र्ज़ उठाकर बिरादरी को खिलाया जाता है, जिससे बेचारी विधवाओं एवं बच्चों का जीवन ही क़र्ज़ देनेवालों के गिरवी होकर नष्ट हो जाता है। परन्तु बिरादरी के पंच लोगों को इस तरह की करुणाजनक स्थिति पर न कोई तरस आता है, न ग्लानि ही; इनकी निष्ठुरता एवं कठोरता में कोई अन्तर नहीं आता। एक मरने वाले के पीछे अनेकों को मुरदा बनाकर ये लोग प्रसन्न होते हैं। रोते, चिल्लाते और सिसकते हुए कुटुम्बियों के घर पर इस प्रकार माल उड़ाना कितना नृशंस राक्षसी आचरण है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यदि कोई ऐसे अवसरों पर बिरादरी की जीमनवार न करे तो वह समाज में रह नहीं सकता, उसका फ़ौरन बहिष्कार कर दिया जाता है; इसलिए लाचार होकर लोगों को बेमौत मरना पड़ता है। परन्तु ये पंच लोग इस प्रकार के अत्याचार करके भी किसी की किसी प्रकार की सेवा अथवा सहायता नहीं करते, न ये लोग किसी प्रकार से किसी के काम में ही आते हैं। यदि कोई ग़रीब जाति-भाई विपद्ग्रस्त हो या किसी भयंकर रोग से पीड़ित हो तो ये लोग उसकी तरफ़ देखते भी नहीं, परन्तु जब वह मर जाता है तब फ़ौरन उसके घर जाकर दीन-दुखी कुटुम्बियों से बिरादरी की जीमनवार करवाने का आयोजन आरम्भ कर देते हैं।

उपरोक्त चारों प्रकार की ठेकेदारियाँ एक-दूसरे के अत्याचारों में सहायक होती हैं, और एक दूसरे का समर्थन करती हैं। धर्म के ठेकेदार शासकों, धनियों तथा

नहीं कर सकती। यदि काम के वश होकर किसी पुरुष से सहवास कर ले, अथवा दुराचारी पुरुषों द्वारा फुसलाई जाकर या ज़बरदस्ती भ्रष्ट कर दी जाय, तो वह जन्मभर के लिए पतित हो जाती है, और कुलटा एवं व्यभिचारिणी आदि नाना प्रकार के लांछनों से लांछित एवं कलंकित की जाती है; परन्तु उसे भ्रष्ट करने वाले दुराचारी पुरुषों की प्रतिष्ठा और धार्मिकता में रत्तीभर भी फ़र्क़ नहीं आता। इस समाज में पुरुष सब प्रकार से सम्पन्न होता हुआ भी स्त्री के बिना अकेला जीवन-यात्रा करने में असमर्थ समझा जाता है—उसकी सेवा करने वाली और मरने के बाद रोने वाली, एक अथवा एक से अधिक स्त्रियों का होना हर हालत में ज़रूरी है; उसके लिए पुत्र उत्पन्न करना भी लाज़मी है, ताकि वह बुढ़ापे में काम आवे, और मरने के बाद भी परलोक में पिण्डोदक के रूप में खाना-पीना पहुँचाता रहे; और धार्मिक कृत्य सम्पादन करने के लिए भी पत्नी को साथ रखना अनिवार्य रखा गया है। परन्तु स्त्री अबला एवं अशिक्षिता होने के कारण उसके लिए सब अवस्थाओं में पुरुषों के संरक्षण में रहना आवश्यक होते हुए भी, पति-विहीना एवं नि:संतान विधवा पुनर्विवाह करके सनाथ एवं सुरक्षित नहीं बन सकती; मानो विधवा होने पर वह पत्थर की पुतली हो जाती है, इसलिए न तो उसे प्राकृतिक वेगों को शान्त करने की आवश्यकता रहती है, न उसे अपने रक्षण एवं पालन करने वाले पुरुष (पति) की, और न उसे बुढ़ापे में शुश्रूषा करने वाली संतान की ही आवश्यकता रहती है; और मरने के बाद (शायद पत्थर हो जाने से) उसे पिण्डोदक की भी आवश्यकता न रहती होगी! धार्मिक कृत्यों का तो स्त्री को कोई अधिकार ही नहीं रखा।

पुरुष चाहे कितने ही विवाह किये हुए हो, अथवा अविवाहित (कुआँरा) हो या विधुर (रँडवा) हो, कितना ही आचारहीन अथवा दुराचारी हो—वह कभी अमांगलिक नहीं होता, परन्तु स्त्री का एक बार विवाह-संस्कार होने के बाद यदि दुर्भाग्य से पति मर जाय, तो भी वह दुर्भागिनी सदा के लिए अशुभ एवं निरादृता हो जाती है—चाहे वह कितनी ही सदाचारिणी, सती, साध्वी तथा तपस्विनी क्यों न हो, परन्तु वह किसी भी मांगलिक माने जाने वाले कार्य में सम्मिलित नहीं हो सकती। यदि ऐसे अवसरों पर अकस्मात् उसका मुँह दीख जाय तो यह महान् अनिष्टकारक (अपशकुन) माना जाता है। हाँ, रोग और पुरुषों की बीमारी आदि के वक्त में उनकी सेवा करने के लिए वह अवश्य ही काम आती है। एक विधुर भाई किसी अबोध बालिका का सुहागिन [illegible] स्वच्छन्द और [illegible] बनाता [illegible] लिए समाजसम्मत व्यवस्था है, परन्तु अबला सदा [illegible] [illegible] विधवा होकर भी वह [illegible] नहीं कर [illegible] यदि कोई विधवा पुनर्विवाह

करके पुनः सौभाग्यवती हो जाय, तब तो उसका घर और समाज दोनों से काला मुँह हो जाता है—वह मंगल और अमंगल, सबसे गयी-गुजरी समझी जाती है। कितना अन्याय है कि वह सर्वश्रेष्ठ मानवश्रेष्ठ, पशु पक्षियों आदि से भी हीन और अशुभ मानी जाती है। हिंसक पशु-पक्षी भी अपनी संतानों के साथ सदा प्रेम रखते हैं; परन्तु हम लोग अपनी ही संतानों अर्थात् कन्याओं पर इतनी नृशंसता करते हुए भी बड़े धर्मात्मा, बड़े कुलीन, बड़े शिष्ट एवं सभ्य होने का घमण्ड करते हैं।

नीच जाति के माने जाने वाले गरीब भाइयों के साथ हम इतना घृणित बर्ताव करते हैं और उन पर इतने अत्याचार करते हैं कि मानो वे मनुष्य ही नहीं हैं। उनके दर्शन करने से भी हम अपवित्र हो जाते हैं, और यदि उनका स्पर्श हो जाय तब तो हमारे क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहता। हमारी निर्दयता के कारण उनको सुखपूर्वक एक जून खाना और शान्ति से रहना भी नसीब नहीं होता। हम लोग, मूर्तियों अथवा चित्रों को ईश्वर अथवा देवता-स्वरूप मानकर, उनके लिए बढ़िया से बढ़िया खाने, पीने, पहिनने, रहने आदि अनेक प्रकार के भौतिक सुखों की सामग्रियाँ तैयार करने में पदार्थों का बे-हिसाब अपव्यय करना; नदियों, समुद्रों तथा तालाबों आदि में दूध, दही आदि मनुष्योपयोगी पदार्थ बहा देना; और अग्नि में घृत, मेवा आदि पौष्टिक पदार्थ जला देना; तथा देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त बेचारे अबोध एवं मूक पशुओं की बलि देकर (वध करके) मार डालना, बड़े ही धार्मिक कृत्य मानते हैं; परन्तु अपने शारीरिक परिश्रम से अत्यन्त कठिन एवं घृणोत्पादक लोक-सेवा करने वाले दीन-हीन एवं पददलित भाई-बहिन भूखे-प्यासे मरें, अथवा वस्त्रहीन एवं गृहहीन होने के कारण ऋतुओं की कठोरताजन्य शारीरिक कष्टों से पीड़ित रहें, तो कोई अधर्म नहीं मानते, और उनके लिए कुछ भी व्यवस्था करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते। अपने मरे हुए संबंधियों के पीछे भात आदि के बड़े-बड़े भोज करना, [illegible]

तन धर्म समझा जाता है। परन्तु अछूत माने जाने वाले स्त्री-पुरुषों को उनकी अतुलनीय सेवाओं के बदले थोड़ा-बहुत बचा-खुचा बासी-सूखी, सड़ा-गला, निकम्मा एवं उच्छिष्ट अन्न तिरस्कार-सहित फेंक दिया जाता है, जिससे उनका पेट नहीं भरने के कारण विवश होकर उन्हें अखाद्य वस्तुएँ खानी पड़ती हैं—जिनके लिए उलटे वे ही दोषी ठहराये जाते हैं। देवस्थानों और भोजनालयों आदि पवित्र माने जाने वाले स्थानों में बिल्ली, चूहे, मक्खी, कीड़े, चींटी आदि जन्तु प्रवेश करके मैला फैलाते रहें, उससे धर्म में कोई त्रुटि नहीं आती और न चौका ही बिगड़ता है, परन्तु एक अछूत माने जाने वाले नर-नारायण की देह की कहीं छाया भी पड़ जाय तो चौका और धर्म दोनों ही बिगड़ जाते हैं।

अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिए तथा अपनी मान-प्रतिष्ठा और बड़प्पन का थोथा ढोल पीटने के लिए हम लोग कई प्रकार के राजसी-तामसी ठाठ के धार्मिक और सामाजिक आडम्बरों के समारोह किया करते हैं, जिनमें अनाप-शनाप धन का अपव्यय करते हैं, जिसकी पूर्ति के लिए १२ वें श्लोक में कहे हुए अन्यायपूर्ण साधनों से *धन-संचय करते हैं। सारांश यह कि* १० वें श्लोक से १८ वें श्लोक तक जो आसुरी प्रकृति के लक्षण कहे हैं वे अधिकांश में हम लोगों पर ही घटते हैं।

उपरोक्त वर्णन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हम लोग सबके-सब ही उपरोक्त आसुरी-राक्षसी प्रकृति के हैं। हममें से बहुत से लोग दैवी प्रकृति के भी हैं, जिनके कारण ही समाज का महत्त्व कुछ-कुछ अब तक भी बना हुआ है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के बनाव में किसी भी एक गुण का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता। परन्तु सत्त्वगुण प्रधान प्रकृति के सज्जन पुरुष वर्तमान में बहुत थोड़े अर्थात् अपवाद-रूप में हैं। जो ऐसे सम्माननीय अपवाद हैं उनसे समाज का गौरव है। परन्तु यहाँ उनकी प्रशंसा करने का कोई प्रसंग नहीं है। यहाँ अपने अवगुणों पर ध्यान देकर उनको दूर करने के प्रयत्न में लगाने का प्रसंग है, इसलिए उन अवगुणों का प्रदर्शन ही आवश्यक है। अवगुणों को छिपाये और दबाये रखने से वे दूर नहीं हो जाते। अपने भूतकाल की श्रेष्ठता और बड़प्पन के ढोल पीटने, और वर्तमान की *शोचनीय अवस्था* को छिपाये रखने से काफ़ी से अधिक हानि हो चुकी है। अब उस मिथ्या अहंकार और दम्भ के लिए समय नहीं रहा है। इसलिए अपनी निर्बलताओं को निकाल कर आत्म-शुद्धि करनी चाहिए, और भगवान् के *उपदेशों के अनुसार अहंकार, घमण्ड,* ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से ऊपर उठ कर, तथा भिन्नता के भावों को छोड़ कर सबके साथ एकता के प्रेम का बर्ताव करने में लगना चाहिए।

॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥

उपयोगिता बताने का है। सारांश यह कि सात्त्विक आहार, यज्ञ, तप और दान समत्व-योग के प्रधान साधन हैं।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—अर्जुन ने पूछा कि हे कृष्ण ! जो (पुरुष) शास्त्र विधि को छोड़ कर श्रद्धा से युक्त हुए, यजन अर्थात् धार्मिक कृत्य करते हैं, उनकी निष्ठा कौनसी है— सात्त्विकी, राजसी या तामसी ? तात्पर्य यह कि जो लोग सत् शास्त्रों में वर्णित सर्वथा शुभता के साम्य-भावयुक्त आचरण करने के विधान पर ध्यान न देकर केवल श्रद्धा के आधार पर हवन-यज्ञ, सन्ध्या-वन्दन, पूजा पाठ, नित्य कर्म आदि धार्मिक कृत्यों में लगे रहते हैं उनके जीवन की स्थिति सात्त्विक राजस और तामस में से कौनसी होती है ? [illegible] श्री भगवान बोले कि [illegible] [illegible]

की स्थिति किस प्रकार की होती है ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की श्रद्धा अथवा भावना ही अपने-अपने पूर्व के संस्कारानुसार सात्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है, और जिसकी जैसी श्रद्धा अथवा भावना होती है, उसीके अनुसार उसका जीवन सात्विक, राजस और तामस होता है; क्योंकि मनुष्य श्रद्धा अथवा भावनामय ही होता है (२-३)। सात्विक लोग देवों की आराधना करते हैं, राजसी लोग यक्षों एवं राक्षसों की, और तामसी लोग प्रेतों एवं भूतगणों की पूजा करते हैं। तात्पर्य यह कि सात्विकी श्रद्धा वाले लोग सबकी भलाई अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त जगत् को धारण करने वाली दैवी शक्तियों की आराधना करने के लिए इस अध्याय के श्लोक ११ वें में वर्णित सात्विक यज्ञ करते हैं, तथा माता-पिता आदि प्रत्यक्ष देवों की निस्स्वार्थ-भाव से पूजा करते हैं। राजसी श्रद्धा के लोग अपनी व्यक्तिगत कामनाओं की सिद्धि के लिए धन-सम्पत्ति के अधिकारी माने जाने वाले कुबेरादि अदृष्ट यक्षों की उपासना करते हैं, तथा प्रत्यक्ष में धनवान् मनुष्यों की खुशामद करते हैं; और अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए द्वेष-पूर्वक हिंसा करने वाले अदृष्ट राक्षसों की उपासना करते हैं, तथा सोलहवें अध्याय में वर्णित आसुरी एवं राक्षसी प्रकृति के मनुष्यों का आश्रय लेकर उनका अनुकरण करते हैं। और तामसी श्रद्धा के लोग परलोक-गत अदृष्ट प्रेतों और भूतों को मान कर उनकी उपासना करते हैं, अर्थात् मरे हुए पितरों के निमित्त श्राद्ध-तर्पण आदि पितृ-कर्म करते हैं; और पांचभौतिक पदार्थों में देवी-देवता, भैरव, भूत आदि की भावना करके उनका पूजन करते हैं, अथवा भौतिक जड़ पदार्थों ही को सब-कुछ मान कर भौतिकता (Materialism) के उपासक होते हैं (४)। जो लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर काम, राग और हठ-पूर्वक सत्-शास्त्रों के विरुद्ध घोर तप करते हैं, (व) मूर्ख लोग शरीर में स्थित भूत-समुदाय को कृश करते हैं और शरीर के अन्दर रहने वाले मुझको भी (कष्ट देते हैं), उनको आसुरी श्रद्धा के जानो। तात्पर्य यह कि जो अत्यन्त रूढ़ तामस प्रकृति के मूर्ख लोग अपने उत्कर्ष होने के अहंकार से [illegible]

[illegible]

स्पष्टीकरण—इन श्लोकों में उन लोगों के जीवन की स्थिति का वर्णन किया गया है, जो केवल श्रद्धा-विश्वास के आधार पर धार्मिक कृत्य आदि किया करते हैं। चौदहवें अध्याय में कह आये हैं कि यह जगत् त्रिगुणात्मक प्रकृति का बनाव है, इसलिए इसके सभी व्यवहार त्रिगुणात्मक होते हैं। उसी सिद्धांत के अनुसार धार्मिक कृत्य करने वाले श्रद्धालु लोगों की श्रद्धा भी सात्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है। जिनकी सात्विकी श्रद्धा होती है वे अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की किसी भी प्रकार की कामना के बिना, निस्स्वार्थ-भाव से लोक-हित के लिए संध्या-वन्दन, पंचमहायज्ञ, हवन, पूजा-पाठ आदि धार्मिक कृत्य करना आवश्यक समझ कर, उनके द्वारा जगत् को धारण करने वाली समष्टि दैवी शक्तियों का यजन-पूजन करते हैं, जिनसे उनको यह विश्वास होता है कि देवता लोग प्रसन्न होकर सबकी आवश्यकताएँ पूरी करेंगे; तथा वे सात्विक-श्रद्धावान् लोग अपने माता-पिता, गुरु, अतिथि, एवं जिनमें दैवी सम्पत्ति के गुण पूर्णतया विद्यमान् हों, ऐसे पुरुष—जो प्रत्यक्ष देव माने जाते हैं, उनकी भी निस्स्वार्थ-भाव से, श्रद्धा एवं आदर-सत्कारसहित सेवा-शुश्रूषा आदि करते हैं। जिनकी राजसी श्रद्धा होती है वे लोग अपनी व्यक्तिगत कामनाओं की पूर्ति के निमित्त, जो धन-सम्पत्ति देने वाले परोक्ष देवता माने जाते हैं और जिन्हें यक्ष कहते हैं—उनको प्रसन्न करने के लिए सकाम कर्मकाण्ड करते हैं, तथा अपने शत्रुओं का नाश करने और दूसरे लोगों को दबाने के लिए अदृष्ट राक्षसी शक्तियों की कल्पना करके मैले मन्त्रों आदि द्वारा उनकी उपासना करते हैं; और वे राजसी श्रद्धा के लोग प्रत्यक्ष में भी उपरोक्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिए धनी लोगों की तथा दुष्ट अत्याचारी शक्ति-सम्पन्न लोगों की खुशामद करते हैं एवं उनके अनुयायी बनते हैं। जो तामसी श्रद्धा के लोग हैं वे अपने मरे हुए सम्बन्धियों को भयावनी प्रेत योनि प्राप्त होने की कल्पना करके उनसे डरते हुए, उनको प्रसन्न करने के लिए उनका पूजन करते हैं, तथा परलोक-गत पितरों को इस लोक के पदार्थ पहुँचाने के अन्ध-विश्वास से नाना प्रकार के श्राद्ध तथा पितृ-कर्मों के समारोह करते हैं एवं उन पितरों की संवत्सरी आदि के दिन उनको याद कर-करके रोने और शोक मनाने द्वारा उनकी उपासना करते हैं; और वे तामसी श्रद्धा के लोग भौतिक जड़ पदार्थों में ही देवी-देवता, भूत, भैरव आदि की मान्यता करके उनसे अपने मनोरथों की सिद्धि होने की आशा से उनका पूजन करते हैं अथवा पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश-रूप पञ्च महाभूतों के सम्मिश्रण के बनाव ही को सब-कुछ मान कर इन जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में निमग्न रहते हैं अर्थात् भौतिक विज्ञान के अनन्य भक्त होते हैं और जो आसुरी दर्शन के लोग होते हैं उनकी श्रद्धा अत्यन्त उग्र तामसी

अर्थ—और आहार भी सबको (अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार) तीन प्रकार का प्रिय होता है; (इसी प्रकार) यज्ञ, तप तथा दान भी (तीन प्रकार के) होते हैं; उनके अलग-अलग भेद के इस वर्णन को सुन (७)। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसदार, चिकने, अधिक ठहरने वाले और हृदय को बल देने वाले आहार सात्त्विक व्यक्ति को प्यारे होते हैं। तात्पर्य यह कि जिस खान-पान से शरीर की आयु, विवेक, बल और स्वास्थ्य बढ़ें, जिससे सुख की वृद्धि हो, और परस्पर में प्रेम-भाव बढ़े, जिसमें मधुर-रस तथा घृत-मक्खन आदि चिकने पदार्थों की प्रधानता हो, तथा जिससे बहुत काल तक तृप्ति बनी रहे, एवं जो हृदय को बलदायक हो—वह भोजन सात्त्विक होता है। सात्त्विकी प्रकृति के लोगों को ऐसा भोजन प्यारा लगता है, और जो लोग अपने में सत्त्वगुण की वृद्धि करना चाहें उनको ऐसा भोजन करना चाहिए (८)। कड़वे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, तीखे, दाह उत्पन्न करने वाले आहार—जो दुःख, शोक तथा रोग के देने वाले होते हैं, वे (राजस आहार) राजस स्वभाव के व्यक्ति को प्यारे लगते हैं। तात्पर्य यह कि बहुत कड़वे, बहुत खट्टे, बहुत खारे, बहुत गरम, बहुत तीखे, रूखे तथा शरीर में दाह उत्पन्न करने वाले खान-पान से उत्तेजना, दुःख और शोक उत्पन्न होते हैं, तथा उस भोजन से अनेक प्रकार की बिमारियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः वह राजस भोजन है। ऐसे भोजन से रजोगुण की वृद्धि होती है, और रजोगुणी प्रकृति के लोगों को इस प्रकार के भोजन प्रिय एवं अच्छे लगते हैं (९)। ठंडा-बासी, नीरस, दुर्गन्धियुक्त, बिगड़ा हुआ, जूठा और अशुद्ध भोजन तामसी लोगों को प्यारा होता है। तात्पर्य यह कि जो भोजन बहुत देर का पकाया हुआ हो, जिसका रस सूख गया हो, जिसमें दुर्गन्धि उत्पन्न होगई हो, जिसका स्वाद बिगड़ गया हो, जो दूसरे किसी ने खाकर छोड़ा हो अथवा दूसरे किसी का चखा हुआ हो, जो अच्छी तरह साफ किया हुआ न हो, किन्तु मैला-कुचैला हो—वह तामस भोजन है। ऐसे भोजन से तमोगुण की वृद्धि होती है, और तामसी प्रकृति के लोगों को यह भोजन अच्छा लगता है (१०)।

स्पष्टीकरण—जगत के व्यवहार के लिए भोजन की व्यवस्था भी अत्यावश्यक है, क्योंकि शरीर का अस्तित्व भोजन पर ही निर्भर है, भोजन करने से ही शरीर इन्द्रियाँ, मन बुद्धि आदि अपने अपने व्यापार करने योग्य होते हैं, भोजन के बिना सभी शिथिल और व्याकुल हो जाते हैं फिर इनसे कुछ भी नहीं हो सकता। अच्छे अथवा बुरे भोजन का असर शरीर इन्द्रियाँ मन एवं बुद्धि पर इतना पड़ता है कि जैसा भोजन किया जाता है उसी के अनुसार मनुष्य का स्वभाव बन जाता है इसलिए खान पान के विषय में मनुष्य को बहुत ही सावधानी और संयम

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि पदार्थों के संस्कार करने, अर्थात् उन्हें पकाने आदि की विधि, और उनके उपयोग के अनुसार उनके गुणों में कमी-बेशी अथवा फेरफार भी हो जाता है। उदाहरणार्थ—मिश्री, शहद, दूध, मलाई, मक्खन, घी आदि मधुर रस वाले एवं चिकने पदार्थ यद्यपि साधारणतया सात्विक होते हैं, परन्तु बहुत काल तक पड़े रहने से, अथवा अधिक पकाने से, अथवा कम पकाने से, अथवा मात्रा से अधिक खा लेने से वे ही राजस-तामस हो जाते हैं। इसी तरह अजीर्ण आदि बिमारियाँ हो जाने पर कड़वे, खट्टे, खारे, तीखे आदि राजस पदार्थ खाना भी हितकर होता है, और रूखा भोजन पथ्य होता है, तथा किसी अवसर पर ताजा भोजन न मिले तो बासी एवं सूखे भोजन से भूख की ज्वाला शान्त करके शरीर की रक्षा करना श्रेयस्कर होता है। यदि किसी दूसरे के घर भोजन किया जाता है, तो उसके आचरणों का असर भी भोजन पर पड़ता है, तथा भोजन बनाने वाले की प्रकृति का भी थोड़ा-बहुत असर अप्रत्यक्ष रूप से भोजन में आये बिना नहीं रहता। इसलिए भगवान् ने भोजन के किसी विशेष पदार्थ की कैद नहीं रखी है, किन्तु साधारणतया आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाले भोजन को सात्विक कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि चाहे खाद्य पदार्थ कुछ भी हों, उनमें ये गुण होने से वे सात्विक होते हैं; दूसरी तरफ़ रोग, दुःख, शोक, आलस्य और प्रमाद के बढ़ाने वाले खाद्य पदार्थ राजस और तामस होते हैं।

मनुष्य के स्वभाव पर खान-पान का गहरा प्रभाव पड़ता है; इसलिए आर्य-संस्कृति में खाद्याखाद्य के विषय में बहुत बारीकी से विचार किया गया है और आहार की शुद्धि पर बड़ा ज़ोर दिया गया है। यहाँ तक विधान किया गया है कि नीति से उपार्जन किये हुए आहार से बुद्धि निर्मल रहती है, और अनीति से प्राप्त आहार से बुद्धि मलिन होती है, तथा दुराचारी मनुष्य के घर का एवं दुराचारी मनुष्य के हाथ का भोजन करना मना है। परन्तु वर्तमान समय में आर्य-संस्कृति को मानने वाले लोग आहार-शुद्धि के रहस्य पर समुचित विचार नहीं करते, अतः खान-पान के विषय में बहुत ही विपर्यास हो गया है।

पुराने विचारों के अन्ध-परम्परावादी लोग खान-पान के विषय में केवल छुआछूत, जाति-पाँति और कच्चा-पक्की आदि के विचारों को ही विशेष महत्त्व देते हैं—खाने-पीने की सामग्री के गुण-अवगुण तथा उसकी शुद्धता पर बहुत कम ध्यान देते हैं। दूसरी तरफ नई रोशनी के लोग आहार-शुद्धि के विचार को ही ढकोसला मानते हैं, अतः जो कुछ स्वादिष्ट लगे और फ़ैशन के अनुकूल हो, उस पदार्थ के खाने-पीने से कोई परहेज़ नहीं करते। इसलिए आहार की व्यवस्था द्रुत बिगड़ रही है

गया है, उसके अभिप्राय को कुछ भी न समझ कर, उसके विपरीत, मूर्ख-धान् आदि पदार्थों से मूर्खों के पेट की ज्वाला शान्त न करके, जो मूढ़ता से हवन के नाम पर अग्नि में उन पदार्थों को जलाया जाता है, और अभेद-प्रतिपादक वेदों तथा उपनिषदों के वचनों की अवहेलना करके स्वार्थी लोगों की चिकनी-चुपड़ी बातों के जाल में फंस कर यज्ञ के नाम से जो पशुओं की हत्या और द्रव्य का अपव्यय किया जाता है, जिससे किसी का भी लाभ अथवा उपकार नहीं होता—वह तामस यज्ञ है (१३)।

स्पष्टीकरण—इन तीनों श्लोकों में जो तीन प्रकार के यज्ञों की व्याख्या की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि सच्चा यज्ञ वह है, जो अभेद-प्रतिपादक सत्‌शास्त्रों में विधान किया गया है। उन शास्त्रों का सिद्धान्त है कि यह सारा जगत् एक ही आत्मा अथवा परमात्मा के अनेक रूप हैं, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के साथ अपनी एकता के प्रेमपूर्वक सहयोग रखते हुए, जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने रूपी यज्ञ अवश्य करना चाहिए। परन्तु इस एकता के रहस्य के अज्ञान के कारण मनुष्य में जो दूसरों से अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि का भाव रहता है, वह मनुष्यपन नहीं किन्तु पशुपन है, क्योंकि पशु-शरीर में बुद्धि का विशेष विकास नहीं होता, इसलिए उसको सबकी एकता का ज्ञान नहीं हो सकता; परन्तु मनुष्य-शरीर में बुद्धि का विकास होने पर भी, वह यदि अपने पृथक् व्यक्तित्व के भाव में डूबा रहे तो यह उसका मनुष्यपन नहीं किन्तु पशुपन है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने व्यक्तित्व के भाव-रूपी पशुपन को सबकी एकता-स्वरूप परमात्म-भाव-रूपी अग्नि में होमने का यज्ञ करे, अर्थात् वह वेदों और उपनिषदों के अभेद-प्रतिपादक मन्त्रों में श्रद्धा करके सबकी एकता के विश्वास-पूर्वक अपने पृथक् व्यक्तित्व को सबके साथ जोड़ कर अपने स्वार्थों को दूसरों के स्वार्थों के अन्तर्गत समझे, तथा सबकी भलाई एवं सबके हित में अपनी भलाई एवं अपना हित समझ कर सबके हित की भावना से अपने-अपने शरीर की योग्यता-नुसार चातुर्वर्ण्य-विहित अपने कर्तव्य-कर्म करे, अथवा ईश्वर की उपासना करे तो इस भाव से करे कि ईश्वर सबका कल्याण करे, सबको सुबुद्धि दे, सबको श्रेष्ठाचारी बनावे, इत्यादि और हवन आदि द्वारा देवताओं की आराधना करे तो उन देवताओं को एक ही आत्मा अथवा परमात्मा की अनेक शक्तियाँ समझ कर उनसे सबकी आवश्यकताएँ पूरी होने के भाव से उनकी आराधना करे। तात्पर्य यह कि जो धार्मिक कृत्य किये जायँ, वे भी दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहङ्कार से तथा केवल अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के भाव से न किये जायँ, किन्तु अपने को जगत् रूपी विराट् शरीर का एक अंग समझ कर सबकी भलाई का लक्ष्य रखते हुए किये जायँ,

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अर्थ—देव, ब्राह्मण, बड़े और बुद्धिमान् का पूजन, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—(यह) शारीरिक तप कहा जाता है। तात्पर्य यह कि माता, पिता, गुरु, अतिथि, और स्त्री के लिए पति, तथा जिन व्यक्तियों में दैवी सम्पत्ति के गुणों की अधिकता हो—इन सबको प्रत्यक्ष देव मान कर, इनका यथायोग्य आदर-सत्कार एवं सेवा-शुश्रूषा आदि द्वारा पूजन करना *, तथा अठारहवें अध्याय के ४२ वें श्लोक में वर्णित गुणोंवाले ब्राह्मणों का, तथा जो आयु, विद्या, ज्ञान आदि गुणों में बड़े हों उनका, तथा जो अपनी बुद्धिमत्ता के लिए विख्यात हों ऐसे लोगों का, आदर-सत्कार एवं सेवा शुश्रूषा आदि रूप से पूजन करना; शरीर को पवित्र और निर्मल रखना; किसी से टेढ़ेपन, रूखेपन अथवा अकड़न का बर्ताव न करना; इन्द्रियों के सभी विषयों में—खासकर स्त्री-पुरुष के संयोग के विषय में—संयम रखना; कोई ऐसा व्यवहार नहीं करना कि जिससे किसी निर्दोष प्राणी को बिना कारण पीड़ा या हानि हो—ये शरीर के तप हैं (१४)। ऐसे वचन बोलना, कि जिनसे उद्वेग उत्पन्न न हो, तथा जो सच्चे, प्यारे एवं हितकर हों, और विद्याध्ययन के अभ्यास में लगे रहना—यही वाणी का तप कहा जाता है। तात्पर्य यह कि वचन ऐसे बोलना कि जिनसे

* मातृ-पितृ भक्ति, गुरु भक्ति, पातिव्रत आदि गुणों का विशेष विवरण बारहवें अध्याय के स्पष्टीकरण में देखिए।

बिना कारण किसी के मन में उद्वेग उत्पन्न न हो, और जो सत्य होने के साथ-साथ प्यारे, मीठे और हितकर हों, अर्थात् वाणी में कठोरता, कडुआपन, टेढ़ापन एवं रूखापन न हो, तथा किसी की बुराई करने के भाव न हों; और विद्याध्ययन करना—यही वाणी का तप है (१५)। मन की प्रसन्नता, सौम्य-भाव, मननशीलता, संयम और अन्तःकरण की शुद्धि—यह मन का तप कहा जाता है। तात्पर्य यह कि मन को सदा प्रसन्न, शान्त और शीतल बनाये रखना; जो विषय देखे या सुने उनका अच्छी तरह मनन करना; विषयों में आसक्त न होना; तथा छल-कपट, दम्भ, कुटिलता आदि मलिन भावों से रहित होना—यह मन का तप है (१६)। फल की इच्छा से रहित और सबकी एकता के साम्य-भाव में जुड़े हुए मनुष्यों द्वारा परम श्रद्धा से किया हुआ यह तीन प्रकार का तप सात्विक कहलाता है। तात्पर्य यह कि सबके साथ एकता के साम्य-भाव से युक्त होकर, ऊपर कहा हुआ तीन प्रकार का तप अर्थात् शिष्टाचार, इस सात्विक श्रद्धा से किया जाय कि उक्त शिष्टाचार का पालन करना अपना सच्चा कर्तव्य है, तथा उसमें किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना न रखना—यह सात्विक तप होता है (१७)। जो तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने के निमित्त पाखण्ड से किया जाता है, उस अस्थिर और अनिश्चित तप को यहाँ राजस (तप) कहा है। तात्पर्य यह कि आदर, सम्मान, प्रतिष्ठा अथवा भेंट-पूजा की प्राप्ति के उद्देश्य से अथवा केवल लोक-दिखावे के लिए उपरोक्त तप अथवा शिष्टाचार का जो ढोंग कपट-पूर्वक किया जाता है, वह चंचल और अनिश्चित होता है—कभी किया जाता है, कभी नहीं किया जाता; कभी किसी प्रकार से किया जाता है, कभी दूसरे किसी प्रकार से; जिस समय जिस तरह करने से सत्कार, मान, पूजा अथवा धन की प्राप्ति होने की आशा होती है, उस समय उस प्रकार से किया जाता है, और जब ऐसी आशा नहीं होती, तब नहीं किया जाता—यह राजस तप होता है (१८)। मूर्खतापूर्ण दुराग्रह से शरीर और मन को पीड़ा देकर, अथवा दूसरों का बुरा करने के लिए जो तप किया जाता है, उसे तामस (तप) कहते हैं। तात्पर्य यह कि [illegible]-उपवास आदि करके भूखे-प्यासे रहने द्वारा अथवा सर्दी-गर्मी सहन करने द्वारा शरीर को [illegible] जो तप [illegible] अथवा दुराग्रह से किया जाता है अथवा जो दूसरों के [illegible] उच्चाटन [illegible] के बुरे उद्देश्य से किया जाता है—वह तामस तप होता है। [illegible]

[illegible] किया गया है वह वास्तव में [illegible] शिष्टाचार [illegible] शिष्टाचार को ही तप मानने [illegible] हुवे, [illegible]
[illegible]

इन प्रत्यक्ष देवों की, तथा जिन सज्जनों में दैवी सम्पत्ति के गुणों की प्रधानता हो उनकी, तथा विद्या और विनय से सम्पन्न श्रेष्ठाचारी आचार्यों की, तथा बड़े-बूढ़ों की, एवं बुद्धिमान् पुरुषों की विनम्र-भाव से आदर-पूर्वक वन्दना और सेवा-शुश्रूषा करना, उनका लिहाज़ रखना, उनके साथ कोई ऐसा बर्ताव न करना कि जिससे उनके मन में आघात पहुँचे या वे अप्रसन्न हों; शरीर को स्वच्छ रखना तथा साफ़-सुथरे वस्त्र पहिनना—मैले-कुचैले न रहना; लोगों के साथ सरलता, नम्रता और मधुरता का बर्ताव करना, किसी से कठोरता, रूखेपन, लापरवाही, निष्ठुरता अथवा कुटिलता का बर्ताव न करना; सभी इन्द्रियों के विषयों में संयम रखना, किसी भी इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर कोई अनुचित व्यवहार न करना—खासकर अपनी स्त्री अथवा अपने पुरुष के सिवाय अन्य किसी स्त्री अथवा पुरुष के साथ सहवास-सम्बन्धी किसी प्रकार की चेष्टा न करना, अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा बिना कारण ही किसी भी प्राणी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना तथा किसी की जान-बूझकर हानि न करना; सच्ची, मीठी और हितकर वाणी बोलना, अपनी तरफ़ से किसी को चुभने वाले अथवा उद्वेग उत्पन्न करने वाले अथवा किसी का तिरस्कार अथवा अपमान करने वाले अथवा कडुए एवं रूखे वचन मुख से नहीं कहना; सद्विद्याओं और सत्-शास्त्रों का अध्ययन करना; मन को सदा प्रफुल्लित, शान्त और शीतल रखना; दूसरों की बातों को अच्छी तरह ध्यान देकर सुनना, उनका तिरस्कार न करना; मन को चंचल होने से रोकना, तथा क्रूर, कपट, छल आदि विकारों से रहित रखना—यह आर्य-संस्कृति का शिष्टाचार है। यह शिष्टाचार भी अपनी किसी प्रकार की प्रयोजन-सिद्धि के उद्देश्य से अथवा केवल ऊपरी दिखावे-मात्र के लिए न हो, किन्तु सबके साथ एकता के प्रेम-भाव से समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक और कर्तव्य समझ कर सहज स्वभाव से किया जाय, तभी यह सच्चा तप कहा जाता है। यदि यही शिष्टाचार अपनी किसी प्रकार की मान-बड़ाई अथवा स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से कपट के साथ किया जाय तो वह तप नहीं होता, किन्तु पाखण्ड होता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि गीता में उपरोक्त शिष्टाचार ही सच्चा तप माना गया है। वर्तमान समय में आम-तौर से तप का जो अभिप्राय शरीर को सुखाने, शिथिल करने अथवा पीड़ा देने की नाना प्रकार की चेष्टाएँ करना समझा जाता है—जिस तरह निराहार एवं निर्जल व्रत-उपवास आदि करना, शीत काल में आश्रय और वस्त्ररहित रहना तथा शरीर पर ठंडा पानी डालना, गरमी में कड़ी धूप में तपती हुई रेत में और अग्नि के सम्मुख बैठना यानी पंचधूनी तापना, कठिन और नुकीली चीज़ें शरीर में चुभाना, दीर्घ काल तक खड़े रहना या कठिन आसन करके किसी एक स्थिति में बैठे रहना, पैर ऊपर और सिर नीचे करके औंधे लटकना, कंकर-पत्थर की भूमि पर लेटना नख-केश आदि बढ़ाना, शरीर पर

इस लोक तथा परलोक के परोक्ष फल मिलने के उद्देश्य से जो दान दिया जाय, अथवा अपनी उदारता दिखाने तथा कीर्ति प्राप्त करने के लिए अपनी सामर्थ्य से अधिक, अथवा कर्ज लेकर जो दान दिया जाय, जिससे स्वयं देनेवाले को कष्ट भोगना पड़े—वह राजस दान है (२१)। अयोग्य देश और अयोग्य काल में कुपात्रों को सत्कार के बिना, तिरस्कार-पूर्वक जो दान दिया जाता है—वह तामस दान कहा गया है। तात्पर्य यह कि जिस देश और जिस काल में जिन व्यक्तियों को जिस पदार्थ की आवश्यकता ही न हो, अथवा जिसके बिना उनको कोई कष्ट, हानि या अनिष्ट न हो, अथवा जिसके देने से उसका दुरुपयोग होता हो, अथवा जिस दान से दान लेने वाले का तथा दूसरों का अनिष्ट होता हो और जनता में अनाचार बढ़ता हो, तथा जो दान दानीपन के अहंकार से दूसरों का तिरस्कार करके दिया गया हो—वह तामस दान होता है (२२)।

स्पष्टीकरण—यज्ञ और तप की तरह दान भी समाज की सुव्यवस्था के लिए बहुत ही आवश्यक है; परन्तु वही दान समाज के लिए हितकर होता है, जो उपरोक्त सात्विक भाव से दिया जाता है; अर्थात् देने वाले के मन में यह भाव हो कि "मेरे पास जो भी कुछ देने योग्य है, वह मुझे सबके सहयोग से प्राप्त हुआ है, इसलिए इसमें सबका साझा है, और वह मेरी ही तरह दूसरों के भी उपयोग में आना चाहिए"—इस विचार से वह अपने अधीनस्थ पदार्थों को दूसरों के हित के लिए दे; और उनके देने में न तो अपने स्वत्व का अहंकार रख कर लेने वालों पर कोई एहसान का भाव दिखावे, और न उनसे किसी प्रकार का बदला लेने अथवा किसी भी प्रकार की स्वार्थ सिद्धि करने के भाव रखे तथा इस बात की बहुत सावधानी रखे कि जो कुछ दिया जाय उसका अच्छी तरह सदुपयोग हो, अर्थात् वह न तो निरर्थक जाय और न उससे किसी की हानि अथवा बुराई हो, और इस तरह का दान न दिया जाय कि दान लेने वाला सुद तथा उसके बाल-बच्चे दान होकर कष्ट पावें और कर्जदार हो जावें दूसरी तरफ, अपने दान देने के घमण्ड में दूसरों को नीचे देखकर अथवा दूसरों का अपमान करके उन्हें लज्जित एवं उद्विग्न न करे।

दान के विधान के मुख्य दो प्रयोजन हैं—एक तो दाता को त्याग का अभ्यास होता है, जिससे उसके मन में आसक्ति कम होती है और दूसरा, जिन लोगों के पास अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन न हों तथा जिनमें अपना वास्तविक उत्थान करने की सामर्थ्य न हो, उनको दूसरे लोग अपनी-अपनी योग्यतानुसार सहायता देकर उनकी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति कराने तथा उनका वास्तविक उत्थान कराने में सहयोग दें, न कि समाज और जगत में

अनुचित विषमता-जन्य अव्यवस्था उत्पन्न न हो, किन्तु समता एवं सुख-शान्ति बनी रहे। इसलिए दान की योग्यता का माप उसकी मात्रा से नहीं होता, किन्तु देने वाले के भाव, देने की विधि और दान के उपयोग से होता है। अधिक सामर्थ्यवालों के अधिक मात्रा के दान की जितनी योग्यता होती है, उतनी ही कम सामर्थ्यवालों के कम मात्रा के दान की होती है—यदि दान उपरोक्त सात्त्विक भाव से देश, काल और पात्र का अच्छी तरह विचार करके दिया जाय। अतः थोड़ी सामर्थ्यवालों को यह संकोच कदापि न करना चाहिए कि इतने से क्या दिया जाय, अथवा इतने-से दान से क्या उपकार होगा? जिनके पास द्रव्यादि पदार्थ न हों—विद्या, बुद्धि, बल, कला, ज्ञान आदि गुण हों, वे अपने उन गुणों का दान कर सकते हैं। जैसे, विद्वान् लोग विद्या पढ़ाने द्वारा, बुद्धिमान् लोग सद्विचारों एवं शुभसम्मतियों द्वारा, बलवान् लोग निर्बलों की भय से रक्षा करने द्वारा, कलावान् लोग कलाओं को सिखाने द्वारा लोगों का हित कर सकते हैं और ज्ञानी पुरुष ज्ञान के उपदेशों द्वारा लोगों को संसार-भय से मुक्त करने या शान्ति पहुँचा सकते हैं। अभय-दान की महिमा सब दानों से अधिक है। परन्तु वर्तमान समय में इस देश के लोगों का ध्यान दान के इस यथार्थ सिद्धान्त की तरफ बहुत कम रहता है, इसलिए राजस-तामस दान की बहुत भरमार हो रही है।

जो पुराने विचार के लोग धार्मिक अन्ध-विश्वासों में कट्टरता रखते हैं, वे दान को, या तो एक धार्मिक विधि मानते हैं, या उसे इस लोक तथा परलोक में सुख सम्पत्ति प्राप्त कराने का साधन समझते हैं। इसलिए उनका दान इस प्रकार का होता है, कि जिससे [illegible]

दूसरे से बढ़कर क्षेत्र (पेत्र अर्थात् अन्नसत्र) लगाते रहते हैं। उन मन्दिरों में भोग प्रसाद तथा पूजन-अर्चन की ढेर-की-ढेर सामग्रियाँ पहुँचाते रहते हैं, और दूध, दही, घी, खाण्ड आदि मूल्यवान् खाद्य पदार्थ नदियों में बहाते हैं। उपरोक्त पर्वों तथा उत्सवों के अवसर पर उक्त ब्राह्मण, साधु आदि भिखमंगों को मिष्टान्न भोजन करवाकर दक्षिणाएँ देते हैं, और पण्डे-पुरोहितों को मूल्यवान् वस्त्राभूषणों की पहरावनियाँ पहिनाकर, तथा अन्नदान, गोदान, सुवर्णदान, भूमिदान आदि देकर अपने परलोक की यात्रा के लिए सामान करने की दिलजमई कर लेते हैं; तथा धर्माचार्यों, मठाधीशों, मण्डलेश्वरों, महन्तों आदि को बड़ी-बड़ी रकमों तथा बहुमूल्य वस्तुओं की भेंटें दे-देकर उनसे स्वर्ग और मोक्ष का सौदा करते हैं। सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, कुंभी, अर्धकुंभी आदि पर्वों पर नहाने के लिए लाखों नर-नारी तीर्थ-स्थानों, एवं नदी-समुद्रों पर जाते हैं, जिनमें इस प्रकार के दान देने के अतिरिक्त लाखों रुपये प्रतिवर्ष रेलवे के किराये के दे दिये जाते हैं। भारतवर्ष में इस तरह के दान में प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये व्यय होते हैं।

दूसरी तरफ जो नयी रोशनी के लोग हैं, उनका दान विशेष करके कीर्ति अथवा किसी उपाधि आदि की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य को लेकर होता है। अथवा धनाढ्य देशों की नकल करके इस प्रकार का दान होता है, कि जिससे साधारण जनता के लिए बाग-बगीचे, खेल-तमाशे, सैर-सपाटे आदि के आयोजन होते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप लोगों में विलासिता की आदतें पड़ जाती हैं और शरीर की आवश्यकताएँ बढ़कर जीवन बहुत खर्चीला हो जाता है।

इस प्रकार राजसी-तामसी दोनों में लगने वाली इतनी बड़ी धन-राशि का सदुपयोग किया जाकर, यदि वह वस्तुतः दुखियों का दुःख निवारण करने, गरीबों की वास्तविक आवश्यकताएँ पूरी करने तथा उनकी हर प्रकार की उन्नति करने में लगाई जाय तो देश की दरिद्रता शीघ्र ही दूर हो सकती है।

जिन लोगों के पास विद्या, कला, बुद्धि, बल, ज्ञान आदि गुणों की विशेषता होती है, वे पूरे मूल्य बिना अपने उन गुणों से किसी को लाभ पहुँचाना नहीं चाहते, इसलिए जिनके पास धन नहीं होता, वे इन गुणों के लाभ से वंचित रहते हैं। तात्पर्य यह कि समाज की सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति और उन्नति के सभी साधन एकमात्र धन पर निर्भर हैं और यदि धन के दान का सदुपयोग किया जाय तो सभी आवश्यकताओं की पूर्ति और उन्नति के साधन उपलब्ध हो सकते हैं। इसलिए धन का दान करने में बहुत विचार और बुद्धिमानी की आवश्यकता है

इस समालोचना का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस देश में सात्विक दान का सर्वथा अभाव है। हमारे यहाँ ऐसे अनेक दानी सज्जन भी हैं, जिनके सात्विक दान से लोगों का बहुत उपकार हो रहा है और जिनके लिए देश को बड़ा गौरव है; परन्तु ऐसे महानुभावों की संख्या बहुत थोड़ी है, इसलिए राजस-तामस दान की तुलना में सात्विक दान की मात्रा बहुत कम है।

+ + +

यज्ञ, तप और दान के सात्विक, राजस और तामस भेदों का अलग-अलग वर्णन करके, अब भगवान् प्रत्येक काम करने में सबकी एकता के अद्वैत-सिद्धान्त को याद रखने के लिए, सबकी एकता-स्वरूप—ब्रह्म के सूचक "ओं तत्सत्" मंत्र के उच्चारण-पूर्वक यज्ञ, तप और दान आदि सब कर्म करने का विधान करते हैं; क्योंकि जो भी कुछ कर्म किये जाते हैं, वे वास्तव में सात्विक तभी होते हैं, जब कि उनमें सबकी एकता का ब्रह्म-भाव हो; अनेकता के भाव से किये हुए सात्विक व्यवहार भी राजस-तामस हो जाते हैं। इसलिए इस मूल मंत्र के उच्चारण-पूर्वक व्यवहार करने से सबके एकत्व-भाव=ब्रह्म अथवा परमात्मा की स्मृति बनी रहती है, जिससे सभी व्यवहारों में सात्विकता आती है।

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

अर्थ—"ओं-तत्-सत्" यह तीन प्रकार का निर्देश ब्रह्म का कहा गया है; पूर्वकाल में इससे ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञों की व्यवस्था की गई थी। तात्पर्य यह कि "ओं", "तत्" और "सत्" ये तीन शब्द सबके एकत्व-भाव, सबके आत्मा, सत्-चित्-आनन्द परमात्मा अथवा ब्रह्म के सूचक हैं। अतः इन तीन शब्दों के समूह "ओं तत्सत्" मन्त्र के द्वारा सबकी एकता को लक्ष्य में रखते हुए, समाज की सुव्यवस्था के लिए, ब्राह्मण आदि चार वर्ण, वेदादि शास्त्र, और सबकी अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म-रूप यज्ञ का विधान, समाज-सङ्गठन के आरम्भ काल ही में किया गया था (२३)। इसलिए विद्वान् पुरुषों के यज्ञ, दान और तप की विधिवत् क्रियाएँ सदा "ओं" का उच्चारण करके हुआ करती हैं। तात्पर्य यह कि "ओं" शब्द आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक आदि सारी त्रिपुटियों की एकता-स्वरूप परमात्मा का सूचक है, अतः विद्वान् पुरुष सदा इस "ओं" शब्द के उच्चारण-पूर्वक सबकी एकता का स्मरण रखते हुए, समाज की सुव्यवस्था के लिए *पूर्वकथित सात्विक यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ किया करते हैं* (२४)। "तत्" इस शब्द का उच्चारण करके फल की चाह छोड़ कर मोक्षार्थी जन यज्ञ, तप और दान आदि की अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि "तत्" शब्द भी सबके आत्मा = परमात्मा का सूचक है, अतः मुमुक्षु लोग इस "तत्" शब्द द्वारा परमात्मा का चिन्तन करते हुए परमात्मा के व्यक्त स्वरूप—जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त कर्म करते हैं, और उन कर्मों से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना नहीं रखते (२५)। सत्-भाव और श्रेष्ठ-भाव में "सत्" शब्द का प्रयोग किया जाता है; और हे पार्थ! इसी प्रकार उत्तम कर्मों के लिए भी "सत्" शब्द प्रयुक्त होता है। यज्ञ, तप और दान में स्थिति अर्थात् प्रवृत्ति को भी "सत्" कहते हैं, और उनके निमित्त का कर्म भी "सत्" कहा जाता है। तात्पर्य यह कि किसी भी वस्तु या विषय या व्यक्ति या घटना के अस्तित्व अर्थात् "होने", और उसकी सत्यता के लिए, तथा किसी भी वस्तु, विषय, व्यक्ति अथवा व्यवहार की श्रेष्ठता अर्थात् उत्कृष्टता के लिए "सत्" शब्द का प्रयोग होता है; और सबके एकत्व-भाव, सबके अपने-आप = आत्मा अथवा परमात्मा का अस्तित्व ही वस्तुतः "सत्" है, और वही वास्तव में श्रेष्ठ अर्थात् अच्छा है, इसलिए "सत्" शब्द परमात्मा का वाचक है, अतः सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा की सर्वत्र अवस्थिति के बोध कराने वाले "सत्" शब्द के प्रयोग-पूर्वक जो उत्तम कार्य किये जाते हैं, वे सत्-कर्म कहलाते हैं, तथा सात्विक यज्ञ तप और दान सबके आत्मा = परमात्मा के व्यक्त स्वरूप जगत् अथवा समाज की सुव्यवस्था अर्थात् लोक-संग्रह के निमित्त होते हैं इसलिए इनकी प्रवृत्ति भी "सत्" कहा जाता है, और उक्त यज्ञ, तप एवं दान के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं वे भी

सत्-कर्म ही कहलाते हैं; अतः "सत्" शब्द के उच्चारण-पूर्वक यज्ञ, तप एवं दान आदि कर्म करने से सद्भाव-रूप सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा की स्मृति रहती है; इसी से सब कर्म सात्त्विक होते हैं (२६-२७)। श्रद्धा के बिना जो हवन किया हो, जो (दान) दिया हो, जो तप किया हो और जो (कुछ) किया हो, हे पार्थ! वह असत् कहा जाता है; उससे न परलोक सधता है और न यह लोक। तात्पर्य यह कि उपरोक्त सबकी एकता-स्वरूप आत्मा अथवा परमात्मा में श्रद्धा अर्थात् विश्वास न रख कर पृथक् व्यक्तित्व के भाव से तथा पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से जो राजस-तामस हवन, दान, तप तथा और जो कुछ कर्म किये जाते हैं, वे सब असत् होते हैं; उनसे न तो इस लोक में अर्थात् इस जन्म में किसी प्रकार का अभ्युदय होता है, और न मरने के बाद परलोक में श्रेय की प्राप्ति होती है (२८)।

स्पष्टीकरण—समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक जो यज्ञ, तप और दान करने का विधान प्रत्येक मनुष्य के लिए इस अध्याय में किया गया है, उसकी मनुष्यों के भिन्न-भिन्न स्वभाव के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की अलग-अलग व्याख्या की गई। अब इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् यह निश्चित सिद्धान्त या मूल-मन्त्र बताते हैं, कि यज्ञ, तप, दान और जो भी कर्म सबकी एकता के विश्वासपूर्वक, सबके आत्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म का स्मरण करते हुए किये जाते हैं, उन्हीं से समाज और जगत् की सुव्यवस्था रहती है और वे ही सबके लिए हितकारक होते हैं, अतः वास्तव में वे ही सात्त्विक होते हैं; और जो यज्ञ, दान, तप अथवा किसी भी प्रकार के कर्म एकता के विश्वास से नहीं होते, किन्तु अनेकता को सच्ची मान कर पृथक् व्यक्तित्व के भाव से, अथवा पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना से किये जाते हैं, वे राजस-तामस होते हैं; उनसे किसी का हित नहीं होता, किन्तु उलटा दुष्परिणाम होता है।

सब अनेकताओं का एकत्व-भाव जो सबका अपना-आप, सबका आत्मा = परमात्मा अथवा ब्रह्म है, उसका सूचक मंत्र "ओं तत्सत्" है, क्योंकि "ओं" शब्द अ, उ, और म अक्षरों का समूह है, और यह तीन अक्षरों का समूह सबकी एकता-स्वरूप परमात्मा के सत्-चित्-आनन्द भाव का द्योतक है। "तत्" शब्द का अर्थ "वह" यानी परमात्मा अथवा ब्रह्म है। "सत्" शब्द का अर्थ "सत्", [illegible] एवं "श्रेष्ठ" है। इन तीन शब्दों के समूह का यह अर्थ होता है कि सबका एकत्व-भाव यानी परमात्मा अथवा ब्रह्म [illegible] है। इस [illegible]
[illegible]

का अनिष्ट करने वाले नहीं होते, किन्तु सबके हितकारक लोक-संग्रह के हेतु हो
हैं। अतः सबकी एकता के निश्चय से अपनी-अपनी योग्यता के कर्म समाज मे
जगत् की सुव्यवस्था के निमित्त करना—यही सात्त्विक आचरण है, और इसी से मन
कल्याण अर्थात् शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है।

॥ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥

अठारहवाँ अध्याय

कुरुक्षेत्र के मैदान में लड़ाई आरम्भ होने के समय अर्जुन अपने स्वजन-बान्धवों को, मरने-मारने के लिए उद्यत देख कर प्रेम और करुणा के वश होकर एकदम घबड़ा गया, और उसे धर्माधर्म अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय में मोह हो गया, अर्थात् वह इस बात का निर्णय न कर सका कि इस विकट परिस्थिति में उसके लिए युद्ध करके इतने बड़े जन-समूह की हत्या का पाप सिर पर उठाना श्रेयस्कर है, अथवा राज्य की माया छोड़ कर संन्यास ले लेना और भीख मांग कर निर्वाह करना श्रेयस्कर है? उसके अन्तःकरण का झुकाव संन्यास लेकर भीख पर निर्वाह करने की ओर अधिक रहा, इसलिए वह शस्त्र छोड़ कर बैठ गया, और भगवान् श्रीकृष्ण से कर्तव्याकर्तव्य के विषय में शिक्षा देने एवं सच्चा श्रेयस्कर मार्ग दिखाने की उसने प्रार्थना की। इस पर भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक ११ से आरम्भ करके, अर्जुन के निमित्त से सारे संसार को कर्म-त्याग की अपेक्षा कर्म-योग को ही श्रेष्ठ बताकर सबकी एकता के ज्ञानयुक्त, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने की शिक्षा दी। गीता का उपक्रम अर्थात् आरम्भ इस प्रकार हुआ है; और सत्रहवें अध्याय तक भगवान् ने सबकी एकता के उक्त सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या करने के साथ-साथ उस एकता के ज्ञान की प्राप्ति के साधन कह कर, उस ज्ञानयुक्त अपनी-अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार करने का विधान विविध प्रकार से किया।

यह अठारहवाँ अध्याय गीता का उपसंहार अर्थात् उसकी समाप्ति है। इसमें पहले के सत्रह अध्यायों का संक्षिप्त निचोड़ कह कर भगवान् अपने [illegible] को पुष्ट करते हुए फिर से स्पष्ट शब्दों में जोर देकर कहते हैं कि [illegible] कभी नहीं करना चाहिए, किन्तु अपनी-अपनी योग्यता के [illegible] ही करते रहना चाहिए—इसी से मनुष्य सब प्रकार की [illegible] प्राप्ति कर सकता है। साथ ही मनुष्यों को [illegible] करने चाहिएँ कि जिससे उन्हें कोई [illegible] प्राप्त हो—इस विषय का फिर से [illegible] करते हैं

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

आश्रय में रह कर कर्म किया जाता है, वह स्थान अथवा आश्रय; कर्ता अर्थात् "मैं कर्म करता हूँ" इस प्रकार कर्म करने का अहंकार करने वाला व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा; विविध प्रकार के करण अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा काम करने के अनेक तरह के औज़ार अथवा हथियार आदि साधन; भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ, अर्थात् काम करने की नाना प्रकार की शैली अथवा युक्ति अथवा व्यापार, और पाँचवाँ कारण यहाँ दैव, अर्थात् जगत् को धारण करनेवाली सूक्ष्म दैवी शक्तियाँ, एवं अदृष्ट अर्थात् पूर्व-कर्मों का संचित प्रभाव या प्रारब्ध भी है। शरीर, वाणी और मन से जो कुछ अच्छा या बुरा कर्म मनुष्य करता है, उसके ये पाँच साधन होते हैं। ऐसा होते हुए भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि के कारण केवल अपने को ही कर्ता समझता है वह मूर्ख कुछ भी नहीं समझता। तात्पर्य यह कि मनुष्य जो भी कुछ भला-बुरा कर्म करता है, उस कर्म के सम्पादित होने में सांख्य सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त पाँच कारण होते हैं; इन सबके संयोग से कर्म का सम्पादन होता है, और ये सब अनुकूल हों तभी कर्म सांगोपांग सिद्ध होता है, और तभी सफलता मिलती है। उनमें से यदि एक भी पूर्णतया अनुकूल न हो अथवा किसी में किसी प्रकार की त्रुटि हो तो कर्म की सिद्धि में उतनी ही त्रुटि रहती है। यदि काम करने का स्थान एवं आश्रय उपयुक्त न हो, काम में मन न लगे, उसके विषय में विचार करने में कमी या भूल हो, इन्द्रियें स्वस्थ न हों, काम करने के हथियार उपयुक्त न हों, काम करने की शैली ठीक न हो, क्रिया और युक्तियों की कुशलता न हो, और दैवी शक्तियाँ प्रतिकूल हों, एवं पूर्व कर्मों के संचित प्रभाव-रूप प्रारब्ध बाधक हों तो कोई भी काम सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसी दशा में जो मनुष्य अपनी राजस-तामस बुद्धि के कारण अहंकार करे कि "कर्मों का करने वाला केवल मैं ही हूँ, मेरे करने से ही कर्मों की सिद्धि होती है" और इस अहंकार से कर्मों को अपने लिए दुःख-रूप अथवा बन्धन-रूप समझ कर उन्हें त्यागता है, तो यह उसकी मूर्खता है, क्योंकि व्यक्तित्व के अहंकार से कर्म करने और उन्हें त्याग देने—दोनों ही अवस्थाओं में दुःख एवं बन्धन होता है (१६-१६)। जिसको यह भावना ही नहीं होती कि "मैं कर्म करता हूँ," और जिसकी बुद्धि लिपायमान नहीं होती, वह इन लोकों को मारकर भी न तो मारता है और न बन्धता है। तात्पर्य यह कि तत्त्वज्ञानी समत्वयोगी सम्पूर्ण जगत् को अपने से अभिन्न अनुभव करता है, अर्थात् कर्ता, कर्म और करण में वह सर्वत्र अभेद देखता है, इसलिए उसे कर्म करने में यह व्यक्तित्व का अहंकार नहीं रहता कि "मैं अमुक कर्म करता हूँ" अतः सबकी एकता के ज्ञान-भाव से वह अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के जो सांसारिक व्यवहार समाज और जगत् की सुव्यवस्था के लिए करता है, उनमें यदि लोगों का

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

अर्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-रूप से कर्म की भीतरी प्रेरणा का तीन भेदों वाला सूक्ष्म स्वरूप है; और करण, कर्म और कर्ता-रूप से कर्म के बाहरी संपादन का तीन भेदों वाला स्थूल स्वरूप है। तात्पर्य यह कि कर्म करने की जब अन्तःकरण में प्रेरणा होती है, तब जिस कर्म के करने का मन में निश्चय होता है, वह कर्म का सूक्ष्म स्वरूप "ज्ञेय" है; तथा जिस विधि से कर्म करने का निश्चय होता है, वह निश्चित की हुई विधि "ज्ञान" है: और जो निश्चय करने वाला है, वह "ज्ञाता" है। इन तीनों के योग से कर्म करने की प्रेरणा होती है, अतः यह कर्म की प्रेरणा का तीन प्रकार का सूक्ष्म स्वरूप है। तथा जिन साधनों से कर्म किया जाता है, वह करण है: और जो क्रिया की जाती है, वह कर्म है: तथा कर्म करने वाला कर्ता है। इन तीनों के संयोग से कर्म का सम्पादन होता है; अतः यह कर्म-सम्पादन का तीन प्रकार का स्थूल स्वरूप है (१८)। ज्ञान, कर्म और कर्ता सांख्य शास्त्र में गुणों के भेद से तीन प्रकार के कहे गये हैं, उनको यथावत् सुन। तात्पर्य यह कि कर्म की प्रेरणा और कर्म-सम्पादन के जो तीन-तीन विभाग अठारहवें श्लोक में कहे हैं वे भी सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार के होते हैं; उनमें से करण का समावेश ज्ञान में, ज्ञेय का समावेश कर्म में और ज्ञाता का समावेश कर्ता में करके सांख्य-शास्त्रानुसार उनकी अलग-अलग व्याख्या आगे का बात है (१९)। जिस

(ज्ञान) से अलग-अलग सारे भूत-प्राणियों में एक, अविभक्त अर्थात् बिना बँटे हुए और सदा एक समान रहने वाले भाव का अनुभव होता है—उस ज्ञान को सात्विक (ज्ञान) समझ। तात्पर्य यह कि जगत् के नाना प्रकार के परिवर्तनशील एवं विषम बनावों में एक, अपरिवर्तनशील एवं सम आत्मा का अनुभव करना सात्विक ज्ञान है (२०)। जिस ज्ञान से मनुष्य सब भूत-प्राणियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भावों को (वस्तुतः) पृथक् पृथक् जानता है—उस ज्ञान को राजस ज्ञान समझ। तात्पर्य यह कि जगत् के नाना प्रकार के बनावों को वस्तुतः अलग-अलग जानना, अर्थात् अनेकता को सची जानना—यह भेद-ज्ञान राजस ज्ञान है (२१)। और जो सात्विक विचार से शून्य, किसी हेतु अथवा युक्ति के बिना, एक ही कार्य को सब-कुछ मान कर उसी में आसक्त रहने का तुच्छ ज्ञान है—वह तामस ज्ञान कहा जाता है। तात्पर्य यह कि जो स्थूल पदार्थ मनुष्य की इन्द्रियों से प्रतीत होते हैं, वही सब-कुछ हैं, उनके सिवाय और कोई सूक्ष्म तत्व नहीं है—ऐसा मानना; तथा स्थूल शरीर और जगत् का कोई सूक्ष्म कारण अथवा आधार है कि नहीं, इस विषय में किसी युक्ति अथवा प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं समझना, एवं कुछ भी सूक्ष्म विचार न करना—यह कोरा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अस्थायी अतः मिथ्या होने के कारण बहुत ही तुच्छ है, और यह तामस ज्ञान कहा जाता है (२२)। फल की इच्छा और राग-द्वेष के बिना जो नियत कर्म, व्यक्तित्व की आसक्ति से रहित होकर किया जाता है—वह (कर्म) सात्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार जिस वर्ण की योग्यता का कर्म अपने लिए नियत हो, वह कर्म व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की कामना के बिना, तथा अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष के भाव से रहित होकर, अर्थात् साम्य-भाव से किया जाता है—वह सात्विक कर्म कहा जाता है (२३)। और जो कर्म कामना की इच्छा रखने वाले अथवा अहंकारी मनुष्य के द्वारा अत्यधिक परिश्रम से किया जाता है, वह राजस कर्म कहा जाता है। तात्पर्य यह कि किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा से एवं व्यक्तित्व के अहंकार से जो कर्म बहुत ही कष्ट उठाकर अर्थात् शक्ति से अधिक एवं बेहिसाब परिश्रम करके किया जाता है—वह राजस कर्म होता है (२४)। बन्धन अथवा परिणाम, क्षय, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न करके, (केवल) मूर्खता से जो कर्म आरंभ किया जाता है—वह (कर्म) तामस कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इन बातों पर कुछ भी ध्यान न देकर कि इस कर्म में कितना उलझन होगी तथा इसका आगे चलकर क्या नतीजा निकलेगा, इसमें समय, शक्ति और धन का कितना व्यय होगा तथा इसमें क्या-क्या हानियाँ उठाना पड़ेगी और इसके सम्पादन में अपने को तथा दूसरों को कितना परिश्रम तथा कितना कष्ट उठाना होगा और

निरन्तर विषय-भोगों में अथवा नींद, आलस्य और प्रमाद आदि में ही क्यों न आयु बिताई जाय ? उनका उक्त भ्रम मिटाने के लिए भगवान् सुख के भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद बताकर कहते हैं, कि आत्मज्ञान का सात्त्विक सुख ही सच्चा सुख है, विषय-भोग, नींद, आलस्य और प्रमाद आदि में प्रतीत होने वाला सुख सच्चा सुख नहीं है, किन्तु वह तो सुखाभास मात्र है, अतः वह मिथ्या और दुःख का हेतु है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे भरतश्रेष्ठ ! अब सुख के भी तीन भेद मेरे से सुन, जिसमें अभ्यास द्वारा रमण करने अर्थात् बर्तने से दुःख का अन्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि आगे के तीन श्लोकों में जो कहा है कि, सात्त्विक सुख पहले दुःखदायक प्रतीत होने पर भी उसका परिणाम अच्छा होता है, राजस सुख पहले अच्छा लगता है परन्तु उसके परिणाम में दुःख होता है, और तामस सुख मोह-रूप है—इस रहस्य को सदा स्मरण रखते हुए, तरह-तरह के सुखों में यथायोग्य बर्तते हुए भी मनुष्य को दुःख नहीं होता (३६)। जो पहले (साधन काल में) विष के समान प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है, वह आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से होने वाला सुख सात्त्विक कहा जाता है। तात्पर्य यह कि सच्चा सात्त्विक सुख वह है जो आत्मज्ञान के द्वारा अन्तःकरण की प्रसन्नता से होता है; वह यद्यपि पहले साधन-अवस्था में कड़ुआ अथवा नीरस प्रतीत होने के कारण ज़हर सा लगता है, परन्तु उसका परिणाम अमृत सा होता है, क्योंकि आत्मा आनन्द-घन है, इसलिए आत्मानुभव का सुख अक्षय और एक-सा रहता है और उस सुख से अधिक कोई दूसरा सुख नहीं होता (३७)। इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने से जो सुख होता है, वह पहले (भोग काल में) तो अमृत के समान प्रतीत होता है पर परिणाम में ज़हर के तुल्य होता है—वह राजस सुख कहा गया है। तात्पर्य यह कि विषय-भोगों में

जो सुख प्रतीत होता है, उस सुख का अनुभव केवल भोग-काल ही में होता है, भोगों के अनन्तर वह बहुत ही बुरा लगता है, क्योंकि उसके परिणाम में अवश्य ही दुःख होता है, और उसके नाश होने का भय बना रहता है, तथा दूसरों का सुख अपने से अधिक देख कर अन्तःकरण में जलन भी होती है; इसलिए वह दुःखमिश्रित एवं दुःख-परिणामवाला सुख* राजस सुख माना जाता है (३८)। जो सुख आरम्भ में तथा परिणाम में भी, अर्थात् सब अवस्थाओं में आत्मा को मोह में फँसाता है, और निद्रा, आलस्य एवं प्रमाद से उत्पन्न होने वाला है—वह (सुख) तामस कहा गया है। तात्पर्य यह कि नींद, आलस्य अथवा मूढ़ावस्था का जो सुख है, उससे बुद्धि विवेकशून्य रहती है, जिससे जीवात्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है; अतः उससे मनुष्य का सब प्रकार से पतन हो जाता है—वह तामस सुख कहा जाता है (३९)।

× × ×

कर्म-संन्यास अथवा कर्म-त्याग की तात्त्विक मीमांसा करके, तथा सात्त्विक भाव से कर्म करने की व्यवस्था देकर, कि जिससे सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ, सच्चे एवं अक्षय सुख को प्राप्त हो सकता है, अब भगवान् इस बात की फिर से पुष्टि करते हैं कि यह सारा विश्व सबके आत्मा = परमात्मा की त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है, और इस खेल की सुव्यवस्था के लिए उक्त तीन गुणों के तारतम्य के अनुसार मनुष्यों की अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्म करने की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बनाई गई है; उक्त व्यवस्था के अनुसार अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करने से न कोई कर्म उत्तम अथवा शुभ है, और न कोई कर्म निकृष्ट अथवा अशुभ है किन्तु सभी कर्म श्रेष्ठ ही होते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने-आपको सबके आत्मा = परमात्मा से अभिन्न—उसी का व्यष्टि-भावापन्न अंश अनुभव करता हुआ, इस खेल में अपना साझा समझ कर इसमें जो पार्ट अपने ज़िम्मे हो, उसे कर्मों के स्वामी-भाव से बजाकर इस खेल के सम्पादन में सहयोग दे।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

* पांचवें अध्याय के श्लोक २१ से २२ तक के स्पष्टीकरण में सुख-दुःख की की व्याख्या देखिए।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अर्थ—पृथ्वी पर, आकाश में अथवा देवताओं में भी ऐसा कोई सत्व अर्थात् पदार्थ नहीं है जो कि प्रकृति के इन तीन गुणों से रहित हो। तात्पर्य यह कि विश्व में स्थूल और सूक्ष्म जितने भी पदार्थ हैं, वे सब त्रिगुणात्मक हैं, अर्थात् सारा विश्व त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वरूप है [illegible] गुणों से रहित कुछ भी नहीं है (४०)। हे परन्तप! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्म [illegible] उत्पन्न हुए गुणों [illegible] तात्पर्य यह कि समाज की सुव्यवस्था के लिए [illegible]

कमी-बेशी के भेद के कारण मनुष्यों के जो अलग-अलग स्वभाव होते हैं, उनके अनुसार उनके चार विभाग किये गये हैं, जिनकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा रखी गई है, और उनके अलग-अलग गुणों के अनुसार उनके लिए अलग-अलग कर्तव्य-कर्म नियत किये गये हैं (४१)। शम* अर्थात् मन का संयम, दम* अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह, तप अर्थात् सत्रहवें अध्याय में वर्णित शरीर, वाणी और मन का सात्विक तप यानी शिष्टाचार, शौच* अर्थात् भीतरी और बाहरी पवित्रता, क्षान्ति अर्थात् क्षमाशीलता*, आर्जव† अर्थात् सरलता, ज्ञान अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान, विज्ञान अर्थात् सांसारिक पदार्थों का तात्विक विज्ञान, और आस्तिकता अर्थात् आत्मा अथवा परमात्मा में विश्वास—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यों के शरीर में सत्वगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनकी स्वभाव ही से सांसारिक पदार्थों एवं विषयों में आसक्ति कम होती है, और वे श्रेष्ठाचारी, पवित्र, क्षमाशील, सरल स्वभाव वाले एवं आत्मविश्वासी होते हैं, और आत्मा-परमात्मा की एकता के ज्ञान और सांसारिक पदार्थों के विज्ञान (Science) में वे कुशल होते हैं। इसलिए उनमें शिक्षा-सम्बन्धी कामों की विशेष योग्यता होती है; अतः सदाचारयुक्त ज्ञान (अध्यात्म-विद्या) और विज्ञान (भौतिक पदार्थ-विद्या) की शिक्षा, प्रचार एवं नाना प्रकार के आविष्कार करने द्वारा, तथा उक्त ज्ञान-विज्ञान की उन्नति करने द्वारा, लोक-सेवा करने वाले ब्राह्मण वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है (४२)। शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, कार्य-कुशलता अथवा नीति-निपुणता, युद्ध में पीछे न हटना, दान देने की प्रवृत्ति और ईश्वर-भाव, अर्थात् ईश्वर की तरह सबकी एकता के प्रेम और साम्य-भाव से न्यायपूर्वक प्रजा का रक्षण और शासन करना—क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यों के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, सत्वगुण की समानता और तमोगुण की न्यूनता होती है, उनमें स्वभाव ही से शक्ति, साहस, निर्भीकता आदि गुणों की विशेषता होने के कारण वे शूरवीर, तेजस्वी, धैर्यवान्, नीति-निपुण, कार्य-कुशल, युद्ध से न घबराने वाले, दान देने में उदार, और सबकी एकता के साम्य-भाव से प्रेम और न्याय-पूर्वक प्रजा का रक्षण और उस पर शासन करके समाज की सुव्यवस्था रखने योग्य होते हैं; इसलिए जनता की रक्षा एवं उस पर शासन करके समाज को सुव्यवस्थित रखने की लोक-सेवा करने वाले क्षत्रिय वर्ण का कर्म उनके लिए नियत किया गया है (४३)। खेती, गोपालन और व्यापार, वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं; और सेवा

* शम, दम, शौच और क्षमा का स्पष्टीकरण बारहवें अध्याय में देखिए।
† आर्जव का स्पष्टीकरण सोलहवें अध्याय में देखिए।

करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। तात्पर्य यह कि जिन मनुष्यों के शरीर में रजोगुण की प्रधानता, तमोगुण की समानता एवं सत्त्वगुण की न्यूनता होती है, उनमें खेती करने, पशुओं का पालन करने, तथा वाणिज्य-व्यापार आदि द्वारा जन-समाज के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थ उत्पन्न करके उनका व्यवसाय करने की स्वाभाविक योग्यता होती है; इसलिए लोगों के जीवन के उपयोगी पदार्थों की पूर्ति करने की लोक-सेवा करने वाले वैश्य वर्ण का धर्म उनके लिए नियत किया गया है। और जिन मनुष्यों के शरीर में तमोगुण की प्रधानता, रजोगुण की समानता और सत्त्वगुण की न्यूनता होती है, उनमें शारीरिक श्रम द्वारा सेवा करने की स्वाभाविक योग्यता होती है; इसलिए कारीगरी, मज़दूरी आदि शारीरिक श्रम की लोक-सेवा करने वाले शूद्र वर्ण का धर्म उनके लिए नियत किया गया है* (४४)। अपने-

---

* चार प्रधान वर्णों में से प्रत्येक में गुणों के न्यूनाधिक्य की मात्रा के अनुसार कार्य करने की योग्यता के बहुत से भेद होते हैं। जिस तरह, ब्राह्मण वर्ण में बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं, शास्त्राचार्यों, विज्ञानाचार्यों एवं आविष्कर्ताओं से लेकर, साधारण योग्यता के शिक्षकों आदि तक बहुत सी श्रेणियाँ होती हैं। क्षत्रिय वर्ण में सम्राटों, राजा-महाराजाओं, जागीरदारों और अफ़सरों से लेकर साधारण फ़ौजी सिपाहियों और चपरासियों तक अनेक दर्जे होते हैं। वैश्य वर्ण में बड़े-बड़े साहूकारों, कोठीदारों, कम्पनियों और कारखानों के धन-कुबेर मालिकों, दुकानदारों, फेरी करने वालों, एवं गुमाश्तों, दलालों, तथा खेती का काम करने वाले ज़मींदारों से लेकर छोटे-छोटे किसानों तक बहुत-से दर्जे होते हैं। इसी तरह शूद्र वर्ण में सूक्ष्म कलाओं, मशीनों एवं निर्माण-कला के चतुर इञ्जीनियरों से लेकर साधारण मज़दूरों, और कूड़ा-कर्कट साफ़ करने का हीन माना जाने वाला पेशा करने वाले लोगों तक बहुत-सी श्रेणियाँ होती हैं।

संसार में सभी भूत-प्राणियों के नर और मादा-रूप से दो भाग होते हैं, और दोनों के संयोग अथवा मेल से सृष्टि का सारा व्यापार होता है। अस्तु मनुष्य-समाज के भी पुरुष और स्त्री-रूप से दो अङ्ग होते हैं और दोनों के संयोग एवं मेल ही पर समाज का अस्तित्व निर्भर रहता है। पुरुष इनमें प्रधान अङ्ग (विशेष शक्ति-सम्पन्न) अङ्ग हैं और स्त्रियाँ अप्रधान निर्बल (कम शक्ति वाली) अङ्ग हैं। अतः स्त्री अपने समान गुणों वाले पुरुष की सहधर्मिणी एवं सहचारिणी होती है; इसलिए स्त्री का वर्ण पुरुष से अलग नहीं रक्खा गया है, किन्तु जिस वर्ण अथवा जिस पेशे के पुरुष की वह सहधर्मिणी हो, उसी को सहयोग और सहायता देने और उसकी घर-गृहस्थी का कार्य करने द्वारा लोक-सेवा करना ही स्त्री के लि-

अपने कर्मों में अच्छी तरह लगा हुआ मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त करता है। अपने कर्मों में लगे रहने से जिस तरह सिद्धि प्राप्त होती है सो सुन। जिससे संसार की प्रवृत्ति हो रही है, और जिससे यह सम्पूर्ण विश्व व्याप्त हो रहा है, उस (सबके आत्मा = परमात्मा) का अपने कर्मों द्वारा पूजन करने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की उन्नति करता हुआ स्वयं परमात्म-स्वरूप हो जाता है। तात्पर्य यह कि सबका आत्मा = परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति अथवा इच्छा-शक्ति से प्रवृत्ति-रूप होकर जगत् का सब खेल करता है, अतः यह जगत् प्रवृत्ति अथवा कर्म-रूप है; और सब भूत-प्राणी सबके आत्मा = परमात्मा से अभिन्न होते हैं, इस कारण अपनी-अपनी योग्यता के कर्म करना सबके लिए आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है। सबके अपने-अपने कर्म करने से ही जगत्-रूपी खेल का सम्पादन ठीक-ठीक हो सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यष्टि-भावापन्न शरीरधारी को अपने समष्टि-भाव के इस खेल की सुव्यवस्था के लिए अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा अपने समष्टि-भाव से सहयोग करने-रूप उसका पूजन अवश्य करना चाहिए। अपने-अपने कर्तव्य-कर्म करके आपस में एक दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने की लोक-सेवा-रूप यज्ञ करने ही से सबके समष्टि-भाव = परमात्मा का पूजन होता है, और इसी पूजन से व्यष्टि-भावापन्न जीवात्मा अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करता हुआ, सब प्रकार के भेद मिटाकर अपने समष्टि (परमात्म) भाव का अनुभव करने रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति का यही यथार्थ साधन है और यही उसकी सच्ची उपासना है। इस अभेद-उपासना को छोड़ कर व्यक्तित्व के भाव से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए की जाने वाली नाना प्रकार की भेदोपासना से परमात्मा की सच्ची पूजा नहीं होती (४५-४६)। दूसरों के धर्म का आचरण (यदि) उत्तम (प्रतीत) हो, और उसकी अपेक्षा अपने धर्म का आचरण निकृष्ट (प्रतीत) हो तो भी (अपने लिए) वही श्रेष्ठ है; स्वाभाविक नियत कर्म करने से पाप नहीं लगता (४७)। हे कौन्तेय ! स्वाभाविक कर्म यदि दोषयुक्त हो तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि सभी आरम्भ दोष से उसी तरह घिरे हुए हैं, जिस तरह धुएँ से अग्नि (४८)। सर्वत्र अनासक्त बुद्धि से मन को वश में किये हुए, एवं कामना से रहित (समत्वयोगी), सात्त्विक त्याग-रूप सन्यास के द्वारा निष्कर्म की परम सिद्धि को पाता है (४९)। श्लोक ४० से ४९ तक का तात्पर्य यह है कि अर्जुन को युद्ध करने का अपना क्षात्र-धर्म पालन करने में निर्दयता और हिंसा आदि अनेक दोष प्रतीत होते थे अतः उसे छोड़ कर अहिंसात्मक भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना उसको श्रेष्ठ जँचता था, मानो वह दूसरों के कर्म करने में प्रवृत्त होता

चाहता था। उसकी इस मानसिक दुर्बलता को दूर करने के लिए भगवान् कहते हैं कि, जगत् और समाज की सुव्यवस्था के निमित्त मनुष्यों के भिन्न-भिन्न गुणों की योग्यता के अनुसार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बनाई गई है, ताकि लोग अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार अपने-अपने कर्म करके आपस में एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी करने की लोक-सेवा करते हुए उन्नति करें और कल्याण को प्राप्त हों। इस प्रकार लोक-सेवा के भाव से करने पर उपरोक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानुसार सबके कर्म अपने-अपने स्थान में आवश्यक अतः श्रेष्ठ होते हैं। जिसकी अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार जैसी योग्यता हो उसके लिए वे ही कर्म उत्तम हैं, इसलिए अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने में हिंसा आदि का कोई पाप नहीं लगता। इस संसार में ऐसा कोई व्यवहार नहीं है कि जो सर्वथा निर्दोष हो; क्योंकि संसार जोड़े के रूप में है, और गुण-दोष का भी जोड़ा होता है, अतः सभी व्यवहार गुण एवं दोष-युक्त ही होते हैं। किसी व्यवहार में कोई गुण होता है और कोई दोष, और किसी व्यवहार में दूसरा कोई गुण एवं दोष होता है। दोषयुक्त दृष्टि से देखने पर सभी व्यवहार दोषयुक्त प्रतीत होते हैं। वास्तव में कर्म में निज का न कोई गुण होता है और न कोई दोष; गुण अथवा दोष कर्ता के भाव से उत्पन्न होते हैं। जो कर्म दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार से और केवल व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त दूसरों के हित एवं समाज की सुव्यवस्था की अवहेलना करके किया जाता है, वह यदि ऊपर से निर्दोष प्रतीत होता हो तो भी वास्तव में वह सदोष ही होता है; और जो कर्म अपने शरीर की स्वाभाविक योग्यतानुसार समाज की सुव्यवस्था-रूप लोक-सेवा के उद्देश्य से उपरोक्त चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के आधार पर किया जाता है, वह यदि हिंसा आदि के कारण दोषयुक्त प्रतीत होता हो, तो भी वास्तव में वह निर्दोष एवं श्रेष्ठ होता है; अतः उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तित्व के भाव की आसक्ति के बिना, एवं दूसरों से पृथक् अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की चाहना से रहित होने के सात्विक त्याग-युक्त अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने वाला समत्वयोगी वस्तुतः अकर्ता ही होता है; उसको कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता, अतः वह सदा मुक्त रहता है (४० से ४९)। हे कौन्तेय! (उपरोक्त निष्कर्म की) सिद्धि को प्राप्त हुआ मनुष्य जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, और जो ज्ञान की परा निष्ठा है, सो संक्षेप में मेरे से जान। तात्पर्य यह कि पूर्वकथित अपनी-अपनी योग्यता के नियत कर्म करता हुआ मनुष्य सात्विक त्याग-रूप संन्यास द्वारा निष्कर्म की परम सिद्धि को पाता है, उसीसे ब्रह्म-भाव अथवा परमात्म-भाव में स्थिति होती है—यही ज्ञान की पूर्णावस्था है, और इसी बात को संक्षेप में फिर आगे कहते हैं (५०) शुद्ध अर्थात् आत्मनिष्ठ सात्विक बुद्धि से सबकी एकता के साम्य-भाव में जकड़.

सात्विक धृति से अन्तःकरण का संयम करके, शब्दादिक विषयों की आसक्ति छोड़ कर, तथा राग और द्वेष को दूर करके, निरुपाधिक देश में रहने वाला, हलका भोजन करने वाला, वाणी, शरीर और मन को संयम में रखने वाला, एवं सदा ध्यान-योग में लगा रहने वाला, अर्थात् परमात्मा की सर्वव्यापकता का निरन्तर ध्यान रखने वाला, वैराग्य से युक्त हुआ, अहंकार, दुराग्रह, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग कर ममता से रहित, शान्त पुरुष ब्रह्म-स्वरूप होने के योग्य होता है (५१-५३)। ब्रह्म-भाव को प्राप्त हुआ, प्रसन्न अन्तःकरण वाला मनुष्य न शोक करता है, न आकांक्षा रखता है, (और) सब भूतों में सम होकर सबके आत्मा = परमात्मा-स्वरूप मेरी परा भक्ति को पाता है, अर्थात् भक्त और भगवान् का भेद मिटाकर आत्म-स्वरूप हो जाता है (५४)। "मैं" (सबका आत्मा) जो कुछ हूँ और जैसा हूँ, भक्ति के द्वारा (वह) मुझको तत्त्वतः जान लेता है; इस प्रकार मुझे यथार्थ रूप से जान लेने पर तुरन्त (मुझमें) समा जाता है (५५)। (सबके आत्मा-स्वरूप) मेरे आश्रय में रह कर अर्थात् आत्मा = परमात्मा की एकता के निश्चय के आधार पर सब कर्मों को करता हुआ भी (मनुष्य) मेरी अर्थात् सबके आत्मा—सबके वास्तविक आपकी प्रसन्नता से अव्यय और शाश्वत पद को प्राप्त होता है (५६)। श्लोक ५१ से ५६ तक का तात्पर्य यह है कि, श्लोक ४० से ५० तक परमात्मा की सर्वव्यापकता अर्थात् सबकी एकता के निश्चय-युक्त अपनी-अपनी स्वाभाविक योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त होने का जो प्रतिपादन किया गया है, और उस सबकी एकता का अनुभव प्राप्त करने के लिए राज-योग के अभ्यास का जो साधन छठे अध्याय में विस्तार से वर्णन किया गया है, उसीको भगवान् यहाँ संक्षेप से दुहराकर कहते हैं कि उस साधन से आत्मा = परमात्मा एवं अखिल विश्व की एकता का अनुभव प्राप्त होता है, अथवा सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक वर्णन की हुई सबके आत्मा = परमात्मा की भक्ति के द्वारा भी आत्मा = परमात्मा अथवा सबकी एकता का अनुभव होता है। आत्म-ज्ञान की परिभाषा में जिसे जीव-ब्रह्म की एकता के अनुभव-रूप ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, भक्ति की परिभाषा में उसे ही परमात्मा की परा भक्ति कहते हैं। यहाँ पर भगवान् इस बात को फिरसे अच्छी तरह स्पष्ट कर देते हैं कि इस प्रकार आत्मा = परमात्मा के अभेद, अर्थात् सबके साथ अपनी एकता का अनुभव प्राप्त करके भी, मनुष्य को अपने-अपने शरीर की योग्यता के कर्तव्य-कर्म कभी नहीं छोड़ने चाहिएँ, किन्तु उक्त परमात्म-भाव की स्थिति ही में जगत्-रूपी अपने खेल की सुव्यवस्था के लिए अपने शरीर की योग्यता के कर्म स्वतन्त्रता-पूर्वक करके अपने वास्तविक आप = आत्मा अथवा परमात्मा को प्रसन्न करना चाहिए, आत्मा अथवा

जिससे मनुष्य प्रकृति अथवा माया के बन्धनों में बंध जाता है, और बिना इच्छा के भी ज़बरदस्ती कर्म करने में घसीटा जाता है। सब शरीरों का स्वामी—आत्मा अथवा परमात्मा प्रत्येक शरीर के अन्तःकरण में रहता हुआ प्रत्येक शरीर के स्वभाव के अनुसार उससे चेष्टाएँ करवाता रहता है। अतः जो प्राणी अपने को आत्मा से पृथक् केवल मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियाँ, और इन सबका समूह-रूप एक विशेष शरीर ही मानता है—अपने को शरीर का स्वामी, शरीर का प्रेरक = आत्मा नहीं मानता—वह सदा परतन्त्रता से कर्मों के चक्कर पर चढ़ा हुआ भ्रमता ही रहता है। यदि वह किसी विशेष प्रकार के कर्म से जी चुराता है तो दूसरे प्रकार के कर्म में उलझता है। यदि अपने स्वाभाविक कर्म को व्यवस्थित रूप से नहीं करता तो अव्यवस्थित रूप से उसे करना पड़ता है; किन्तु देहाभिमानी प्राणी के शरीर का स्वभाव कभी छूट नहीं सकता—किसी न किसी रूप में स्वभाव का पालन अवश्य करना पड़ता है। परन्तु जो मनुष्य अपने को मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और इन्द्रियों आदि के समूह-रूप शरीर का स्वामी = आत्मा समझता है, वह शरीर द्वारा सब प्रकार के स्वाभाविक कर्म स्वतन्त्रता से विधिवत् करता हुआ भी उनके आधीन नहीं होता, किन्तु कर्मों को अपना खेल समझता है, इस कारण उसे कर्मों का कोई बन्धन नहीं होता। इसलिए अपने को शरीरों का स्वामी = आत्मा समझ कर, सबके आत्मा = परमात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हुए, अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार को सबके एकत्व-भाव = ईश्वर में जोड़ कर इस संसार-रूपी खेल में अपने-अपने शरीर के स्वाभाविक कर्म सबको यथायोग्य अवश्य करना चाहिए, जिससे पूर्णतया शान्ति बनी रहे। पृथकता के व्यक्तित्व के अहंकार से अथवा देहाभिमान से शरीर के स्वाभाविक कर्म छोड़ने से कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती (५८ से ६२)। इस प्रकार मैंने तुझे यह गुह्य से भी गुह्य ज्ञान कहा है; इस पर पूर्ण रूप से अच्छी तरह विचार करके (फिर) तेरी जो इच्छा हो वह कर। तात्पर्य यह कि अध्याय २ श्लोक ११ से लेकर अध्याय १८ श्लोक ६२ तक भगवान् ने अनेक दार्शनिक विचारों, तात्त्विक युक्तियों एवं व्यवहार-विज्ञान के आधार पर कर्तव्या-कर्तव्य का जो विस्तृत विवेचन किया है, वह बहुत सूक्ष्म एवं गंभीर विचार का विषय है; इसलिए भगवान् कहते हैं कि इसको केवल सरसरी तौर से सुन कर अथवा पढ़ कर ही निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए, तथा मेरे "मेरे" वचन होने के कारण इनको अन्ध-श्रद्धा से ही स्वीकार नहीं मान लेना चाहिए, किन्तु आदि से लेकर अन्त तक इस उपदेश की प्रत्येक बात पर पूर्ण रूप से गहरा विचार करना चाहिए, और अच्छी तरह विचार करने के बाद फिर जिसको जो अच्छा लगे सो करे। इस कथन से स्पष्ट होता है कि गीता में अन्ध-श्रद्धा अथवा विचार-परतन्त्रता के लिए कुछ भी गुंजाइश

सारगर्भित एवं मार्मिक शब्दों में सारी गीता का निचोड़ कह कर इस उपदेश समाप्ति करते हैं। इन अन्तिम शब्दों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने पर इस वि कोई संदेह नहीं रह जाता कि गीता कोरा धार्मिक अथवा साम्प्रदा अथवा मत-मतान्तरों का ग्रन्थ नहीं है, जैसा कि बहुत-से लोग मानते हैं; भगवान् का यह दिव्य एवं महान् क्रान्तिकारी उपदेश मनुष्य-मात्र को सब प्रका पराधीनताओं, अन्धविश्वासों, मानसिक दुर्बलताओं एवं दासताओं के बन्धनों मुक्त करके पूर्ण निर्भय, निःशंक, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी एवं दृढ़-निश्चययुक्त कर्तव्य पथ बना कर सब प्रकार की उन्नति के शिखर पर चढ़ाने वाला कर्तव्य-शास्त्र है।

> सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
> इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

अर्थ—फिर भी (एक) सबसे अधिक गुह्य मेरा परम (रहस्यमय) वचन सुन, क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्यारा है, इसलिए मैं तेरे हित के निमित्त कहता हूँ। मुझमें मन वाला हो, अर्थात् मैं परमात्मा ही सब-कुछ हूँ, यह मन में दृढ़ निश्चय रख; मेरा भक्त हो, अर्थात् सबको एक ही परमात्मा-स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ प्रेम कर, मेरा यजन कर, अर्थात् अखिल विश्व को मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर जगत् की सुव्यवस्था के लिए अपने कर्तव्य-कर्म कर; मेरी वन्दना कर, अर्थात् मुझ परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक समझ कर सबको नमस्कार कर और सबके साथ नम्रता का व्यवहार कर; मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि (ऐसा करने से) तू मुझ (सबके आत्मा = परमात्मा) को प्राप्त होगा; तू मुझ (सर्वात्मा) को बहुत प्यारा है, अर्थात् मेरा ही व्यक्ति-भाव है। सब धर्मों का परित्याग यानी पूर्णतया त्याग करके तू एक मेरी शरणमें आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। तात्पर्य यह कि भेद-भाव के [illegible] धर्म-शास्त्रों के विधानानुसार अर्जुन को युद्ध करने से अपने जाति-धर्म और कुल-धर्म के नष्ट होने की इच्छा के पाप लगने का नरकों में गिरने का, तथा [illegible] के लिए [illegible] के लुप्त होने [illegible] का बड़ा भय तथा शोक हो [illegible] और अर्जुन की तरह इसी विचार

सारगर्भित एवं मार्मिक शब्दों में सारी गीता का निचोड़ कह कर इस उपदेश की समाप्ति करते हैं। इन अन्तिम शब्दों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने पर इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता कि गीता कोरा धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक अथवा मत-मतान्तरों का ग्रन्थ नहीं है, जैसा कि बहुत-से लोग मानते हैं; किन्तु भगवान् का यह दिव्य एवं महान् क्रान्तिकारी उपदेश मनुष्य-मात्र को सब प्रकार की पराधीनताओं, अन्धविश्वासों, मानसिक दुर्बलताओं एवं दासताओं के बन्धनों से मुक्त करके पूर्ण निर्भय, निःशंक, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी एवं दृढ़-निश्चययुक्त कर्तव्यपरायण बना कर सब प्रकार की उन्नति के शिखर पर चढ़ाने वाला कर्तव्य-शास्त्र है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

अर्थ—फिर भी (एक) सबसे अधिक गुह्य मेरा परम (रहस्यमय) वचन सुन, क्योंकि तू मुझे अत्यन्त प्यारा है, इसलिए मैं तेरे हित के निमित्त कहता हूँ। मुझमें मन वाला हो, अर्थात् मैं परमात्मा ही सब-कुछ हूँ, यह मन में दृढ़ निश्चय रख; मेरा भक्त हो, अर्थात् सबको एक ही परमात्मा-स्वरूप मेरे अनेक रूप समझ कर सबके साथ प्रेम कर; मेरा यजन कर, अर्थात् अखिल विश्व को मेरा व्यक्त स्वरूप समझ कर जगत् की सुव्यवस्था के लिए अपने कर्तव्य-कर्म कर; मेरी वन्दना कर, अर्थात् मुझ परमात्मा को सबमें एक समान व्यापक समझ कर सबको नमस्कार कर और सबके साथ नम्रता का व्यवहार कर; मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि (ऐसा करने से) तू मुझ (सबके आत्मा = परमात्मा) को प्राप्त होगा; तू मुझ (सर्वात्मा) को बहुत प्यारा है, अर्थात् मेरा ही व्यक्ति-भाव है। सब धर्मों का परित्याग यानी पूर्णतया त्याग करके तू एक मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर। तात्पर्य यह कि ... [illegible] ... अर्जुन को युद्ध करने से ... [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ... अर्जुन को यह इस विषय ...

सबके साथ जोड़ देना चाहिए। इस प्रकार पृथक्ता के भावों से ऊपर उठ कर सबकी एकता के दृढ़ निश्चय-युक्त सबके साथ यथायोग्य प्रेम† का बर्ताव करने से तथा अपने-अपने स्वाभाविक धर्म का आचरण करने से अर्थात् अपने-अपने शरीरों की योग्यता के कर्तव्य-कर्म करते रहने से सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाकर मनुष्य परमात्म-स्वरूप हो जाता है (६४-६६)।

स्पष्टीकरण—सबके आत्मा = परमात्मा के पूर्ण कला के अवतार, व्यावहारिक वेदान्त के मूर्तिमान् स्वरूप, पूर्ण समन्वयोगी भगवान् श्रीकृष्ण का दिया हुआ गीता का सार्वजनिक, सर्वहितकर, कल्याणकारी निष्पक्ष, निःशङ्क एवं स्पष्ट उपदेश यहाँ पर समाप्त होता है। भगवान् के इस उपदेश के अन्तिम तीन श्लोक अत्यन्त ही मार्मिक रहस्य से भरे हुए हैं। अतएव प्रत्येक पाठक-पाठिका को इन तीन श्लोकों के *"गुह्यतम परम रहस्य"* मय भाव पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

अर्जुन अपने स्वजन-बान्धवों के मारे जाने की आशङ्का से प्रेम और दया से दुःखीभूत होकर अपने कर्तव्य-कर्म—युद्ध से खिन्न हो गया था और राज-पाट आदि सब-कुछ छोड़-छाड़ कर संन्यास लेकर भीख पर निर्वाह करने को तैयार हो गया था, और अहिंसात्मक सत्याग्रह करने का प्रस्ताव उसने भगवान् के सामने उपस्थित किया था। इस पर भगवान् ने उसे आत्मज्ञान का उपदेश देकर, जगत् और समाज की सुव्यवस्था-रूप लोक-संग्रह के लिए सर्व-भूतात्मैक्य-साम्य-भाव से अपने कर्तव्य-कर्म करने का उपदेश दिया। इस अठारहवें अध्याय में अर्जुन द्वारा की हुई सब शङ्काओं का विशेष संक्षेपतया समाधान करते हुए, संन्यास और त्याग का तत्त्व समझाया और हिंसा तथा अहिंसा, कर्मों के अपच्छेदन और छेदन एवं धर्म और अधर्म आदि का विवेचन करके अपनी-अपनी योग्यता के कर्तव्य-कर्म करने की आवश्यकता और उसकी विधि का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया, और साथ ही यह भी कहा कि इस संसार में कोई भी मनुष्य अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहङ्कार से अपने स्वाभाविक कर्म छोड़ नहीं सकता। यदि कोई कर्म-त्याग का मिथ्या अहङ्कार करता है तो उसके पूर्व-भाव = प्रकृति अथवा ईश्वर के आधीन होकर उसे ज़बरदस्ती अपने स्वाभाविक कर्म करने पड़ते हैं। अन्त में ६३ वें श्लोक में यह भी कहा है कि, "मैंने जो कुछ कहा है, *उस पर अच्छी तरह विचार करके फिर तुझे जो अच्छा लगे सो कर।"*

प्रेम, सत्य, दया, अहिंसा, क्षमा, त्याग, वैराग्य, संयम, सन्तोष, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, बन्धन, मोक्ष आदि का किस तरह का अर्थ अन्य और मैं

† प्रेम का स्पष्टीकरण [illegible] अध्याय में देखिए

वही अधिक जीवित रहता है। जो लोग इस तथ्य की उपेक्षा करके केवल भेद-वाद की धार्मिक भावनाओं के अनुसार पृथक्ता के भाव से उपरोक्त सात्त्विक आचरण करने का प्रयत्न करते हैं, वे उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति उनके प्रतिकूल होकर उनका पतन कर देती है। इसलिए मनुष्य की सच्ची मनुष्यता इसी में है कि वह भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की अव्यावहारिक भावनाओं की उलझन से निकल कर एवं तीन गुणों के उपरोक्त रहस्य को जान कर सबकी एकता के दृढ़ निश्चय से उन सात्त्विक आचरणों का यथायोग्य उपयोग करे। इसीसे मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति एवं शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है। इसलिए भगवान् अपने इस उपदेश के अन्त में इस बात को विशेष ज़ोर के साथ कहते हैं कि "पृथक्ता को दृढ़ करने वाले सब भेद-वाद के धर्मों को कतई छोड़ कर सबकी एकता-स्वरूप मेरी शरण में आ; सबकी एकता-स्वरूप मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, सोच मत कर।"

भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की कट्टरता के कारण संसार में बहुत ही अनर्थ हुए और हो रहे हैं। भारतवर्ष दीर्घकाल से भेदवाद के साम्प्रदायिक धर्मों का प्रधान अड्डा हो रहा है, इसलिए इस देश की बड़ी दुर्दशा हुई है। इस देश की अधोगति का यदि कोई प्रधान कारण है, तो वह नाना प्रकार के साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मज़हबों का अन्ध-विश्वास ही है। यहाँ के लोग इन साम्प्रदायिक धर्मों की उलझन में इतने फँसे हुए हैं कि संसार के सारे व्यवहारों पर धर्म ही को प्रधानता देते हैं और "धर्मभीरु" होना बड़े गौरव की बात समझते हैं। परिणाम यह हुआ कि यहाँ की साधारण जनता वास्तव में ही "भीरु" हो गई और प्रत्येक काम में कल्पित धरम कामों का वहम करने और डरने लगी—यहाँ तक कि स्वतन्त्र विचार करने की हिम्मत भी इसमें नहीं रही। "यतो धर्मस्ततो जयः" तथा "धर्मो रक्षति रक्षितः" के नारे दिन-रात लगते रहने पर भी, हज़ारों साम्प्रदायिक धर्मों में से किसी ने इस देश की सहायता नहीं की और यह देश पराधीन एवं पीछे पड़ा हुआ, तरह-तरह के अत्याचारों का शिकार हो रहा है। इसलिए भारतवासियों को भगवान का यह अन्तिम उपदेश अच्छी तरह हृदय में धारण करना चाहिए और अनेकता को बढ़ाने वाले इन भेद-वाद के सब धर्मों को छोड़ कर सबकी एकता-स्वरूप भगवान की शरण में आने के लिए सब [illegible] करना चाहिए [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

वही अधिक जीवित रहता है। जो लोग इस तथ्य की उपेक्षा करके केवल भेद-वाद की धार्मिक भावनाओं के अनुसार पृथक्ता के भाव से उपरोक्त सात्विक आचरण करने का प्रयत्न करते हैं, वे उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति उनके प्रतिकूल होकर उनका पतन कर देती है। इसलिए मनुष्य की सच्ची मनुष्यता इसी में है कि वह भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की अव्यावहारिक भावनाओं की उलझन से निकल कर एवं तीन गुणों के उपरोक्त रहस्य को जान कर सबकी एकता के दृढ़ निश्चय से उन सात्विक आचरणों का यथायोग्य उपयोग करे। इसीसे मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति एवं शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है। इसलिए भगवान् अपने इस उपदेश के अन्त में इस बात को विशेष ज़ोर के साथ कहते हैं कि "पृथक्ता को दृढ़ करने वाले सब भेद-वाद के धर्मों को कतई छोड़ कर सबकी एकता-स्वरूप मेरी शरण में आ; सबकी एकता-स्वरूप मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, सोच मत कर।"

भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की कट्टरता के कारण संसार में बहुत ही अनर्थ हुए और हो रहे हैं। भारतवर्ष दीर्घकाल से भेदवाद के साम्प्रदायिक धर्मों का प्रधान अड्डा हो रहा है, इसलिए इस देश की बड़ी दुर्दशा हुई है। इस देश की अधोगति का यदि कोई प्रधान कारण है, तो वह नाना प्रकार के साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मज़हबों का अन्ध-विश्वास ही है। यहाँ के लोग इन साम्प्रदायिक धर्मों की उलझन में इतने फँसे हुए हैं कि संसार के सारे व्यवहारों पर धर्म ही को प्रधानता देते हैं और "धर्मभीरु" होना बड़े गौरव की बात समझते हैं। परिणाम यह हुआ कि यहाँ की साधारण जनता वास्तव में ही "भीरु" हो गई और प्रत्येक काम में कल्पित धरम बातों का वहम करने और डरने लगी—यहाँ तक कि स्वतन्त्र विचार करने की हिम्मत भी इसमें नहीं रही। "धर्मो धर्मस्त्वतां वदः" तथा "धर्मो रक्षति रक्षितः" के नारे दिन-रात लगाते रहने पर भी, हज़ारों साम्प्रदायिक धर्मों में से किसी ने इस देश की संरक्षा नहीं की और यह देश पराधीन एवं पीछे पड़ा हुआ, तरह-तरह के अत्याचारों का शिकार हो रहा है। इसलिए भारतवासियों को भगवान् का यह अन्तिम उपदेश अच्छी तरह हृदय में धारण करना चाहिए और अनेकता को बढ़ाने वाले सब धर्मों को छोड़ कर सबकी एकता स्वरूप भगवान् की शरण में आने का निश्चय धारण करना चाहिए, अर्थात् आपस का फूट मिटाकर एवं [illegible] एकता करके, विद्या, बुद्धि और बल (संगठन) को बढ़ाना और सुसंगठित होना चाहिए। ऐसा करने [illegible] हो सकता है

[illegible]

जा रहा है। यह भी एक प्रकार की धार्मिक भावना ही है; परन्तु यह सिद्धान्त सर्वथा सही है। अर्जुन को भी "अहिंसात्मक सत्याग्रह" की ही सूझी थी; इसलिए पहले अध्याय के ४६ वें श्लोक में उसने प्रस्ताव किया है कि "यदि मैं प्रतीकार से रहित होकर शस्त्र छोड़ दूँ और कौरव मुझे युद्ध में मार दें तो बहुत श्रेयस्कर होगा।" इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे बहुत फटकारा और इस प्रस्ताव को श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य नपुंसकता और क्षुद्र हृदय की दुर्बलता (कायरता) कह कर इसका खण्डन कर दिया और वीरता-पूर्वक युद्ध करने की स्पष्ट आज्ञा दी। वास्तव में इस संसार में सब-कुछ एक दूसरे के आश्रित यानी भोक्ता-भोग्य होने के कारण अहिंसा का जैसा अर्थ वर्तमान में लगाया जाता है, उस तरह सर्वथा अहिंसात्मक कोई भी नहीं हो सकता। संसार में वे ही व्यक्ति अथवा समाज सुखपूर्वक जीवित रह सकते हैं, जिनमें पारस्परिक एकता हो और जो बुद्धिमान्, विद्वान् और बलवान् (वीर) हों। गीता के अन्तिम श्लोक में भी यही बात कही है कि "जहाँ सबकी एकता-स्वरूप योगेश्वर कृष्ण हैं, और जहाँ बुद्धि सहित शक्ति-स्वरूप धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ ही लक्ष्मी, विजय, वैभव और अटल नीति है।" यदि हम लोगों में ये गुण हैं तो हमको इनका सम्पादन करना चाहिए; क्योंकि इनके बिना हमारा सच्चा और स्थायी उद्धार कभी नहीं हो सकता।

गीता पर जितनी टीकाएँ हैं, वे प्रायः किसी न किसी प्रकार की साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक (मज़हबी) अथवा मत-मतान्तरों की भावनाओं को लिये हुए हैं। इसलिए ६६ वें श्लोक के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' वाक्य को किसी ने भी समुचित महत्त्व नहीं दिया गया है। सभी टीकाकारों ने खींचा-तानी करके अपने अपने साम्प्रदायिक धर्मों एवं मतों को भगवान् के इस क्रान्तिकारी महावाक्य से बचाने की कोशिश की है; और 'मामेकं शरणं व्रज' वाक्य का, (जगत् से अलग) एक ईश्वर के शरण होने का अर्थ करके गीता का भक्ति-प्रधान उपसंहार माना है। परन्तु, जैसा कि गीता में सर्वत्र कहा गया है, यह एक व्यावहारिक वेदान्त का कर्तव्य-शास्त्र है, और इसमें सर्वभूतात्मैक्य-साम्य-भाव से जगत् के व्यवहार करने का प्रतिपादन है; और जब कि इसके अन्त में भगवान् यह ज़ोरदार भूमिका बाँध कर कि "सबसे गुह्यतम मेरे परम रहस्यमय वचन फिर से सुन, तू मेरा अत्यन्त प्यारा है, इसलिए तेरे हित के लिए मैं कहता हूँ," फिर उसके बाद "सर्वधर्मान् परित्यज्य" का उपदेश देते हैं, तो इसी से इन वाक्यों का महत्त्व अच्छी तरह स्पष्ट होता है, और 'धर्मान्' के पहले 'सर्व' शब्द और 'त्यज्य' के पहले 'परि' उपसर्ग, इनके महत्त्व को और भी अधिक पुष्ट और दृढ़ करते हैं। तात्पर्य यह कि

नहीं अधिक जीवित रहता है। जो लोग इस तथ्य की उपेक्षा करके केवल भेद-वाद की धार्मिक भावनाओं के अनुसार पृथक्ता के भाव से उपरोक्त सात्त्विक आचरण करने का प्रयत्न करते हैं, वे उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति उनके प्रतिकूल होकर उनका पतन कर देती है। इसलिए मनुष्य की सच्ची मनुष्यता इसी में है कि वह भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की अव्यावहारिक भावनाओं की उलझन से निकल कर एवं तीन गुणों के उपरोक्त रहस्य को जान कर सबकी एकता के दृढ़ निश्चय से उन सात्त्विक भावनाओं का यथायोग्य उपयोग करे। इसीसे मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति एवं शान्ति, पुष्टि और तुष्टि की प्राप्ति होती है। इसलिए भगवान् अपने इस उपदेश के अन्त में इस बात को विशेष ज़ोर के साथ कहते हैं कि "पृथक्ता को दृढ़ करने वाले सब भेद-वाद के धर्मों को कतई छोड़ कर सबकी एकता-स्वरूप मेरी शरण में आ; सबकी एकता-स्वरूप मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा, शोक मत कर।"

भेद-वाद के साम्प्रदायिक धर्मों की कट्टरता के कारण संसार में बहुत ही अनर्थ हुए और हो रहे हैं। भारतवर्ष दीर्घकाल से भेदवाद के साम्प्रदायिक धर्मों का प्रधान अड्डा हो रहा है, इसलिए इस देश की बड़ी दुर्दशा हुई है। इस देश की अधोगति का यदि कोई प्रधान कारण है, तो वह नाना प्रकार के साम्प्रदायिक धर्मों अथवा मज़हबों का अन्ध-विश्वास ही है। यहाँ के लोग इन साम्प्रदायिक धर्मों की उलझन में इतने फँसे हुए हैं कि संसार के सारे व्यवहारों पर धर्म ही को प्रधानता देते हैं और "धर्मभीरु" होना बड़े गौरव की बात समझते हैं। परिणाम यह हुआ कि यहाँ की साधारण जनता वास्तव में ही "भीरु" हो गई और प्रत्येक काम में कल्पित अदृश्य बातों का वहम करने और डरने लगी—यहाँ तक कि स्वतन्त्र विचार करने की हिम्मत भी इसमें नहीं रही। "यतो धर्मस्ततो जयः" तथा "धर्मो रक्षति रक्षितः" के नारे दिन-रात लगते रहने पर भी, हज़ारों साम्प्रदायिक धर्मों में से किसी ने इस देश की सहायता नहीं की और यह देश पराधीन एवं पीछे पड़ा हुआ, तरह-तरह के अत्याचारों का शिकार हो रहा है। इसलिए भारतवासियों को भगवान् का यह अन्तिम उपदेश अच्छी तरह हृदय से धारण करना चाहिए और अनेकता को बढ़ाने तथा दृढ़ करने वाले सब धर्मों को छोड़ कर सबकी एकता स्वरूप भगवान् की शरण में आने का विश्व-धर्म धारण करना चाहिए, अर्थात् आपस का फूट मिटाकर पूर्ण रूप से एकता करके, विद्या, बुद्धि और बल (शक्ति) को बढ़ाना और सुसंगठित होना चाहिए। ऐसा करने से ही देश का उद्धार हो सकता है।

वर्तमान समय में "अहिंसात्मक सत्याग्रह" के सिद्धान्त पर बड़ा ज़ोर दिया

आ रहा है। यह भी एक प्रकार की धार्मिक भावना ही है; परन्तु यह सिद्धान्त नवीन नहीं है। अर्जुन को भी "हिंसात्मक सत्याग्रह" की ही सूझी थी; इसीलिए पहले अध्याय के ४५ वें श्लोक में उसने प्रस्ताव किया है कि "यदि मैं प्रतीकार से रहित होकर शस्त्र छोड़ दूँ और कौरव मुझे युद्ध में मार दें तो बहुत श्रेयस्कर होगा।" इस पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे बहुत फटकारा और इस प्रस्ताव को श्रेष्ठ पुरुषों के अयोग्य नपुंसकता, और तुच्छ हृदय की दुर्बलता (कायरता) कह कर इसका खण्डन कर दिया और वीरता-पूर्वक युद्ध करने की स्पष्ट आज्ञा दी। वास्तव में इस संसार में सब-कुछ एक दूसरे के आश्रित यानी भोक्ता-भोग्य होने के कारण अहिंसा का जैसा अर्थ वर्तमान में लगाया जाता है, उस तरह सर्वथा अहिंसात्मक कोई भी नहीं हो सकता। संसार में वे ही व्यक्ति अथवा समाज सुखपूर्वक जीवित रह सकते हैं, जिनमें पारस्परिक एकता हो और जो बुद्धिमान्, विद्वान् और बलवान् (वीर) हों। गीता के अन्तिम श्लोक में भी यही बात कही है कि "जहाँ सबकी एकता-स्वरूप योगेश्वर कृष्ण हैं, और जहाँ युक्ति सहित शक्ति-स्वरूप धनुर्धारी अर्जुन है, वहाँ ही लक्ष्मी, विजय, वैभव और अटल नीति है।" यदि हम लोगों में ये गुण हैं तो हमको इनका सम्पादन करना चाहिए, क्योंकि इनके बिना हमारा सच्चा और स्थायी उद्धार कभी नहीं हो सकता।

गीता पर जितनी टीकाएँ हैं, वे प्रायः किसी न किसी प्रकार की साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक (मज़हबी) अथवा मत-मतान्तरों की भावनाओं को लिये हुए हैं। इसलिए ६६ वें श्लोक के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' शब्द को किसी ने भी समुचित महत्त्व नहीं दिया गया है। सभी टीकाकारों ने खींचा-तानी करके अपने अपने साम्प्रदायिक धर्मों एवं मतों की मान्यता के इस क्रान्तिकारी महा-वाक्य से बचाने की कोशिश की है, और 'मामेकं शरणं व्रज' शब्द का, (... के ...) एक ईश्वर के शरण होने का अर्थ करके गीता का [illegible]

ओम् तत् सत्

सेठ रामगोपाल जी मोहता

की

लिखी हुई गीता-सम्बन्धी

दूसरी पुस्तक

"गीता-विज्ञान"

पृष्ठ संख्या—८४

छपाई व कागज़—अति सुन्दर

दाम डाक-व्यय सहित—सिर्फ =)॥

दूसरा परिवर्धित और संशोधित संस्करण १०,०००

पहला संस्करण हरद्वार के कुम्भ के अवसर पर ८ हज़ार छापा गया था। उसके हाथों-हाथ समाप्त हो जाने के बाद यह दूसरा संस्करण 10 हज़ार छापा गया है। पिता-पुत्र के संवाद-रूप में गीता के अनुसार संसार के व्यवहार करने का बहुत संक्षिप्त, सरल और सुन्दर खुलासा हृदयग्राही ढंग से इस छोटी-सी पुस्तिका में किया गया है। विद्यार्थियों, नवयुवकों और साधारण पढ़े-लिखे लोगों के लिए यह पुस्तिका गीता का वास्तविक रहस्य समझने के लिए पूरी तरह सहायक हो सकती है। जब कि युवकों में नास्तिकवाद की प्रवृत्ति बढ़कर धर्म-कर्म और शास्त्रों पर से उनका विश्वास उठता चला जा रहा है, तब ऐसी छोटी-छोटी पुस्तकों की विशेष ज़रूरत है। यह छोटी-सी पुस्तक युवकों में श्रद्धा, सच्ची आस्तिकता और आत्म-विश्वास की भावना फूंकने और उनका चरित्र-निर्माण करने में विशेष रूप से सहायक हो सकती है।

पुस्तक को छोटे-छोटे २१ भागों में ढंग से वर्णित विषयों के अनुसार बाँटा गया है इससे यह और भी सरल, सुन्दर और हृदयग्राही बन गई है।